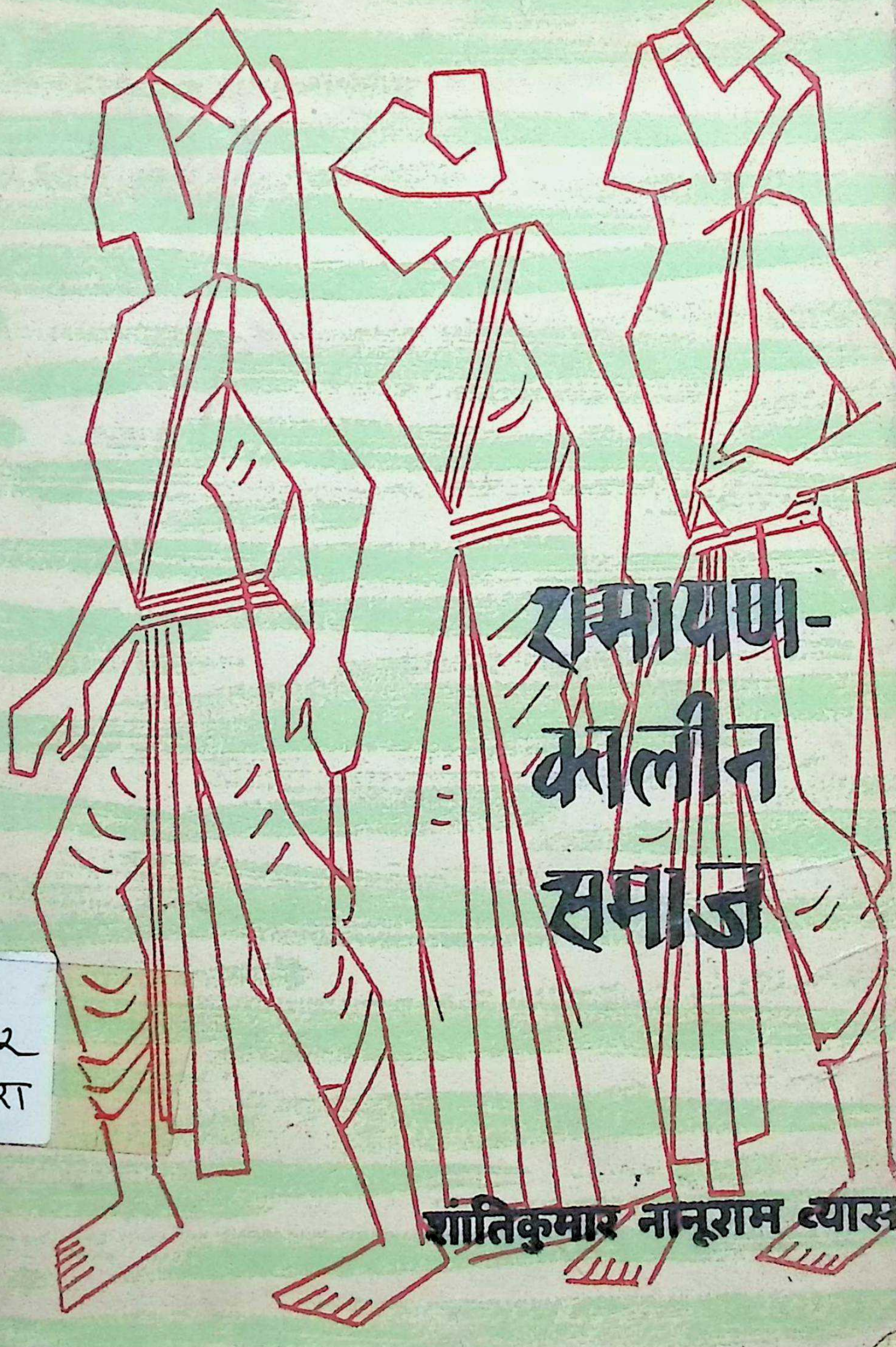

रामायण-कालीन समाज

शांतिकुमार नानूराम व्यास

५१२२
१६रा

पुस्तक-परिचय

इस पुस्तक में वाल्मीकि-रामायण में वर्णित भारतीय समाज की अवस्था का विशद विवेचन किया गया है। इसे पढ़कर उस समय के समाज का बड़ा ही यथार्थ चित्र आंखों के सामने आ जाता है। राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों का भी परिचय हो जाता है।

पुस्तक विद्वान तथा सामान्य, दोनों वर्गों के पाठकों के लिए उपयोगी है, क्योंकि इसमें दुर्बोध अथवा शुष्क सामग्री का समावेश न करके जीवन के स्पन्दनशील कणों को एकत्र किया गया है।

इसके पठन-पाठन से पाठकों के ज्ञान, रस एवं रुचि में वृद्धि होती है।

छः रुपये

रामायण-कालीन समाज

वाल्मीकि-रामायण में वर्णित सामाजिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक
व्यवस्था का अध्ययन

शांतिकुमार नान्नूराम व्यास

१९६४
सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

दूसरी बार : १९६४
मूल्य
छः रुपये

मुद्रक
दि प्रिंट्समैन,
नई दिल्ली-५

अग्रज

श्री मदनमोहन व्यास

(१९१६-१९४१)

की

पुण्य स्मृति में

प्रकाशकीय

हमारे प्राचीन साहित्य के दो अत्यंत लोकप्रिय ग्रंथ महाभारत और रामायण हैं। देश का शायद ही कोई ऐसा सुशिक्षित परिवार होगा, जिसने इन दोनों ग्रंथों का नाम न सुना हो तथा इनकी कहानी न पढ़ी हो, यहां तक कि अशिक्षित व्यक्तियों के घरों में भी इनका नाम पहुंचा है। इन दोनों ग्रंथों में रामायण को विशेष लोकप्रियता प्राप्त है।

हिंदी-जगत् दो रामायणों से परिचित है—एक वाल्मीकि-कृत, जो संस्कृत में है; दूसरी गोस्वामी तुलसीदास-कृत, जो अवधी में है। दोनों के चरित-नायक एक हैं, पर उनके विवरणों में जहां-तहां अन्तर है।

संस्कृत में होने के कारण वाल्मीकि-रामायण से कम ही लोग परिचित हैं। उसकी भाषा, शैली तथा घटनाएं बड़ी ही सजीव हैं। ज्ञान की तो वह खान है। उसमें जितना गहरा प्रवेश किया जाता है, उतने ही मूल्यवान् रत्न प्राप्त होते हैं।

हमें हर्ष है कि लेखक ने वाल्मीकि-रामायण का बड़ी बारीकी से अध्ययन करके उस युग की सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों की विशद जानकारी पाठकों को दो पुस्तकों में दी है। इस पुस्तक में उन्होंने उन विषयों को लिया है, जो तत्कालीन सामाजिक,आर्थिक एवं प्रशासनिक परिस्थितियों से संबंधित हैं। हमें विश्वास है कि रामायण की कथा से सुपरिचित पाठकों के लिए भी यह विवेचन नवीन और रोचक सिद्ध होगा, और उन्हें यह अनुभव होगा कि रामायण हमारे सामाजिक एवं राजनीतिक इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है।

इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी उपयोगिता विद्वद्वर्ग तक ही सीमित नहीं है, अपितु इससे सामान्य पाठक भी लाभ उठा सकते हैं, कारण कि इसमें दुर्बोध अथवा शुष्क सैद्धांतिक सामग्री का समावेश न करके लेखक ने जीवन के स्पंदनशील कणों को एकत्र किया है।

पुस्तक का यह दूसरा संस्करण है। लेखक ने भाषा आदि को अच्छी तरह परिमार्जित कर दिया है।

हमें विश्वास है कि यह पुस्तक वाल्मीकि-रामायण को समझने तथा उसे लोकप्रिय बनाने में सहायक होगी और पहले संस्करण की भांति इसका भी सर्वत्र स्वागत होगा।

—मंत्री

प्राक्कथन

सन् १९४५ में मेरे प्राध्यापक स्वर्गीय पंडित चंद्रशेखर पांडेय (तत्कालीन अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, सनातन धर्म कालेज, कानपुर) ने मुझे वाल्मीकि-रामायण का सामाजिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन करने का परामर्श दिया था। तब से मेरा प्रायः समस्त अवकाश का समय इस आदि-काव्य के मनन-मंथन में ही बीता है। उक्त विषय पर १९४९ में मैंने आगरा विश्वविद्यालय की 'पी-एच० डी०' उपाधि के लिए अंग्रेजी में एक शोध-प्रबंध लिखा और बाद में रामायण के एक सहस्र श्लोकों में राम-कथा का संक्षेप तैयार किया। हिंदी-अंग्रेजी की पत्र-पत्रिकाओं में मेरे रामायण-विषयक शताधिक लेख प्रकाशित हुए, जो बहुत लोक-प्रिय सिद्ध हुए और अनेक हितैषियों का यह आग्रह रहा कि मैं अपने अध्ययन को विस्तृत एवं सुसंबद्ध कर हिंदी में पुस्तकाकार प्रस्तुत करूं। इस कार्य में कुछ वर्ष और लग गए और अब मेरा यह समग्र अध्ययन 'रामायणकालीन समाज' और 'रामायणकालीन संस्कृति' नामक दो स्वतंत्र पुस्तकों के रूप में 'सस्ता साहित्य मंडल' द्वारा एक साथ प्रकाशित होकर रामायण-प्रेमियों के समक्ष उपस्थित है। लेकिन अब भी मैं यह विश्वास-पूर्वक नहीं कह सकता कि मैंने वाल्मीकि की समस्त सांस्कृतिक सामग्री को ढूंढ़ और समझ लिया है। सच तो यह है कि जितना ही अधिक मैंने रामायण का परिशीलन किया, इस चिर-पुराण कथा का लौकिक दृष्टि से विश्लेषण किया, नवीन से नवीनतर तथ्य प्रकाश में आते गए और मुझे यह अनुभव होने लगा कि उनका ओर-छोर पाने के लिए एक मनुष्य-जीवन की अवधि पर्याप्त नहीं है। अतएव मैं तो इतना ही कहने का अधिकारी हूं कि इन पुस्तकों में मैंने एक उपेक्षित विषय की आंशिक पूर्ति करने का प्रयास किया है। वेदों, उपनिषदों, कतिपय पुराणों, महाभारत तथा लौकिक संस्कृत साहित्य के कुछ ग्रंथों की सामाजिक-सांस्कृतिक सामग्री का तो न्यूनाधिक अध्ययन मनीषियों ने किया है, पर इस खोज-कार्य में रामायण की उपेक्षा एक खाई बनी हुई थी, जिसे पाटने की ओर उनका बहुत कम ध्यान आकर्षित हुआ। यदि मेरा श्रम आदि-काव्य के एक नवीन और रोचक पक्ष का उद्घाटन करने में तथा वाल्मीकि के प्रति

पाठकों की अभिरुचि जगाने में सफल हो सका, तो मैं अपने को कृतकार्य समझूंगा।

इस पुस्तक की सीमाओं तथा इसमें अपनाये गए दृष्टिकोण के बारे में कुछ कहना आवश्यक है। इसमें तटस्थ दृष्टि से प्राचीन भारतीय समाज का वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है, जैसा स्वयं वाल्मीकि ने अपनी रामायण में अंकित किया है। वाल्मीकि-रामायण में पाई जानेवाली सामाजिक महत्त्व की सामग्री को व्यवस्थित एवं सुसंबद्ध रूप में उपस्थित कर देना ही इस अध्ययन का उद्देश्य है। इसे वाल्मीकि के ही तथ्यों पर आश्रित तथा किसी पूर्वाग्रह उपदेश-वृत्ति या निरे सैद्धांतिक ऊहापोह से मुक्त रखने का यत्न किया गया है। पाठक के सामने एक युग-विशेष के समाज से संबंधित प्रचुर सामग्री प्रस्तुत कर दी गई है, जिसके आधार पर वह यथेच्छ सम्मति निर्धारित करने में स्वतंत्र है।

संदर्भ या उद्धरणों के संख्या-निर्देश में पहला अंक कांड की संख्या का दूसरा सर्ग की तथा तीसरा श्लोक की संख्या का सूचक है, जैसे २।७३।५१ का अर्थ हुआ अयोध्याकांड के ७३वें सर्ग का ५१वां श्लोक।

रामायण की प्रचलित प्रतियों में प्रक्षिप्त-अक्षिप्त अंशों के घुले-मिले रहने के कारण आलोचनात्मक अध्ययन में बड़ी बाधा पहुंचती है तथा यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि अमुक तथ्य प्राचीन और प्रामाणिक भी है अथवा नहीं। कुछ विद्वानों ने रामायण के कतिपय प्रक्षिप्त स्थलों का अवश्य निर्देश किया है, पर मतैक्य के अभाव में उनके सारे निष्कर्षों को कैसे स्वीकार किया जाय? इसके लिए आवश्यकता है रामायण के एक सार्वदेशिक, प्रामाणिक एवं समीक्षित (क्रिटिकल) संस्करण की, जिसमें सभी पाठों का तुलनात्मक अध्ययन कर प्रक्षिप्त स्थलों का बहिष्कार कर दिया गया हो। कहना न होगा कि यह कार्य इस पुस्तक के क्षेत्र से बाहर है और वर्षों के व्यय-साध्य सामूहिक उद्योग की अपेक्षा रखता है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत अध्ययन का आधार रामायण का बंबई संस्करण[1] रखा गया है, जो देश में सर्वाधिक प्रचलित है और जिसमें आदि-काव्य का प्राचीनतम रूप सुरक्षित है।[2] फिर भी, डा० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री के सुझाव पर यह प्रयास किया गया है कि रामायण के प्रसिद्ध प्रक्षिप्त अंशों का उपयोग न किया जाय। साधारणतः बालकांड का आख्यान-भाग तथा समस्त उत्तरकांड जिनको आधुनिक विद्वानों ने प्रायः

१. गुजराती प्रेस, बंबई द्वारा सात जिल्दों में प्रकाशित (१९१२-२०)
२. ए० ए० मैक्डानल—'ए हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर', पृ० ३०३

सर्वसम्मति से प्रक्षेप माना है, अधिकतर बहिष्कृत रखे गये हैं। टीकाकारों द्वारा निर्दिष्ट प्रक्षिप्त स्थल भी छोड़ दिये गए हैं। जहाँ कहीं तुलनात्मक विवेचन के लिए अथवा महत्त्व या रोचकता की दृष्टि से इन प्रक्षिप्त स्थलों की सामग्री का उपयोग किया गया है, वहां स्पष्ट संकेत कर दिया गया है।

रामायण के रचना-काल, उसकी ऐतिहासिकता, उसके कर्ता, प्रक्षेप, संस्करण, पाठ-भेद आदि का विवेचन इस पुस्तक के मुख्य विषय से संबद्ध नहीं है, इसलिए विस्तार में न जाकर आरंभ में इनकी संक्षिप्त चर्चा भर की गई है।

संभव है, पुस्तक में आगे चलकर रामायण की कुछ घटनाओं की पुनरुक्ति दिखाई दे। एक विश्लेषात्मक कृति में कुछ पुनरुक्तियां तो अपरिहार्य हैं, क्योंकि कई बार एक ही तथ्य या घटना की विभिन्न प्रसंगों में विविध दृष्टिकोण से व्याख्या आवश्यक हो जाती है। राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को सामाजिक गतिविधि का ही अंग मानकर उनका भी इस पुस्तक में समावेश कर लिया गया है।

इस पुस्तक के रेखा-चित्रों में चित्र १ भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'इंडियन आर्ट थ्रू द एजेस' के एक छवि-चित्र की रेखानुकृति है। चित्र २ का आधार पत्र सूचना विभाग, नई दिल्ली, से प्राप्त एक छवि-चित्र है। चित्र ३ श्री सी० शिवराममूर्ति कृत 'संस्कृत लिटरेचर एंड आर्ट, मिरर्स आव इंडियन कल्चर' के चित्र १२ की अनुकृति है (कॉपीराइट, पुरातत्त्व विभाग, भारत सरकार)। चित्र ४ से ११ श्री अवनींद्रनाथ ठाकुर की 'सम नोट्स ऑन इंडियन एनाटॉमी' पर आधारित हैं। चित्र १२ श्री सी० शिवराममूर्ति की 'अमरावती स्कल्पचर्स इन मद्रास म्यूजियम' से लिया गया है (कॉपीराइट, राजकीय संग्रहालय, मद्रास)। लेखक इन सबके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है।

राम नवमी, सं० २०१५

द्वितीय संस्करण

प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम संस्करण दो वर्ष में ही समाप्त हो गया था। कुछ दुर्निवार परिस्थितियों से मुक्त होने के बाद द्वितीय संस्करण अब छपा है। 'मण्डल' के साथ-साथ मैं गुणग्राही पाठकों का भी कृतज्ञ हूं।

जे १०५, साउथ ऐक्सटेंशन १, नई दिल्ली ३

कार्तिक शु० ११, सं २०२० —शांतिकुमार नानूराम व्यास

विषय-सूची

१. वाल्मीकि और उनका काव्य	१
२. आर्य और अनार्य	१४
३. राक्षस	२३
४. वानर	५२
५. वर्ण	७३
६. आश्रम	९१
७. परिवार	९६
८. विवाह	१०७
९. प्रेम	१३२
१०. नारी—घर में	१४६
११. नारी—समाज में	१८४
१२. आर्थिक जीवन	२०९
१३. प्रशासन	२४८
१४. युद्ध	२८३
संदर्भ-ग्रंथ	३०१
चित्र—वाल्मीकि-कालीन भारत	
परिशिष्ट—वाल्मीकि-कालीन स्थान-परिचय	३०३
अनुक्रमणिका	३०९

रामायणकालीन समाज

: १ :

वाल्मीकि और उनका काव्य

वाल्मीकि-रामायण भारत का राष्ट्रीय आदि-काव्य है। धार्मिक एवं नैतिक आदर्शों का भंडार होने के साथ-साथ वह एक महत्त्वपूर्ण मानवीय समाज-शास्त्र भी है, जो सहस्रों शताब्दियों पूर्व के भारतीयों के जीवन-यापन का रोचक वृत्तांत उपस्थित करता है। एक पुरातन युग की जीवित परंपराओं, धारणाओं, चिंताओं, आकांक्षाओं और भावनाओं का चित्रण करने के कारण वह प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति की एक बहुमूल्य निधि है। उसकी उपमा एक ऐसे पर्वत से दी जा सकती है, जिसकी चोटी से हम प्राचीन आर्यों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं कला-संबंधी क्रिया-कलाप का सम्यक् दर्शन कर सकते हैं। तत्कालीन भारतीय समाज के अनेक अस्पष्ट पक्षों पर वाल्मीकि के काव्य से जैसा प्रकाश पड़ता है, वैसा अन्य किसी स्रोत से नहीं। उत्तर-वैदिक भारत के सामाजिक इतिहास की शोध में रामायण का योग और भी महत्त्वपूर्ण इसलिए हो जाता है कि वह आज भी करोड़ों भारतीयों के धार्मिक विश्वासों के साथ अविच्छिन्न रूप से गुंथी हुई है। वाल्मीकि हमारे राष्ट्रीय आदर्शों के आदि-विधाता हैं; धर्म और सत्य-रूपी महा-वृक्षों के जो अमर बीज उन्होंने बोये, वे आज भी फल-फूल रहे हैं।

किंतु आश्चर्य की बात है कि रामायण के प्रति जन-मानस का यह श्रद्धा-तिरेक ही व्यावहारिक दृष्टि से उसके समीक्षात्मक अध्ययन में बाधक सिद्ध हुआ। भारत के कुछ रूढ़िवादी हिंदू रामायण के चरितनायकों की ईश्वरीय अवतारों के रूप में वंदना और पूजा करने में ही परम संतोष का अनुभव करते हैं। उनके अनु-सार रामायण के उदात्त चरित्रों की महत्ता और गहराई मानव-बुद्धि के लिए अगम और अगोचर है तथा सामान्य अध्ययन-अन्वेषण से ऊपर की चीजें हैं। उनकी दृष्टि में राम और सीता के जीवन को सामान्य मानवीय मापदंड से नापने की चेष्टा करना अथवा तार्किक और व्यावहारिक दृष्टिकोण से समझने का प्रयास करना वाणी या लेखनी का निरर्थक व्यापार है। इसी संकुचित धारणा ने रामायण के व्यावहारिक

अध्ययन में बाधा पहुंचाई। रामायण के टीकाकार भी प्रायः इसी भावना से ग्रस्त जान पड़ते हैं। उन्होंने उसके गूढ़ स्थलों को भक्ति-भावनापूर्वक समझाने की चेष्टा तो की है, पर लौकिक दृष्टि से उनकी विशेषताओं पर प्रकाश कम डाला है। यह स्वाभाविक भी था; क्योंकि उन्होंने रामायण की घटनाओं को लोकोत्तर मानकर ही उस पर टीकाएं लिखीं।

रामायण की अपार लोकप्रियता ने भी उसके समाजशास्त्रीय महत्त्व की उपेक्षा कराने में योग दिया। हम लोग रामायण की कथा से इतने अभ्यस्त और परिचित हैं कि उसका नवीन दृष्टिकोण से अध्ययन-अनुसंधान करने की ओर ध्यान ही नहीं जाता। राम और सीता के अप्रतिम आदर्शों का पठन-पाठन, श्रवण, कीर्तन और मनन ही हमारे लिए पर्याप्त है; वे या उनके समय के लोग कैसे रहते-सहते थे, कैसे अपनी आजीविका चलाते थे, कैसे राज-काज करते थे, आदि प्रश्नों का सही उत्तर ढूंढ़ने के लिए हम प्रेरित ही नहीं होते। रामायण के कथानक का चिरंतन आकर्षण उसकी सांस्कृतिक सूचनाओं को पाठक की दृष्टि से ओझल कर देता है। स्वर्गीय श्री श्रीनिवास शास्त्री के शब्दों में, "रामायण का सामान्य पाठक कथा की मनोहरता और विषय की उदात्तता से मुग्ध और प्रभावित हो उठता है। उसका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि प्रत्येक पृष्ठ पर तत्कालीन युग की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री बिखरी पड़ी है। यह सामग्री अधिकांश संकेतों के रूप में मिलती है, जिन्हें पूरी तरह से समझने के लिए उनके व्यवस्थित और सुसंबद्ध संकलन तथा सप्रमाण विवेचन की आवश्यकता है। जब कोई सत्यान्वेषी और विवेकपूर्ण अनुसंधानकर्ता इन संकेतों को एकत्र कर हमारे प्राचीन समाज का एक स्पष्ट चित्र उपस्थित कर देता है, तब हमारी प्रसन्नता बहुत-कुछ वैसी ही होती है जैसी कोई नई खोज या आविष्कार कर डालने पर।"[१]

अतएव आज के वैज्ञानिक युग में, जबकि अतीत हमारे लिए केवल गौरव, भक्ति या स्वांतःसुख का विषय न होकर ज्ञान-वर्धन और प्रगति का भी एक साधन है, हमें चाहिए कि वाल्मीकि के महाग्रंथ का लौकिक दृष्टि से भी समुचित मूल्यांकन करें। सामाजिक जीवन के प्रायः सभी पहलुओं पर वाल्मीकि ने रोचक और स्थायी महत्त्व की सामग्री प्रस्तुत की है। समाज और परिवार के विषय में तत्कालीन आर्यों

---

१. पी० सी० धर्मा-कृत 'द रामायण पॉलिटी' का उपोद्घात

की धारणाएं क्या थीं ? समाज का संगठन कैसा था ? वर्ण और आश्रम की व्यवस्था कैसी थी ? जनसाधारण की स्थिति पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होती थी ? उच्च वर्ण के लोगों को समाज क्या सुविधाएं प्रदान करता था ? निम्न वर्णों की क्या निर्योग्यताएं थीं और उनके जीवन का स्तर कैसा था ? विवाह की प्रणाली कैसी थी और प्रेम का आदर्श क्या था ? स्त्रियों के साथ समाज में कैसा व्यवहार किया जाता था ? लोग अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार करते थे ? शासन-व्यवस्था, युद्ध-संचालन, अस्त्र-शस्त्र, यातायात के साधन इत्यादि कैसे थे ? इन प्रश्नों का उत्तर रामायण में ढूंढ़ने से पता चलेगा कि तत्कालीन समाज का ठोस और व्यावहारिक स्वरूप कैसा था।

यदि इस समाजशास्त्रीय दृष्टि से वाल्मीकि-रामायण का महत्त्व आंका जाय तो निश्चय ही हमारा अध्ययन अत्यंत रोचक, हृदयग्राही और ज्ञानवर्धक सिद्ध होगा—रामायण का एक सर्वथा मौलिक, नवीन, अद्‌भुत एवं सर्वजनप्रिय स्वरूप पाठकों के समक्ष उपस्थित होगा। शिक्षित-अशिक्षित, आधुनिक-पुरातन सभी स्तरों के लोगों के लिए यह एक नितांत रोचक और अनुपेक्षणीय विषय होगा। ज्ञान की खोज एक ऐसा विषय है, जो स्वयं ज्ञानोपार्जन से कम विलक्षण और रुचिकर नहीं है। लिखित इतिहास तथा प्राचीन स्मारकों और भग्नावशेषों में अंकित अतीत की कहानी की परिधि सीमित है। इतिहास के ये साधन मानव को बहुत दूर तक नहीं ले जाते और यदि ले भी जाते हैं तो मानवीय गति-विधि के संबंध में बहुत कम बता पाते हैं। हमारे पास एक और साधन है—प्राचीन साहित्य, जिसकी जांच अतीत के निरवगुंठन में, मानव-बुद्धि के विकास-क्रम को समझने में, मानव की ज्ञान-वृद्धि में नितांत सहायक होगी। समस्त संसार में कहीं भी किसी जाति ने अपने बारे में जानकारी की ऐसी विस्तृत सामग्री नहीं छोड़ी, जैसी प्राचीन भारत के आर्यों ने। अपनी संस्कृति के विषय में जो तथ्य उन्होंने वेदों, इतिहास, पुराणों, दर्शन-ग्रंथों और काव्यों में लिपिबद्ध किये हैं, उनके आधार पर हमें उनके जीवन का जैसा सूक्ष्म, घनिष्ठ और सच्चा परिचय प्राप्त होता है, वैसा अपने समकालीनों का भी प्राप्त होना कठिन है।

प्राचीन साहित्य का रस हम प्रायः एकांत में बैठकर लिया करते हैं, उसे हम मुख्यतः आनंद के लिए पढ़ते हैं। पर उसका पूरा महत्त्व हृदयंगम करने के लिए हमें उसे युग-जीवन से जोड़ना होगा। हमें यह देखना होगा कि साहित्यकार ने

जीवन के किस अंग को कितनी सफलता से प्रकट किया है—कलाकार ने युग-जीवन को कितनी गहराई और व्यापकता में उद्घाटित किया है। श्रेष्ठ साहित्य स्वभावतः युग-जीवन से ग्रथित होता है—वह अपने समय के सामाजिक यथार्थ को प्रकट या प्रतिफलित करता है। वाल्मीकि की कृति भी इसी कोटि में आती है और उसके समग्र मूल्यांकन के लिए हमें समाजशास्त्रीय दृष्टि भी रखनी होगी, उसमें तत्कालीन युग-जीवन के तत्त्व खोजने होंगे। ऐसा करने पर हमें रसानुभूति के साथ यह चेतना भी प्राप्त होगी कि रामायण का भारत की विराट् संस्कृति से कितना गहरा संबंध है।

रामायण के कर्ता वाल्मीकि एक प्रतिष्ठित ऋषि एवं राम के एक समकालीन के रूप में हमारे सामने आते हैं। बालकांड में लिखा है कि वाल्मीकि तमसा नदी के किनारे एक आश्रम में रहते थे। उनके मन में किसी आदर्श मानव का चरित्र लिपिबद्ध करने की इच्छा उठी। नारद के परामर्श से उन्होंने अयोध्या के तत्कालीन शासक महाराज राम को अपना चरितनायक बनाने का संकल्प किया। इसी समय एक व्याध के हाथों एक क्रौंच पक्षी को मारे जाते देख उनकी हृद्गत करुणा सहसा एक श्लोक के रूप में प्रस्फुटित हो गई। ब्रह्मा के आदेशानुसार उन्होंने इसी नवीन छंद में राम-चरित को काव्यबद्ध करना शुरू किया।[1] अपनी यह रचना उन्होंने कुश और लव को सिखाई और ये दोनों भाई सर्वत्र गा-गाकर इसका प्रचार करने लगे। इन्होंने अयोध्या के दरबार में राम और उनके भाइयों को भी यह कथा सुनाकर भाव-विभोर कर दिया (१।१, ४)।

उक्त वर्णन से यह सिद्ध है कि रामायण की रचना राम के राज्यारूढ़ होने के कुछ ही वर्षों बाद की गई थी—

प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवान् ऋषिः।
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत् ॥ १।४।४

अयोध्याकांड के अनुसार राम, लक्ष्मण और सीता ने चित्रकूट के निकट वाल्मीकि से भेंट की थी।[2] उत्तरकांड के अनुसार वाल्मीकि दशरथ के 'परम सखा'

---

१. कुरु रामकथां पुण्यां श्लोकबद्धां मनोरमाम्। १।२।३६
२. इति सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृतांजलिः। अभिगम्याश्रमं सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन्॥ तान्महर्षिः प्रमुदितः पूजयामास धर्मवित्। आस्यतामिति चोवाच स्वागतं तं निवेद्य च॥ २।५६।१६-७

थे,[1] और उन्होंने परित्यक्ता सीता को अपने आश्रम में आश्रय दिया था। यहीं कुश और लव का जन्म हुआ। इन्होंने वाल्मीकि से रामायण सीखकर राम के अश्वमेध-समारोह में सुनाई। उसे सुनकर राम ने सीता को बुला भेजा। उनके साथ वाल्मीकि ने भी आकर भरी सभा में सीता के सतीत्व की साक्षी दी थी (७।९५-६)।

वाल्मीकि के पूर्व-जीवन पर रामायण से कोई प्रकाश नहीं पड़ता। उनके डाकू होने और फिर तपस्वी बनने की कथाओं का आधार अन्य ग्रंथों में पाया जाता है। अध्यात्म रामायण के अनुसार, वाल्मीकि ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे, पर कुसंगति के कारण लूटमार में प्रवृत्त होकर अपने परिवार का भरण-पोषण करने लगे। एक बार उनके मार्ग में सप्तर्षिगण आये। उन्हें भी इस पतित ब्राह्मण ने लूटना चाहा। मुनियों ने इससे पूछा कि जिन कुटुंबियों के लिए तुम लूटमार द्वारा धन कमा रहे हो, क्या उनमें से कोई तुम्हारे अधर्म का भागी भी बनने को तैयार है? जब ब्राह्मण ने घर जाकर अपने स्त्री-पुत्रों से यह प्रश्न किया, तब उत्तर मिला कि हम तो केवल तुम्हारे धन को भोगनेवाले हैं, उसका पाप तो तुम्हें ही लगेगा। इससे ब्राह्मण के मन में वैराग्य का उदय हुआ और वह उन मुनियों की शरण में गया। सप्तर्षियों ने उसे 'राम' नाम को उलटा जपने का आदेश दिया—**एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा**। ब्राह्मण इतने दीर्घ काल तक इस नाम का जप करता रहा कि उस पर मिट्टी का ढेर (वल्मीक) लग गया। बहुत समय बाद जब सप्तर्षि उधर से लौटे, तब उन्होंने उसका 'वाल्मीकि' नामकरण किया और इस नूतन जन्म पर उसका अभिनंदन किया।

जनश्रुति में वाल्मीकि का बचपन का नाम रत्नाकर है और उनकी भेंट सप्तर्षियों के बजाय नारद से होती है। कृत्तिवासीय रामायण में इस जनश्रुति का उपयोग किया गया है। शेष कथा अध्यात्मरामायण-जैसी ही है।

वाल्मीकि के आरंभ में डाकू होने का आभास महाभारत के अरण्य-पर्व (अध्याय १२२) और अनुशासन-पर्व (अध्याय ४६) से भी मिलता है।

वाल्मीकि के जीवन-संबंधी इस सामग्री की प्रामाणिकता संदिग्ध है। स्वयं रामायण में उनके विषय में जो उल्लेख आये हैं वे मौलिक नहीं माने जाते। वाल्मीकि-

---

१. **राज्ञो दशरथस्यैव पितुर्मे मुनिपुंगवः। सखा परमको विप्रो वाल्मीकिः सुमहायशाः॥ ७।४७।१६-७**

नारद-संवाद ग्रौर क्रौंच-वध के प्रसंग किसी दूसरे के लिखे हुए हैं। चित्रकूट के निकट राम-वाल्मीकि की भेंट का उल्लेख भी रामायण के केवल दाक्षिणात्य पाठ में पाया जाता है। ग्राधुनिक ग्रन्वेषक वाल्मीकि को राम का समकालीन नहीं मानते; ग्रौर राम-जन्म से सहस्रों वर्ष पहले उनका रामायण की रचना कर डालना तो सर्वथा ग्रमान्य ग्रौर काल्पनिक है। फिर भी इतना सर्वमान्य है कि वाल्मीकि-रामायण रचना-काल की दृष्टि से राम के सर्वाधिक निकट है। राम-राज्य का चित्रण करने के लिए वाल्मीकि को तत्कालीन ग्रनुश्रुतियों, ग्राख्यानों ग्रौर लोक-परंपराग्रों का एक बहुमूल्य स्रोत उपलब्ध रहा होगा। इस कारण उनकी रामायण का जो ऐतिहासिक महत्त्व है वह ग्रन्य किसी रामायण का नहीं।

रामायण के ग्रनुसंधान से वाल्मीकि के व्यक्तित्व का, उनकी प्रज्ञा-प्रतिभा का, जो ग्रप्रत्यक्ष परिचय मिलता है, उसके प्रकाश में उनके पूर्वकालीन जीवन का समस्त तथाकथित कालुष्य घुल जाता है—उसके प्रति पाठक की जिज्ञासा ही नहीं जगती। पाठक के मन पर तो यही छाप पड़ती है कि वाल्मीकि ऋषि-समाज के ग्रग्रगण्य तपस्वी साधक, वेद-वेदांगों के परिनिष्ठित विद्वान्, रससिद्ध कवीश्वर, तत्कालीन भारत के मानचित्र के सम्यक् ज्ञाता, सामाजिक प्रथाग्रों एवं मर्यादाग्रों के संस्थापक ग्रौर व्याख्याकार, सत्य ग्रौर न्याय के समर्थक, धर्म के स्तंभ एवं लोकानुरंजन के प्रवल हिमायती थे। उन्होंने ग्रपने समकालीन, ग्रथवा कुछ ही पूर्ववर्ती, एक ग्रतुल पराक्रमी, लोकप्रिय, ग्रादर्श शासक के युग को काव्य की रेखाग्रों में बांधकर न केवल प्राचीन भारत के एक स्वर्ण-युग को इतिहास के खंडहरों में जा पड़ने से बचा लिया, वरन् स्वयं ग्रपने यशःशरीर को भी जरा-मरण के भय से सदा के लिए मुक्त कर दिया—

> **जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।**
> **नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥** शाङ्‌र्गधरपद्धति १६६

यह उल्लेखनीय है कि जहां ग्रन्य रामायणों में राम को विष्णु के ग्रवतार के रूप में ग्रधिक चित्रित किया गया है, वहां वाल्मीकि-रामायण देव-चरित्र का वर्णन न होकर नर-चरित्र का ही कीर्तन है। जव वाल्मीकि ने ग्रादर्श गुणों से मंडित किसी विभूति का परिचय पूछा, तव नारद ने एक मानव को ही उन ग्रनुपम गुणों का भाजन वताया—**तैर्युक्तः श्रूयतां नरः** (१।१।७)। ग्रवश्य ही वाल्मीकि के समय की ग्रनुश्रुतियों में राम का विष्णुत्व प्रकट होने लगा था, जिनके प्रभाव से ग्रछूते रहना

कठिन था, फिर भी वाल्मीकि उन इने-गिने लौकिक ऋषियों में से थे, जिनका दृष्टिकोण पूर्णतः मानवीय था। राम उनके लिए एक मानवीय महापुरुष थे, एक ऐसे 'नर-चंद्रमा' थे, जिन्होंने विकट परिस्थितियों के बीच रहकर भी अपने शील की रक्षा की तथा अपने युग की हीनताओं और मानव-मात्र की दुर्बलताओं से ऊपर उठ कर मनुष्य को ईश्वरत्व की कोटि तक पहुंचा दिया। इस स्वस्थ दृष्टिकोण ने उनकी रामायण को एक सहज आकर्षण से परिप्लावित कर दिया है।

रामायण में समय-समय पर प्रक्षेपों के रूप में अतिरिक्त सामग्री जुड़ती रही है। ये परिवर्धन कुछ तो प्रतिभाशाली कवियों ने और कुछ संस्कृत के विद्वानों ने किये। ये अंश उन लोगों द्वारा उचित और उपयोगी माने जाते थे, जो या तो अपने विचारों को दूसरों तक पहुंचाना चाहते थे या यह समझते थे कि इस प्रकार मूल काव्य अधिक सुंदर और कहीं-कहीं अधिक विस्तृत बन जायगा। परिवर्धन की इस प्रक्रिया में तीन कारणों ने सहायता पहुंचाई—एक तो प्रारंभ में यह काव्य मौखिक रूप से प्रचलित रहा; दूसरे, बाद में इसकी कुछ ही हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध रहीं; और तीसरे, इनकी प्रामाणिकता की पुष्टि के सहज साधन भी उपलब्ध नहीं थे। किंतु प्रक्षेपकर्ता यह नहीं समझते थे कि हम किसीके साथ धोखा कर रहे हैं, क्योंकि वे मानते थे कि हम सत्य और स्वस्थ विचारों का ही प्रचार कर रहे हैं। पांडुलिपि जितनी बड़ी होती थी, भक्त लोग उसका उतना ही अधिक आदर करते थे; क्योंकि प्रचलित धारणा यह थी कि मूल ग्रंथ बहुत विशाल था और उसके अनेक अंश लुप्त हो गए। इसलिए कुछ लोगों ने इन विलुप्त अंशों के 'पुनरुद्धार' का बीड़ा उठाया। रामायण के ये परिवर्धित या प्रक्षिप्त अंश मूल्यवान् भले ही हों, पर वाल्मीकि-रचित मूल भागों से निस्संदेह भिन्न हैं।

रामायण को लिपिबद्ध करते समय उसके विभिन्न पाठ, प्रक्षेप तथा श्लोकों के क्रम उसी रूप में लिख लिये गए, जिस रूप में भिन्न-भिन्न प्रदेशों के सूत और गायक उन्हें गाकर सुनाया करते थे। फलतः भारत के विभिन्न भागों में रामायण के पृथक्-पृथक् पाठ प्रचलित हो गए। इन पाठ-भेदों के आधार पर पिछले डेढ़ सौ वर्षों में रामायण के अनेक संस्करण छपे। सबसे पहले सन् १८०६ में सिरामपुर के डा० विलियम केरी और डा० जोशुआ मार्शमैन नाम के दो पादरियों ने रामायण के प्रथम दो कांड अंग्रेजी अनुवाद-सहित प्रकाशित किये। उनका आधार रामायण का पश्चिमोत्तरीय पाठ था। १८२६ में जर्मन विद्वान् श्लीगल ने प्रथम दो कांड लैटिन अनु-

वाद, भूमिका और टिप्पणी-सहित प्रकाशित किये। संपूर्ण रामायण का सर्वप्रथम मुद्रित संस्करण राजा चार्ल्स अलबर्ट के व्यय से इटली के विद्वान् गोरेशियो ने १८४३ से १८६७ के बीच प्रकाशित किया। यह संस्करण बंगाल में प्रचलित पाठ पर आधारित था। तत्पश्चात् उत्तर भारत में प्रचलित देवनागरी-पाठ के आधार पर सन् १८८८ में निर्णयसागर प्रेस, बंबई, ने रामायण का संस्करण छापा तथा १९१२-२० में गुजराती प्रेस, बंबई, ने तीन टीकाओं-सहित सात जिल्दों में एक संस्करण निकाला। बंबई में छपे इन संस्करणों का पाठ कुंभकोणम् (१९०५), श्रीरंगम् (१९१७-८) तथा मद्रास (१९३३) के संस्करणों के ही समान है, जिनमें दाक्षिणात्य पाठ का अनुसरण किया गया है। पश्चिमोत्तरीय पाठ के आधार पर रामायण का लाहौर-संस्करण १९२३-४७ में पं० भगवद्दत्त, पं० रामलभाया और पं० विश्वबंधु ने संपादित करके प्रकाशित कराया।

इन सबमें तीन संस्करण महत्त्वपूर्ण हैं—गोरेशियो का वंगीय संस्करण, बंबई और मद्रास का दाक्षिणात्य संस्करण तथा लाहौर का पश्चिमोत्तरीय संस्करण। कितने ही कथा-प्रसंग दाक्षिणात्य संस्करण में उपलब्ध होते हैं, पर अन्य दो संस्करणों में उनका समावेश नहीं है। इसी प्रकार कुछ प्रसंग ऐसे हैं, जो पश्चिमोत्तरीय और वंगीय संस्करणों में मौजूद हैं, पर दक्षिणी में नहीं। कुछ-एक प्रसंग तीनों संस्करणों में मिलते हैं, परंतु उनका परिमाण न्यूनाधिक है तथा सूक्ष्म विस्तार में पर्याप्त भेद है।

पाश्चात्य विद्वानों का अनुमान है कि रामायण के प्रक्षिप्त और अप्रक्षिप्त भागों के बीच कई शताब्दियों का अंतर रहा होगा। आधुनिक अन्वेषक मौलिक रामायण (वाल्मीकि की प्रक्षेप-रहित प्रामाणिक रचना, कांड दो से छः) तथा प्रचलित रामायण (जिसमें चौबीस हजार श्लोक तथा सात कांड हैं) का अलग-अलग रचना-काल निर्धारित करते हैं। मूल रामायण में बालकांड और उत्तरकांड नहीं थे और उसमें बौद्ध धर्म की ओर संकेत नहीं मिलता। अतः उसकी रचना बुद्ध से पूर्व, अर्थात् पांचवीं शताब्दी ई० पू० से पहले हुई होगी।[1] याकोबी, मैक्डानेल, मोनियर विलियम्स और चिंतामणि विनायक वैद्य का यही मत है। इसके विपरीत कीथ

---

१. लेकिन प्राचीन बौद्ध साहित्य तथा जातकों की सामग्री के विश्लेषण से स्पष्ट है कि त्रिपिटक के रचना-काल में राम-कथा-संबंधी स्फुट आख्यान-काव्य प्रच-

रामायण की मूल रचना चौथी शताब्दी ई० पू० में रखते हैं और विंटरनित्स तीसरी शताब्दी ई० पू० में। याकोबी मूल रामायण का रचना-काल ८००-६०० ई० पू० मानते हैं। इसी समय के निकट-परवर्ती ग्रंथकार भास, कौटिल्य और पतंजलि रामायण के कथानक से पूर्ण परिचित प्रतीत होते हैं।[1] मूल रामायण की रचना निश्चय ही पाणिनि (५०० ई० पू०) से पहले की जान पड़ती है, क्योंकि रामायण की भाषा में ऐसे अनेक आर्ष प्रयोग पाये जाते हैं, जो पाणिनीय व्याकरण से मेल नहीं खाते। यदि वाल्मीकि पाणिनि के बाद हुए होते तो ऐसा न होता। पाणिनि ने कोसल, कौसल्या, केकय, कैकेयी, भरत, वैश्रवण, विभीषण, रावण और वाल्मीकि-जैसे नामों की व्युत्पत्ति भी समझाई है। किंतु रामायण के प्रधान पात्र राम, सीता और दशरथ पाणिनि में नहीं मिलते।

मूल रामायण के विकसित होकर प्रचलित रामायण का वृहत्तर रूप धारण करने में कई शताब्दियां लगी होंगी। याकोबी पहली या दूसरी शताब्दी ईस्वी को प्रचलित रामायण का काल मानते हैं। चिंतामणि विनायक वैद्य पहली शताब्दी ई० पू० अधिक संभव समझते हैं तो विंटरनित्स दूसरी शताब्दी ईस्वी। कालिदास के समय में रामायण ने अपना प्रचलित रूप धारण कर लिया था और यदि कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ई० पू० है तो प्रचलित रामायण का रूप इसके बाद का नहीं हो सकता।

राम-जैसे अप्रतिम शासक के बारे में लोक-मानस ने अनेक गीतों और आख्यानों की सृष्टि कर ली होगी तथा इनका वाल्मीकि के पहले से प्रचार रहा होगा। इसका आभास महाभारत के द्रोण-पर्व और शांति-पर्व के संक्षिप्त राम-चरित से तथा अन्य निर्देशों से मिलता है।[2] ये आख्यान आज अप्राप्य हैं, पर वाल्मीकि के समय में ये उपलब्ध रहे होंगे। निश्चय ही उन्होंने एक विस्तृत सुसंबद्ध राम-कथा की रचना करने में इनका प्रयोग किया होगा।

जहां तक रामायण की घटनाओं का प्रश्न है, पुराण-विशेषज्ञ पार्जिटर ने

लित हो चुका था, पर रामायण की रचना नहीं हो पाई थी (कामिल बुल्के-कृत 'राम-कथा', पृ० ३६)।

१. टी० परमशिव ऐयर—'रामायण एंड लंका', पृ० ८

२. 'राम-कथा', पृ० ३०

वंशावलियों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि राम-रावण और कौरव-पांडव युद्धों के बीच पांच शताब्दियों का अंतर था। उनके अनुसार महाभारत-युद्ध ११०० ई० पू० में हुआ था।[1] इस प्रकार राम १६०० ई० पू० में हुए और रामायण की घटनाएं इसी काल में घटित हुईं।

रामायण-काल का पूर्ववर्ती युग उपनिषदों का समय माना जाना चाहिए, क्योंकि उपनिषदों के नीरस और आर्ष गद्य ने जन-मानस में किसी सरस और उदात्त काव्य का आस्वादन करने की उत्कंठा जागृत की होगी, और वाल्मीकि की कृति ने जनता का अनुरंजन किया होगा। उपनिषदों के दार्शनिक महाराज जनक सीता के पिता राजा जनक से अठारह पीढ़ी पहले हुए थे[2] और राम का समय प्राचीन उपनिषदों से लगभग चार सौ वर्ष बाद का रहा होगा।[3]

किंतु ये सब तिथियां विवादग्रस्त और अनिर्णीत हैं तथा अधिक शोध की अपेक्षा रखती हैं। अतएव इस पुस्तक में व्यवहृत 'रामायण-काल' अथवा 'रामायणकालीन' शब्द का स्थूल अर्थ उस काल अथवा युग से लेना चाहिए, जो वाल्मीकि-रामायण में चित्रित है, चाहे वह युग राम के समय का हो अथवा वाल्मीकि के समय का।

इस प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न की भी चर्चा कर लेना आवश्यक है, वह यह कि रचना-काल की दृष्टि से रामायण और महाभारत में कौन पूर्ववर्ती है? क्योंकि रामायण की काव्य-शैली परिष्कृत और अपने समय की साहित्यिक प्रगति के अनुरूप पर्याप्त पुष्ट एवं अलंकृत है, तथा महाभारत की भाषा और शैली में प्राचीनता और अस्तव्यस्तता दृष्टिगोचर होती है, अतएव कई विद्वानों का यह अनुमान है कि महाभारत की रचना रामायण से पहले हो चुकी थी। लेकिन इस संबंध में यह स्मरण रखना चाहिए कि महाभारत कई हाथों की रचनाओं की

---

१. 'एन्श्यंट इंडियन हिस्टॉरिकल ट्रैडीशन', अध्याय १५

२. बालकांड, सर्ग ७१, के अनुसार विदेह-वंश में जनक इक्कीसवीं पीढ़ी में हुए थे: विदेह—निमि—मिथि (मिथिला के संस्थापक)—जनक प्रथम—(११) हर्यश्व—(२०) ह्रस्वरोमा—(२१) जनक द्वितीय (सीता के पिता)

३. देखिए वी० वी० दीक्षित—'रिलेशन आफ द एपिक्स टु द ब्राह्मण लिटरेचर' ('पूना ओरिएंटलिस्ट', जिल्द ६-७)

'संहिता' है, इसलिए उसमें भाषा की विभिन्नता और काव्य-शैली का अपरिष्कार दिखाई पड़ना स्वाभाविक है। इसके विपरीत रामायण एक हाथ की रचना अधिक है। प्रक्षेप इसमें भी हैं, पर ऐसा जान पड़ता है कि इसका मुख्य अंश एक ही कवि की कुशल लेखनी का चमत्कार है। काव्य में माधुर्य-गुण का संचार करना बहुत-कुछ एक व्यक्तिगत गुण है, किसी युग-विशेष का सामान्य लक्षण नहीं। अतः भाषा और शैली के आधार पर रामायण को परवर्ती सिद्ध करने के तर्क में अधिक बल नहीं है।

इससे अधिक महत्त्व का प्रश्न यह है कि रामायण और महाभारत में चित्रित सामाजिक व्यवस्थाओं में कौन अधिक प्राचीन है? महाभारत में वर्णित सभ्यता अशांतिमय एवं अव्यवस्थित है, किंतु रामायण की सभ्यता अपेक्षाकृत अधिक शांत, व्यवस्थित, सुसंस्कृत और आदर्श है। इस आधार पर पाश्चात्य विद्वान् यह अनुमान करते हैं कि महाभारतकालीन समाज रामायणकालीन समाज की अपेक्षा प्राचीनतर है। लेकिन, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, महाभारत की रचना में अनेक हाथों का योग रहा है, उसका संपादन एकाधिक बार किया गया है, उसमें एक व्यक्ति का नहीं बल्कि एक संपूर्ण युग का व्यक्तित्व, अपने समस्त गुण-दोषों के साथ, अत्यंत जीवंत रूप में अभिव्यक्त हुआ है। अतः उसमें सभ्यता के विभिन्न स्तरों का, शिष्ट-अशिष्ट व्यक्तियों का, समाज के बर्बर और शालीन दोनों रूपों का, अंकन पाया जाना स्वाभाविक ही है। अन्यथा, रामायण ही मूल महाभारत की अपेक्षा भारतीय समाज के एक प्राचीनतर रूप को प्रकट करती है। जिन परपराओं और अनुश्रुतियों के आधार पर रामायण की रचना हुई थी, वे महाभारत के समय में आकर समाज की सामान्य धरोहर बन गई थीं। रामायण के मुख्य पात्र आर्यों के अतिरिक्त वानर, ऋक्ष और राक्षस-जैसे आदिवासी हैं; जबकि महाभारत के मुख्य पात्र सुसंस्कृत मनुष्य ही हैं; राक्षस केवल कथानक की नाटकीयता में अभिवृद्धि करने के लिए यदा-कदा आते हैं और मनुष्यों-जैसे वानर और ऋक्ष सर्वथा लुप्त हो चुके हैं। रामायण में अलौकिक तत्त्वों का प्रयोग एक सीमित मात्रा में हुआ है, पर महाभारत में उनका सीमातीत उपयोग हुआ है। राम सर्वत्र पृथ्वी-तल पर रहनेवाले एक मनुष्य बने रहते हैं। 'महाभारत के वीर में नैतिक आचरण कुछ-कुछ बौद्धिक है, समय-समय पर उसका अन्यथाचरण हो सकता है; पर रामायण के वीर का नैतिक आचरण सहज है, उसका अन्यथा भाव संभव नहीं। महाभारत के वीर अधिकतर सजातीय

समाज में चमके हैं, परंतु रामायण के वीर प्राय: विजातीय परिवेष्टन में चमके हैं। महाभारत के क्षत्रिय वीर अनेक प्रकार के कालोपयोगी अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हैं, तत्कालीन प्रचलित नवीनतम युद्ध-कौशलों और युद्ध-रूढ़ियों के अभ्यस्त हैं; पर रामायण के वीर—हनुमान्, सुग्रीव, जांबवान्—न तो इन कौशलों के जानकार हैं और न रूढ़ियों के कायल।'[१] दोनों ग्रंथों के अवलोकन से पाठक पर यही प्रभाव पड़ता है कि जहां महाभारतकालीन भारत में सामान्यत: अधिक राज्य, अधिक राजा, अधिक नगर, अधिक तीर्थ-स्थान और अधिक नागरिक हलचल है, वहां रामायणकालीन भारत में अधिक जंगल, अधिक अनजाने रास्ते और प्रकृति से अधिक संपर्क है। रामायण-काल का आर्थिक जीवन भी महाभारत के आर्थिक जीवन से पिछड़ा हुआ है।[२] रामायण का समाज, अपने सीमित भौगोलिक दायरे में, अधिक सुगठित, व्यवस्थित और संघर्ष-रहित है, जबकि महाभारत के समाज की भौगोलिक सीमाएं अधिक विस्तृत और संघर्ष-संकुल है। रामायणकालीन भारत के राजनीतिक मानचित्र में छोटे-छोटे राज्यों का बाहुल्य तथा किसी सार्वभौम सत्ता का अभाव पाया जाता है, तो महाभारत चौथी शताब्दी ई० पू० की राजनीतिक स्थिति की ओर इंगित करता है, जब पूर्वी भारत में जरासंध का शक्तिशाली साम्राज्य मगध के अतिरिक्त अन्य राज्यों को अपने भीतर समेटे हुए था। यदि रामायणकालीन संस्कृति महाभारतकालीन संस्कृति की अपेक्षा अर्वाचीन है तो रामायण में महाभारत के सुप्रसिद्ध राज्यों का उल्लेख कैसे नहीं हुआ? रामायण क्योंकि इक्ष्वाकु नृपतियों के गौरवशाली युग से संबंधित है और महाभारत के समय कोसल-राज्य को मगध-साम्राज्य ने उदरस्थ कर लिया था, इसलिए रामायण-काल निश्चय ही महाभारत-काल का पूर्ववर्ती है। रामायण की उत्तर-भारतीय आर्य-सभ्यता को महाभारत-काल के विस्तृत भारतवर्ष में व्याप्त होते-होते काफी समय लगा होगा। तब यवन, शक, हूण, चीन और अन्य विदेशी जातियां भारत के विभिन्न भागों में बस चुकी थीं। दुर्योधन के दरबार में क्षत्रियेतर म्लेच्छ, यवन आदि राजा समादृत थे। दूसरी ओर रामायण में यवन आदि का उल्लेख

---

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी—'संस्कृत के महाकाव्यों की परंपरा' ('आलोचना', अक्तूबर १९५१, पृ० १४)

२. जे० एन० समद्दर—'एकॉनॉमिक कंडिशंस इन एन्श्यंट इंडिया', पृ० ६८

केवल दो बार हुआ है (१।५४।२१, २३) और उनका देश के राजनीतिक जीवन में नगण्य स्थान है।[1]

इसके अतिरिक्त, पाश्चात्य विद्वान् महाभारत की अपेक्षा रामायण को परवर्ती सिद्ध करने में जो यह तर्क देते हैं कि महाभारत की विषम एवं अव्यवस्थित संस्कृति ही कालांतर में रामायण की मर्यादित एवं सुव्यवस्थित संस्कृति में परिणत हो गई, उसके मूल में उनका वह विकासवाद का सिद्धांत है, जिसके अनुसार मनुष्य उत्तरोत्तर सभ्य एवं शिष्ट बनता जाता है। हमारा भारतीय दृष्टिकोण इसके विपरीत है। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग का क्रम मनुष्य की उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुखी प्रकृति का ही परिचायक है। रामायण की समुन्नत संस्कृति का महाभारत-काल में जाकर काल-क्रम से ह्रास हो गया। उस समय के आदर्श बाद में शिथिल पड़ गए। कहां श्री राम का परम एवं उदात्त आचरण और कहां युधिष्ठिर का द्यूत, आदि कर्मों में प्रवृत्त होना; कहां लक्ष्मण, भरत आदि का वह भ्रातृ-स्नेह और कहां युधिष्ठिर के प्रति भीम और अर्जुन द्वारा अपमानसूचक शब्दों का प्रयोग; कहां राम और भरत की राज्य के प्रति अनिच्छा और कहां दुर्योधन की यह राज्य-लिप्सा—**सूच्यग्रं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव** ! इस प्रकार दोनों कालों के सांस्कृतिक आदर्शों में महान् अंतर है। वैवाहिक जीवन की दृष्टि से भी क्रमिक अवनति दीख पड़ती है। कहां सती-साध्वी सीता का पातिव्रत्य और श्री राम का एकपत्नी-व्रत और कहां सत्यवती और कुन्ती की कुमारावस्था में ही संतानोत्पत्ति ! पांडवों के बहु विवाह और द्रौपदी के पांच पति ! जब हनुमान् सीता को राम के पास अपनी पीठ पर बैठाकर ले जाना चाहते हैं, तब सीता पर-पुरुष-स्पर्श के भय से यह प्रस्ताव अस्वीकार कर देती हैं। रावण-वध के अनंतर सीता को अपनी पवित्रता के प्रमाण-स्वरूप अग्नि-परीक्षा देनी पड़ती है, किंतु काम्यक्-वन में जब जयद्रथ द्रौपदी का अपहरण करता है, तब पांडव उसके चरित्र के संबंध में कुछ भी संदेह नहीं करते। युद्ध के आदर्श भी गिर गए। रण-क्षेत्र में रावण के घायल हो जाने पर राम कहते हैं कि घायल का वध धर्म-

---

१. नगेंद्रनाथ घोष—'द रामायण एण्ड महाभारत, ए सोशियोलॉजिकल स्टडी' (सर आशुतोष मुखर्जी सिल्वर जुबिली वाल्यूम, ओरिएंटेलिया, भाग २, पृ० ३६१)

विरुद्ध है, तो महाभारत में शस्त्र छोड़े हुए भीष्म और द्रोण का वध, रथ से उतरे हुए कर्ण का वध तथा सोते हुए धृष्टद्युम्न, शिखंडी और द्रौपदी के पांचों पुत्रों का वध किया जाता है। राम-रावण या लक्ष्मण-मेघनाद के युद्ध में वह क्रोधोन्मत्त, घृणा-सूचक संलाप या प्रलाप नहीं पाया जाता, जो भीम और दुर्योधन, अर्जुन और कर्ण के बीच होता है। इस प्रकार जहां रामायण पूर्ववर्ती सत्ययुग की झांकी कराती है, वहां महाभारत परवर्ती कलियुग के आगमन की सूचना देता है। रामायण सुख, शांति, समृद्धि और व्यवस्था के युग का प्रतिनिधित्व करती है तो महाभारत प्रचंड संक्षोभ, विप्लवकारी परिवर्तन तथा संहारकारी युद्ध के युग का दिग्दर्शन कराता है।[1]

: २ :

आर्य और अनार्य

यदि वाल्मीकियुगीन भारत का कोई व्यक्ति आधुनिक भारत में अकस्मात् प्रकट हो जाय, तो उसके विस्मय की सीमा न रहेगी कि हमारे इस प्राचीन देश में आज कितनी जातियां निवास करने लगी हैं। विशेषकर उसका ध्यान इस देश के विभिन्न मत-मतांतरों तथा बोल-चाल की अनेक भाषाओं की ओर आकृष्ट होगा। उसका यह विस्मय का भाव सकारण ही है, क्योंकि उसके अपने समय में जातियों और भाषाओं की ऐसी अनेकता दृष्टिगोचर नहीं होती थी। तब तो स्थूल रूप से भारतवासियों के दो ही विभाग थे—एक आर्य और दूसरा अनार्य। हां, इन दोनों विभागों के भी कुछ उप-विभाग अवश्य थे, किंतु उनकी संख्या अधिक नहीं थी। जातियों और उप-जातियों के आज जो असंख्य भेद-प्रभेद दीख पड़ते हैं, उनकी तुलना में रामायण-काल की जातियों की संख्या कम ही जान पड़ेगी।

आर्यों और अनार्यों की सामाजिक व्यवस्था में अंतर था। जहां आर्यों का समाज वर्णाश्रम के सांचे में ढला हुआ था, वहां अनार्यों का समाज जाति-रहित था।

१. 'संस्कृत-साहित्य की रूपरेखा', पृ० २६-८

आर्यों का प्रभुत्व गंगा-सिंधु के प्रायः सारे मैदान पर फैला हुआ था, जबकि उसके दक्षिण में वन-ही-वन थे, जिनमें अनार्य जातियां निवास करती थीं। आर्यों ने अपनी श्रेष्ठ सभ्यता और संस्कृति के बल पर धीरे-धीरे प्रायः सारे देश पर अधिकार कर लिया। अनार्य जातियों में से कुछ ने आर्यों को सहयोग दिया और कुछ ने डटकर उनका विरोध किया। इन विरोधी जातियों को भी अंत में पूर्ण परास्त होकर आर्यों की प्रभुता स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा।

विंध्य पर्वत के दक्षिण में निवास करनेवाली अनार्य जातियों में से अधिकांश ने आर्यों के प्रभुत्व और उनकी संस्कृति को अंगीकार कर लिया; परंतु भारतीय प्रायद्वीप के दक्षिणी छोर पर तथा लंका-द्वीप में एक खूंख्वार काली जाति निवास करती थी, जिसकी रीति-नीति आर्यों के आचार-विचार से बिलकुल मेल नहीं खाती थी। इस जाति को आर्यों ने राक्षसों की संज्ञा दी। वेदों में यह नाम असभ्य, बर्बर और घृणित जातियों के लिए आया है। इसी राक्षस-जाति के विरुद्ध राम ने अभियान किया था, जिसका विस्तृत यशोगान वाल्मीकि ने अपनी रामायण में किया है। वाल्मीकि ने राक्षसों का ऋषि-मुनियों के आश्रमों का ध्वंस करनेवाले, वैदिक क्रिया-कलापों में विघ्न डालनेवाले, ब्राह्मणों के चिर शत्रु तथा स्वेच्छानुसार आकार बदलनेवाले निशाचरों के रूप में चित्रित किया है। उत्तर भारत के संस्कृत-भाषी आर्यों से राक्षसों का बराबर संघर्ष रहता था। पूर्व-महाभारतकालीन भारतवर्ष के राजनीतिक इतिहास में राक्षसों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। उनकी सभ्यता महान् और परिष्कृत थी; फिर भी वे अपनी स्वेच्छाचारिता, भोगलिप्सा, दुष्टता और क्रूरता के कारण कुख्यात थे। खान-पान एवं यौन संबंधों में उनका आचरण निर्लज्ज और अमर्यादित था। नर-मांस-भक्षण भी उनके लिए वर्जित नहीं था।

राक्षसों के बाद रामायण में वानरों का उल्लेखनीय स्थान है। यह भी दक्षिण भारत की एक अनार्य जाति थी, किंतु इसने आर्यों से सहयोग किया और उनकी धार्मिक क्रियाओं को भी स्वीकार किया। नस्ल, भाषा, वर्ण और आकृति में आर्यों से भिन्न होते हुए भी वानरों ने आर्य-संस्कृति को मुक्त हृदय से अपनाया। राक्षसों के विरुद्ध राम के अभियान में उनके सक्रिय सहयोग से यह प्रकट है। वाली और सुग्रीव वानरों के नेता थे। वास्तव में वानर-जाति विंध्य-पर्वतमाला के दक्षिण में निवास करनेवाली एक वनचर जाति थी और उसे निरा बंदर समझ लेना भूल है।

उसके वानर कहलाने के दो कारण हो सकते हैं—रहन-सहन या आचार-विचार की दृष्टि से उसमें विचित्रता थी अथवा आर्य लोग उससे भली भांति परिचित नहीं थे और एक पूंछयुक्त उछल-कूद मचानेवाली जाति को देखकर उसे वानर कहने लगे ।[१] उसके यौन संबंध भी अनियमित होते थे ।

राक्षसों और वानरों के अतिरिक्त तत्कालीन भारत में निषाद, गृध्र, शबर, यक्ष और नाग-जैसी अन्य अनार्य जातियां भी निवास करती थीं । इनमें से निषाद-जाति कोसल-राज्य और गंगा के बीच के प्रदेश में रहती थी । गुह उसके मुखिया थे और शृंगवेरपुर उनकी राजधानी थी । निषाद लोग अच्छे तीरंदाज थे । जब भरत राम को लौटा लाने के लिए चित्रकूट जा रहे थे, तब मार्ग में निषादों ने एक बार उनका सामना करने की ठान ली थी ।[२] नदी के समीप होने तथा पास के वनों में लकड़ी बहुतायत से मिलने के कारण निषाद स्वभावतः नावें बनाने और खेने में कुशल थे । गुह ने ही राम को एक सुखद नौका में गंगा-पार पहुंचाने का प्रबंध किया था ।[३] निषादराज कोसल-राजकुमार के **आत्मसमः सखा** (अभिन्न मित्र, २।५०।३३) थे और उन्होंने सीता-सहित राम-लक्ष्मण का हार्दिक स्वागत किया । राम ने भी लक्ष्मण के साथ आगे बढ़कर उनका प्रगाढ़ आलिंगन किया ।[४] तत्पश्चात् गुह ने राम को उत्तम खाद्य पदार्थ भेंट किये, किंतु राम ने घोड़ों के लिए घास-दाने के अतिरिक्त और कुछ स्वीकार नहीं किया। इसलिए नहीं कि उन्हें एक निषाद का भोजन ग्रहण करने में आपत्ति थी, बल्कि इसलिए कि उन्होंने तपस्वी का व्रत ले रखा था और प्रतिग्रह (दान या उपहार) लेना उनके लिए निषिद्ध था—**नहि वर्ते प्रतिग्रहे** (२।५०।४२) । राजकुमार भरत ऐसे किसी व्रत से बंधे नहीं थे और उन्होंने गुह से अन्न-पान आदि सहर्ष स्वीकार कर लिया । इससे यह सिद्ध होता है कि आर्यों को इस वनवासी अनार्य जाति का स्पर्श करने में अथवा उसका भोजन ग्रहण करने में आपत्ति नहीं थी ।

---

१. जे० म्युअर—'ओरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स', भाग २, पृ० ४१६-९
२. तिष्ठन्तु सर्वदाशाश्च गंगामन्वाश्रिता नदीम् । देखिये २।८४।३-८
३. अस्य वाहनसंयुक्तां कर्णग्राहवतीं शुभाम् । सुप्रतारां दृढां तीर्थे शीघ्रं नावमुपाहर ॥ २।५२।६
४. सह सौमित्रिणा रामः समागच्छद् गुहेन सः । २।५०।३५

कोसल-राज्य के पड़ोस के कारण निषाद-जाति आर्य-संस्कृति से विशेष प्रभावित हुई थी। कहा जाता है कि इन निषादों की संस्कृति उत्तर पाषाण-युग की संस्कृति थी और किसी समय समस्त भारत की जन-संख्या में इन्हींका बहुमत था, पर अन्य उन्नत जातियों की वेगवती लहरों ने इन्हें पीछे धकेल दिया। फलतः निषाद आर्यावर्त की सीमावर्तिनी जाति-मात्र बनकर रह गए, जबकि वे नई जातियां ही भारतीय समाज का मूलाधार बन गईं।[1]

प्राचीन भारत की कुछ घुमंतू जातियां अपने पर्यटनशील स्वभाव के कारण पक्षियों—गृध्रों या सुपर्णों—के नाम से संबोधित की जाती थीं।[2] रामायण-काल में गृध्र-जाति भारत के पश्चिमी समुद्र-तट और उसके आसपास की पर्वत-श्रेणियों पर रहा करती थी। इस जाति के मुखिया संपाति और जटायु नाम के दो भाई थे, जिनकी मृत्यु के बाद गृध्रों का राजनीतिक अस्तित्व समाप्त हो गया। इस जाति का रामायण में विस्तृत परिचय नहीं मिलता। हम केवल इतना जान पाते हैं कि जटायु महाराज दशरथ के सखा थे[3] और पंचवटी में जब कभी राम और लक्ष्मण शिकार खेलने चले जाते, तब सीता की रखवाली का भार उन्हीं पर आ पड़ता था। रावण के चंगुल से सीता को छुड़ाने के प्रयत्न में जटायु ने अपने प्राण तक गंवा दिये थे। क्या आश्चर्य, यदि राम ने अपने किसी निकट बंधु की भांति उनका दाह-संस्कार किया हो—**ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दुःखितः** (३।६८।३२)। दक्षिण दिशा में सीता की खोज में गया हुआ वानर-दल जब हताश होकर समुद्र के किनारे बैठा हुआ था, तब संपाति ने पर्वत-गुफा में से निकलकर जटायु के भाई के रूप में अपना परिचय दिया था। अपने दिवंगत भाई के पितरों को संपाति ने जलांजलि भी अर्पित की थी,[4] जिससे सूचित होता है कि गृध्र-जाति ने आर्यों की धार्मिक रीतियों को अपना लिया था। जटायु ने राम के प्रति प्राणियों की उत्पत्ति का वर्णन किया था (३।१४।६-३३) और संपाति ने वानरों को पक्षियों के विविध भेद बताये थे (४।५८।२४-७)। इन वर्णनों के अध्ययन से प्रतीकवाद (टोटे-

१. रमेशचंद्र मजूमदार—'हिस्ट्री आफ बंगाल', भाग २, पृ० ५५७
२. अविनाशचंद्र दास—'ऋग्वैदिक इंडिया', पृ० १४८
३. उवाच वत्स मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः । ३।१४।३
४. ततः कृतोदकं स्नातं तं गृध्रं हरियूथपाः । ४।६०।१

मिज्म) की उत्पत्ति तथा उसके भेदों के संबंध में कुछ संकेत मिल सकते हैं।

राम और लक्ष्मण सीता की खोज करते-करते शबरी नामक तपस्विनी के आश्रम में जा पहुंचे थे, जो संभवतः पंपा-सरोवर के किनारे रहनेवाली शबर-जाति की स्त्री थी। इस जाति के लोग प्रायः बहेलिये और शिकारी हुआ करते थे। आधुनिक समय में शबरों का प्रतिनिधित्व मध्यप्रदेश की पहाड़ियों में निवास करनेवाली इसी नाम की एक जाति करती है।[1] शबरी की कथा एक ऐसी अनार्य-जाति की कथा है, जो आर्यों की संस्कृति से पूर्णतया प्रभावित हो चुकी थी। इसकी पुष्टि शबरी के आश्रम तथा राम-लक्ष्मण के प्रति उसके अतिथि-सत्कार के वर्णनों से होती है। वाल्मीकि ने शबरी को 'श्रमणी' की संज्ञा दी है। पवित्र और संयत जीवन व्यतीत करनेवाली उस साध्वी तपस्विनी ने आर्यों के राजकुमार का कृपा-भाजन बनकर अपने को धन्य समझा (३।७४)।

यक्ष-जाति राक्षसों की ही समकालीन थी, पर संख्या और प्रभाव की दृष्टि से उसका महत्त्व नगण्य था। यक्ष अपने असाधारण सौंदर्य और शारीरिक बल के लिए प्रसिद्ध थे। विकराल राक्षसी बनने से पहले ताटका एक सुंदर और शक्तिशाली यक्षिणी थी (१।२५।७-८)। यक्ष और राक्षस संभवतः सजातीय थे। दोनों के बीच वैवाहिक संबंधों के भी उदाहरण मिलते हैं। यक्षों के राजा कुवेर रावण के सौतेले भाई थे और दोनों विश्रवा मुनि की संतान थे, किंतु रावण ने साम्राज्य-वादी महत्त्वाकांक्षाओं से प्रेरित होकर यक्षों के साथ शत्रुता ठान ली। लंका मूलतः कुवेर की राजधानी थी। प्रारंभ में ये दोनों जातियां दक्षिण भारत में निवास करती थीं, जहां से यक्षों को उनके क्रूर बंधुओं ने धीरे-धीरे उत्तर की ओर खदेड़ दिया।[2] बाद के संस्कृत-ग्रंथों में यक्षों को देवयोनि के अंतर्गत माना गया है। यक्षों की एक और समकालीन जाति सर्प-चिह्नवाले नागों की थी। यह भी दक्षिण भारत में पनपी थी। नागों ने लंका के कुछ भागों पर ही नहीं, वरन् प्राचीन मलाबार प्रदेश पर भी अधिकार जमा रखा था। स्पष्टतः यह एक समुद्री जाति थी। रामायण में सुरसा को नागों की माता और समुद्र को उनका अधिष्ठान बताया

---

१. एस० वी० विश्वनाथ—'रेशियल सिंथेसिस आफ हिंदू कल्चर', पृ० ८६

२. चिंतामणि विनायक वैद्य—'द रिडिल आफ द रामायण', पृ० ९९

चित्र १—यक्षिणी (पटना, मौर्यकाल, चौथी-तीसरी शताब्दी ई०पू०)

गया है।[1] महेंद्र और मैनाक पर्वतों की गुफाओं में भी नाग निवास करते थे। हनुमान् द्वारा समुद्र लांघने की घटना को नागों ने प्रत्यक्ष देखा था।[2] नागों की स्त्रियां अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध थीं।[3] रावण ने कई नाग-कन्याओं का अपहरण किया था।[4] नागों की राजधानी भोगवती नगरी पर आक्रमण करके उसने वासुकि, तक्षक, शंख और जटी नामक प्रमुख नागों को परास्त किया था (७।२३।५; ६।७।६; ३।३२।१४)। कालांतर में नाग-जाति चेर-जाति में विलीन हो गई, जो ईस्वी सन् के प्रारंभ में प्रभुत्व-संपन्न हुई थी।[5]

---

१. सुरसां नागमातरम्। ५।१।१३७; भुजगाः सागरंगमाः। ५।१।७३
२. नागाश्च तुष्टुवुः...प्रेक्ष्य सर्वे कपिवरं सहसा विगतक्लमम्। ५।१।८४
३. नागकन्या वरारोहाः पूर्णचन्द्रनिभाननाः। दृष्टा हनुमता तत्र... ॥ ५।१२।२१
४. प्रमथ्य राक्षसेन्द्रेण नागकन्या बलाद्धृताः। ५।१२।२२
५. वी०आर० रामचन्द्र दीक्षितार—'साउथ इंडिया इन द रामायण' (सप्तम ओरिएंटल कान्फ्रेंस का विवरण, १९३३)

जहां तक असुरों का प्रश्न है, रामायण में उनको और राक्षसों को पृथक्-पृथक् माना गया है, यद्यपि बाद के पुराणों में दोनों को एक ही जाति बताया गया है। असुरों की माता का नाम दिति था, जो देवों की माता अदिति की सौत थी। असुर लोग ऋषि-मुनियों के द्वेषी, मांस-भक्षी और ब्रह्म-हत्यारे थे। वातापि और इल्वल उनके मुखिया थे, जो अगस्त्य के हाथों मारे गए (३।११।५५-६६)। दंडकाराण्य के ऋषियों ने असुरों को मारने के लिए राम से प्रार्थना की थी।[1] वाल्मीकि ने असुरों को पाताल के निवासी और अधर्म के पोषक के रूप में अंकित किया है।[2] देवों और राक्षसों, दोनों से असुरों की अनबन रहती थी। दशरथ ने एक बार दंडकारण्य में जाकर असुरों पर धावा बोला था, जिसमें अपने प्राण बचाने के लिए उन्होंने कैकेयी को दो वर दिये थे(२।६।११-७)। जब हनुमान् के मारने पर रावण अचेत होकर गिर पड़ा, तब असुर बड़े प्रसन्न हुए थे।[3] देवों के सौतेले भाई होने के कारण असुरों भी आर्य-श्रेणी में गिना जा सकता है।

उपर्युक्त जातियों के अतिरिक्त रामायण में देवों, गंधर्वों, चारणों, सिद्धों, किन्नरों और अप्सराओं की भी चर्चा आती है। जब कभी कवि किसी आश्चर्य-जनक घटना को देखने के लिए इकट्ठे हुए जन-समूह का आभास कराना चाहता है, तब वह इन जातियों का सामूहिक रूप से उल्लेख करता है। देवों को जहां स्वर्ग के देवता माना गया है, वहां वे पृथ्वी पर रहते हुए तथा पार्थिव रमणियों के प्रति आकृष्ट होते हुए भी पाये जाते हैं। आर्यों के यज्ञों में देवों का एक भाग नियत रहता था। राक्षस उनके चिर शत्रु थे और वे प्रायः राक्षसों के विनाश का उपाय ढूंढ़ने में ही व्यस्त दीख पड़ते हैं।

---

१. वसतस्तस्य रामस्य वने वनचरैः सह। ऋषयोऽभ्यागमन् सर्वे वधायासुररक्षसाम्॥ ११४३-४

२. त्वमिहासुरसंघानां देवराज्ञा महात्मना। पातालनिलयानां हि परिघः संनिवेशितः॥ ५।१।९३; अधर्मो रक्षसां पक्षो ह्यसुराणां च राक्षस। ४।३५।१३

३. विसंज्ञं रावणं दृष्ट्वा समरे भीमविक्रमम्। ऋषयो वानराश्चैव नेदुर्देवाश्च सासुराः॥६।५९।११५-६

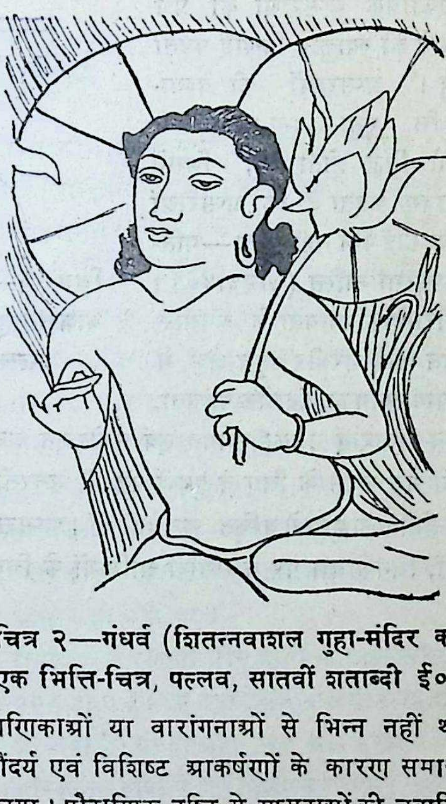

चित्र २—गंधर्व (शितन्नवाशल गुहा-मंदिर का एक भित्ति-चित्र, पल्लव, सातवीं शताब्दी ई०)

गंधर्व लोग अलौकिक संगीतज्ञों के रूप में समादृत थे। गंधर्वों के गीतों, अप्सराओं के नृत्यों और पुष्पों की वृष्टि के बिना किसी भी समारोह का वर्णन कवि की दृष्टि में मानो संभव ही नहीं। किन्नर एक स्त्रैण जाति थी, जो सदा शृंगारिक गीतों और क्रीड़ाओं में मग्न रहती थी। सिद्धों और चारणों को वाल्मीकि ने अंतरिक्ष के निवासी बताया है, जो वीरतापूर्ण कृत्यों के संपादन पर प्रशंसा की बौछार किया करते थे।

रामायण में अप्सराओं का बारंबार उल्लेख आता है। सच पूछा जाय तो वे गणिकाओं या वारांगनाओं से भिन्न नहीं थीं और प्रतीत होता है कि उनके सौंदर्य एवं विशिष्ट आकर्षणों के कारण समाज उन्हें स्वर्ग की सुंदरियां समझने लगा। पौराणिक दृष्टि से अप्सराओं की उत्पत्ति समुद्र-मंथन से हुई, पर यह उल्लेखनीय है कि उनको न देव और न दानव ही पत्नी-रूप में ग्रहण करने को तैयार हुए, जिससे वे साधारणाः (सबके लिए सुलभ) स्त्रियां बन गईं—

न ताः स्म प्रतिगृह्णन्ति सर्वे ते देवदानवाः।
अप्रतिग्रहणादेव ता वै साधारणाः स्मृताः ॥१।४५।३५

रावण द्वारा अनेक अप्सराओं के उपभोग का वर्णन आता है। कहीं कोई अप्सरा एकाधिक देवों के प्रति अनुरक्त पाई जाती है तो कहीं कोई देव

चित्र ३—नृत्यशील अप्सरा (शितन्न-वाशल गुहा-मंदिर का एक भित्ति-चित्र, पल्लव, सातवीं शताब्दी ई०)

एकाधिक अप्सराओं का प्रेम पाने को व्याकुल दिखाई पड़ता है।[1] अप्सराओं की वेश्या-वृत्ति रंभा-रावण-प्रसंग से भी सिद्ध होती है, जिसमें रावण कहता है कि अप्सराओं का कोई पति नहीं होता—**पति-रप्सरसां नास्ति** (७।२६।४०)। पौराणिक मान्यता के अनुसार, जब कोई शूरवीर युद्ध-क्षेत्र में प्राण त्यागकर इंद्रलोक पहुंचता, तब अप्सराएं उसका स्वागत एवं मनोरंजन करती थीं।[2] ऋषि-मुनियों के संयम को भंग करने के लिए वे पृथ्वी पर भी उतरती थीं और उन्हें अनवरत तपस्या से होनेवाले पुण्य से वंचित कर देती थीं। अप्सराएं नृत्य-गान में विशेष दक्ष होती थीं, जिनके बल पर वे संसारी प्राणियों के चित्त को लुभाया करती थीं:

१, उदाहरणार्थ. मित्र की तृप्ति के लिए जाती हुई उर्वशी से वरुण प्रणय-याचना करते हैं (७।५६।१५-६); सुराणां न चैकस्त्रीपरिग्रहः। ७।२६।४०

२. रूपयौवनदृप्तानां दक्षिणानां च मानद। नूनमप्सरसामार्य चित्तानि प्रमथिष्यसि ॥ ४।२०।१३; न ह्येष उच्चावचताम्रचूडा विचित्रवेषा-प्सरसोऽभजिष्यत्। ४।२४।३४

: ३ :

राक्षस

वाल्मीकि ने मुख्यत: उत्तरी भारत की आर्य-सभ्यता का चित्रण किया है। प्रसंगवश उन्होंने ऐसी अन्य जातियों की संस्कृति पर भी प्रकाश डाला है, जिनके संपर्क में आर्य लोग दक्षिण की ओर बढ़ते समय आये थे। ये जातियां धन-वैभव में बढ़ी-चढ़ी होने पर भी वास्तव में भारत की आदिम जातियां थी, जो आर्यों का सहयोग अथवा विरोध करने के कारण दिव्य अथवा दुष्ट योनियां बन गई।[1] इन्हें भारत की मूल द्रविड़ जातियां माना जा सकता है, जिन्होंने अपने पृथक् राज्य स्थापित कर लिए और जिनकी अपनी पृथक् संस्कृति और राज्य-व्यवस्था थी। इन जातियों में मुख्य रूप से उल्लेखनीय राक्षस और वानर हैं। इनके अतिरिक्त आंध्र, पुंड्र, चोल, पांड्य और केरल-जैसे राज्यों का भी उल्लेख आता है (४।४१।१२), पर इनके बारे में विस्तृत जानकारी नहीं मिलती, जिसका कारण संभवत: यह था कि कवि लंका जानेवाले एक मार्ग-विशेष का वर्णन कर रहा था और इसलिए इन राज्यों की विस्तार से चर्चा करने का उसे अवसर ही नहीं था।[2]

राजनीतिक दृष्टि से वाल्मीकि-रामायण में राक्षसों और आर्यों के पारस्परिक संघर्ष का सर्वप्रथम विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इस नाते उसमें राक्षसी सभ्यता का भी अपेक्षाकृत विस्तार से वर्णन आ गया है। यों तो महाभारत और पुराणों में भी राक्षसों का उल्लेख हुआ है, किंतु सांस्कृतिक दृष्टि से वह विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं, क्योंकि उनके समय में राक्षसों की शक्ति अस्तोन्मुख अथवा लुप्तप्राय हो चुकी थी। यह तो रामायण का ही युग था, जिसमें राक्षसों की चरम उन्नति और चरम अवनति दोनों लक्षित होती हैं और इसीलिए वाल्मीकि-कृत राक्षसों के वर्णन का अपना विशेष महत्त्व है।

---

१. चिंतामणि विनायक वैद्य—'द रिडिल आफ द रामायण', पृ० ९४

२. वी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार—'साउथ इंडिया इन द रामायण' (सप्तम ओरिएंटल कान्फ्रेंस का विवरण, १९३३)

रामायण में राक्षसों की तीन शाखाओं का स्पष्ट रूप से पता चलता है, जिनमें प्रत्येक का अपना अलग वंश था, यद्यपि ये सभी राक्षसों के सामान्य नाम से जानी-पहचानी जाती थीं। इनमें से पहली विराध-शाखा थी, जो दंडकारण्य के उत्तरी भाग में रहती थी। इस शाखा का मुखिया विराध नामक राक्षस था, जिसके कथनानुसार जव और शतह्रदा उसके पूर्वज थे। विराध की आकृति बड़ी भयानक थी। राम-लक्ष्मण के हाथों उसका वध हुआ था (३।२-३)। राक्षसों की दूसरी शाखा दनु की संतति होने के कारण दानवों के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस शाखा का प्रतिनिधि कवंध राक्षस था। उसकी आकृति बड़ी विचित्र थी; उसके भुजपाश में आनेवाला प्रत्येक प्राणी उसका आहार बन जाता था। उसकी मृत्यु होने पर लक्ष्मण ने उसका शव एक गड्ढे में डालकर जला दिया था (३।६९।२७-३३;७२।२-४)। रावण ने दानवों के कई सरदारों का वध किया था (हन्तारं दानवेन्द्राणाम्)। राक्षसों की इन दो शाखाओं के बारे में, उनके अंतिम संस्कारों के अतिरिक्त, और कोई जानकारी नहीं दी गई है। तीसरी शाखा, जो 'राक्षस' अथवा 'रक्ष' के नाम से विख्यात थी, सबसे अधिक क्रूर और शक्तिशाली थी। उसके अंतर्गत लंका के निवासी गिने जाते थे, जो पुलस्त्य और दिति के वंशज रावण के अधीन थे। लंका के राक्षसों का वाल्मीकि ने, विशेषतः सुंदरकांड में, विस्तार से वर्णन किया है, जिसके अध्ययन से उनके सामाजिक और राजनीतिक जीवन के विविध पक्षों का स्पष्ट परिचय मिल सकता है।

उत्तरकांड (सर्ग ४-११) में महर्षि अगस्त्य ने राक्षसों की उत्पत्ति और उनके विस्तार का इस प्रकार वर्णन किया है—प्रजापति ब्रह्मा ने जल की सृष्टि करके उसकी रक्षा के लिए प्राणियों की उत्पत्ति की। इनमें से कुछ, जो क्षुधा-पीड़ित थे, बोल उठे—'हम रक्षा करेंगे' (**रक्षामः**); और दूसरे, जो भूखे नहीं थे, बोले—'हम यज्ञ करेंगे' (**यक्षामः**, ७।४।१३)। ब्रह्मा ने इन दोनों प्रकार के प्राणियों को क्रमशः राक्षस और यक्ष की संज्ञा दी।

राक्षसों के वंश में विद्युत्केश नामक एक यशस्वी राजा हुआ, जिसने संध्या की पुत्री सालकटंकटा से विवाह किया। उसके सुकेश नामक एक पुत्र हुआ, जिसके पैदा होते ही कामोन्मत्त सालकटंकटा ने उसे त्याग दिया। शिव-पार्वती ने कृपापूर्वक सुकेश की रक्षा की तथा उसे दीर्घ जीवन और एक आकाशगामी विमान प्रदान किया। सुकेश के तीन पुत्र हुए—माल्यवान्, सुमाली और माली। बड़े होकर ये

तीनों क्रूर और दुर्धर्ष वीर निकले। उन्होंने सुरों और असुरों दोनों को परास्त करके भगा दिया। फिर वे अपने साथियों को लेकर लंका के दुर्भेद्य दुर्ग में जा बसे। राक्षसों के उत्पात से पीड़ित होकर देवों ने विष्णु से सहायता की याचना की। विष्णु ने राक्षसों को मार भगाया। तब वे अपनी स्त्रियों और अपने अनुयायियों-सहित लंका छोड़कर रसातल में सालकटंकटा-जाति के बीच बस गए।

कुछ समय बाद सुमाली रसातल छोड़कर भारत के मैदानी भाग में आया, जहां उसकी पुत्री कैकसी ने सायंकाल की वेला में विश्रवा मुनि से संतान की याचना की। तत्पश्चात् कैकसी ने काजल जैसे काले रावण, विशालकाय कुंभकर्ण, विकराल शूर्पणखा और धर्मात्मा विभीषण को जन्म दिया। रावण और कुंभकर्ण बचपन से ही अत्याचारी थे, पर विभीषण सदा धर्म में स्थित रहते, स्वाध्याय करते और संयत जीवन व्यतीत करते थे। रावण ने दीर्घ समय तक कठोर तपस्या की, जिससे प्रसन्न होकर ब्रह्मा ने उसे अजेय होने का वर प्रदान किया। अपने नाना सुमाली से उकसाये जाने पर रावण ने कुबेर को लंका छोड़ने के लिए विवश कर दिया और तब से लंका राक्षस-साम्राज्य की राजधानी बन गई। रावण के शासन-काल में राक्षसों ने अपनी पाशविक शक्ति और प्रचुर साधनों के बल पर भारतीय प्रायद्वीप के समुद्री भागों पर अधिकार स्थापित कर लिया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लंका-विजय से पहले राक्षसों के राजनीतिक इतिहास में कई उतार-चढ़ाव आ चुके थे। उनकी उत्पत्ति के पौराणिक वर्णन से यह अनुमान होता है कि वे समुद्र-तट के निवासी और जलीय प्रदेशों के संरक्षक थे। यक्षों की तुलना में वे पेटू और अभक्ष्यभक्षी थे। उनका प्रधान निवास-स्थान भारत का दक्षिणी समुद्री किनारा और लंका-द्वीप था। इस जाति के कुछ अवशेष आज भी अंडमान, बोर्नियो, सुंद तथा भारतीय महासागर के अन्य द्वीपों में पाये जाते हैं। यह भी उल्लेख्य है कि रावण मातृ-पक्ष की ओर से सालकटंकटा के वंश में उत्पन्न हुआ था। श्री चिंतामणि विनायक वैद्य के अनुसार इस नाम में निस्संदेह एक आदिवासीपन झलकता है और यह माना जा सकता है कि इस नाम की एक नर-भक्षक जाति राम से पूर्व ही लंका में रहती थी।[1]

लंका-दुर्ग को हस्तगत करके रावण त्रैलोक्य-विजय की महत्त्वाकांक्षा से

१. 'द रिडिल ऑफ द रामायण', पृ० ६६-१००

अपनी सेना लेकर निकल पड़ा और उसने भूमंडल के समस्त ज्ञात भागों में लूटमार का भयंकर आतंक मचा दिया। एक अजेय धनुर्धर के रूप में सर्वत्र उसका लोहा माना जाने लगा। एक नगर से दूसरे नगर को वह कूच करता और वहां के राजाओं को चुनौती देता कि या तो मुझसे लड़ाई मोल लो या अपनी हार स्वीकार करो— **युद्धं मे दीयतामिति निर्जिताः स्मेति वा ब्रूत** (७।१६।२-३)।

रावण ने अपने साम्राज्यवादी अभियान का आरम्भ यक्षों पर प्रबल आक्रमण करके किया। उन्हें जीतकर उसने कुबेर को द्वंद्व-युद्ध में परास्त किया और युद्ध की लूट के रूप में उनका विख्यात 'पुष्पक'-विमान छीन लिया। मनुष्य-लोक को अधीन करके रावण ने यमपुरी पर आक्रमण किया और रसातल की ओर अपना विमान मोड़कर वह समुद्र के ऊपर से निकला। मार्ग में उसने वासुकि की राजधानी भोगवती को सर किया। तत्पश्चात् वह निवातकवच की मणिन्मयी में पहुंचा, किंतु प्रारंभिक युद्ध के बाद, ब्रह्मा के हस्तक्षेप करने पर, उसने उससे संधि कर ली। फिर कालिय दैत्य के अश्मनगर में पहुंचकर उसे अपने अधीन किया। अंत में वह अपना विमान क्षीरसागर के तट पर स्थित वरुणालय पर ले गया। वरुण-पुत्रों को पराजित कर वह उसी मार्ग से लंका लौट गया जिससे वह आया था। पाताल-लोक पर रावण का वह धुआंधार हमला शीघ्रता, आकस्मिकता और प्रभावोत्पादकता की दृष्टि से एक आधुनिक हवाई आक्रमण के समान जान पड़ता है।

इसके बाद रावण ने इंद्रलोक जीतने की ठानी। अपने बहनोई मधु के साथ उसने सुरलोक पर धावा बोला। देवों और राक्षसों के बीच एक घमासान युद्ध हुआ। रावण के पुत्र मेघनाद ने छद्म युद्ध करके देव-सेना में भीषण आतंक मचा दिया और देवराज इंद्र की धरपकड़ कर ली। इस घटना से रावण का नाम समस्त भूमंडल पर भय-मिश्रित आदर के साथ लिया जाने लगा। ब्रह्मा के बीच-बचाव करने पर ही देवराज मुक्त हो सके।

अनार्यों में वानरराज वाली एकमात्र ऐसा व्यक्ति था, जिसने साम्राज्यवादी रावण का सफलता से मुकाबला किया। कहते हैं कि वाली ने रावण को अपनी बगल में दबोचकर पशु की भांति चारों समुद्रों तक घुमाया था (**येनाहं पशुवदगृह्य भ्रमितश्चतुरोऽर्णवान्**, ७।३४।३७)। रावण ने अपने प्रतिद्वंद्वी का लोहा मानकर उससे संधि कर ली। अतएव राम के समक्ष वाली की यह दर्पोक्ति उचित ही थी कि यदि आपने मुझसे पहले कहा होता तो मैं आपकी भार्या का अपहरण करनेवाले उस

दुरात्मा राक्षस के गले में रस्सी बांधकर उसे ले आता।[1] वस्तुतः वाली के अंकुश से ही दक्षिण में रावण की साम्राज्य-लिप्सा नियंत्रित रह सकी थी।

राजनीतिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण राक्षसों और आर्यों का संघर्ष था। सुप्रसिद्ध राम-रावण-युद्ध से पहले भी इन दोनों जातियों के बीच संघर्ष की अनेक घटनाएं हो चुकी थीं। रसातल-विजय के बाद रावण ने पंचवटी के समीप जनस्थान में अपनी उत्तरी सैनिक-चौकी स्थापित की, जहां उसने खर-दूषण के सेनापतित्व में चौदह हजार राक्षसों की सेना रख छोड़ी थी। यहां से ये लोग गंगा-यमुना के मैदान तक धावा बोला करते थे। उत्तरी भारत के कुछ भागों पर राक्षसों ने आधिपत्य भी जमा रखा था। रावण का भतीजा लवणासुर यमुना पर स्थित मधुपुरी (मथुरा) नगरी का शासक था। ताटका और उसके पुत्र मारीच ने, जो रावण के ही संबंधी थे, सोन और गंगा नदियों के बीच के प्रदेश पर अधिकार कर रखा था, जो उन दिनों 'मलद' और 'करूष' के नाम से ख्यात था। विश्वामित्र के आश्रम में राक्षस लोग उत्पात मचाकर उनका यज्ञ-समारंभ भंग कर दिया करते थे। बलि को पराजित करने के संकल्प से वामन ने सिद्धाश्रम में तपस्या की थी। ये दोनों आश्रम गंगा के उत्तर में अयोध्या और मिथिला के मार्ग में पड़ते थे। इससे स्पष्ट है कि राक्षस उत्तरी भारत में कितनी दूर-दूर तक अपना आतंक फैलाया करते थे। आर्यावर्त के राजाओं को भी रावण ने नहीं छोड़ा। उसका आक्रमण महमूद गजनवी और महमूद गोरी के हमलों के समान था, जिनके सामने उत्तर भारत के हिंदू राजा एक-एक करके धराशायी होते गए। केवल माहिष्मती-नरेश कार्तवीर्य अर्जुन के आगे रावण को मुंह की खानी पड़ी। संधि करके उन्हें रावण ने अपने पक्ष में मिला लिया। अन्य सभी आर्य-नृपति—दुष्यंत, सुरथ, गाधि, गय और पुरूरवा—लंकेश के संमुख नतमस्तक थे। अयोध्या पर भी रावण ने दो बार आक्रमण किया—एक बार अनरण्य के शासन-काल में और दुबारा मांधाता के राज्य-काल में। अनरण्य रावण के हाथों काम आये और मांधाता ने राक्षसराज से संधि कर ली। स्वयं दशरथ ने यह स्वीकार किया था कि मैं रावण का युद्ध में सामना करने में असमर्थ हूं—न हि शक्तोऽस्मि संग्रामे स्थातुं तस्य दुरात्मनः (१।२०।२०)। इस प्रकार आर्य-प्रभुत्व का गौरवशाली

---

१. मामेव यदि पूर्वं त्वमेतदर्थमचोदयः।...राक्षसं च दुरात्मानं तव भार्यापहारिणम्। कण्ठं बद्ध्वा प्रदद्यां ते निहतं रावणं रणे ॥४।१७।४९-५०

सूर्य रावण के पशु-बल के समक्ष अस्तप्राय हो चुका था। वाल्मीकि कहते हैं कि 'रावण को आते देखकर सूर्य अपनी उष्णता कम कर देता, पवन वेग से न चलता, समुद्र गर्जन-तर्जन रोक देता, नदियां धीरे-धीरे बहने लगतीं और पर्वत अपनी कठोरता भूल जाते—रावण की उपस्थिति में समस्त प्रकृति भय के मारे कुण्ठित-सी हो जाती थी।' किसी व्यक्ति के आतंक का इससे बढ़कर वर्णन और क्या हो सकता है!

राक्षसों और आर्यों की इस शत्रुता का प्रधान कारण उनका एक-दूसरे के क्षेत्रों में घुसने का प्रयास था। जहां राक्षस अपना राजनीतिक प्रभाव आर्यों के प्रदेशों पर फैलाना चाहते थे, वहां आर्य भी दक्षिण भारत में अपना विस्तार करने पर तुले हुए थे। दक्षिण की ओर आर्यों के प्रसार में एक बड़ी बाधा दुर्गम विंध्य-पर्वतमाला थी। उसे पार करने का श्रेय अगस्त्य मुनि को मिला, जो दक्षिण में आर्यों की बस्तियां स्थापित करने में अग्रगामी थे। विंध्य के बीहड़ वनों में होते हुए वह दक्षिण में दूर तक चले गए; जनस्थान के निकट गोदावरी के ऊपरी तटों के पास, दंडकारण्य में, उन्होंने आर्यों के एक आश्रम-मंडल की स्थापना की। अगस्त्य एक तपस्वी होने के साथ-साथ शस्त्रास्त्रों से संपन्न भी थे; उन्होंने स्वयं राक्षसों से मोर्चा लिया और दक्षिण-प्रदेश को निशाचरों के आतंक से मुक्त कर दिया।[1] अगस्त्य का अनुसरण करके अनेक ऋषि-मुनि दक्षिण में जाकर बस गए और राम के समय में, गोदावरी के उत्तर में, आर्यों के अनेक समृद्धिशाली आश्रम बने हुए थे। ये आश्रम एक प्रकार से दक्षिण में आर्य-प्रसार के अग्रिम संनिवेश ही थे।

यों तो आर्यों और राक्षसों के बीच छुटपुट झगड़े देश के कई भागों में होते रहते थे, पर गोदावरी नदी के स्रोत के निकटवाला प्रदेश, जहां आर्यों की बस्ती दंडकारण्य और राक्षसों की चौकी जनस्थान पास-पास थीं, उनके आपसी संघर्ष का प्रमुख रंगमंच था। महाराज दशरथ भी कई बार इस मोर्चे पर लड़ने गए थे। मंदाकिनी (चित्रकूट) से लेकर पंपा तक के प्रदेश में राक्षसों ने भीषण उत्पात मचा रखा था।[2]

---

१. निगृह्य तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया। दक्षिणा दिक्कृता येन शरण्या पुण्यकर्मणा ॥३।११।८१

२. पम्पानदीनिवासानामनुमन्दाकिनीमपि। चित्रकूटालयानां च क्रियते कदनं महत् ॥३।६।१७

इंद्र की पराजय के बाद राक्षसों से जूझने का जो उत्तरदायित्व अगस्त्य पर आ पड़ा, उसे उन्होंने भारत के राजनीतिक गगन में राम के आविर्भाव के बाद इन्हीं को सौंप दिया; और इसमें कोई संदेह नहीं कि राक्षसों से लोहा लेनेवालों में राम अपने युग के सर्वश्रेष्ठ आर्य योद्धा थे। बचपन से ही उन्होंने अपने बल-वीर्य और शस्त्रास्त्रों का उपयोग राक्षसी आक्रमणों से आर्य-ऋषियों की रक्षा करने में किया, जैसाकि सोलह वर्ष की आयु में उनके विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षार्थ जाने से प्रकट है। अपने वनवास-काल में जब राम ने दंडकारण्य में प्रवेश किया, तब राक्षसों से त्रस्त वहां के ब्राह्मणों और ऋषि-मुनियों ने उनके आगमन का एक वरदान के रूप में स्वागत किया। राम के साथ रावण के युद्ध का प्रत्यक्ष कारण लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा का विरूपीकरण था, जिसमें रावण द्वारा सीता के अपहरण ने मानो आग में घी का काम किया। वास्तव में यह युद्ध आर्यों और राक्षसों की चिरकालीन शत्रुता की चरम परिणति था; और लंका-युद्ध में रावण के वध के बाद भारत की राजनीति में राक्षसों का महत्त्व सदा के लिए मिट गया।

राक्षसों के रूप-रंग के बारे में हमारे बीच परंपरा से एक विचित्र धारणा प्रचलित रही है, जिसका वर्णन इतिहास-पुराणों में भी पाया जाता है। उसके अनुसार राक्षस लोग काली-मोटी देह, बिखरे बाल, लपलपाती जीभ, पर्वताकार डीलडौल, अंगारों के समान आंखें, तीखे नख और रोएं, टेढ़े-मेढ़े दांत, डरावनी और आगे को निकली हुई ठोढ़ी, फैला हुआ मुंह आदि विशेषताओंवाले विकराल प्राणी होते थे। कुछ राक्षसों के अंग-प्रत्यंग कवंध की तरह विकृत होते थे—मस्तक-रहित धड़, छाती में एक आंख, पेट में एक भयंकर मुंह और दो लंबी फैली हुई भुजाएं (३।६९।२६ ३२)। राक्षसी स्त्रियों की विकरालता भी ऐसी ही रोंगटे खड़े कर देनेवाली थी। ताटका एक बड़े भयानक आकार-प्रकार की स्त्री थी। अयोमुखी कुरूप मुंह, लंबे पेट, तीखे दांत और रूखी त्वचावाली महाकाय राक्षसी थी। रावण ने सीता को डराने के लिए उनके चारों ओर भयानक राक्षसियां तैनात कर रखी थीं।

किंतु रामायण में ऐसे स्थल अपेक्षाकृत कम ही हैं, जिनमें राक्षसों की विकरालता या कुरूपता का आग्रह किया गया हो; अन्यथा वे प्रायः सामान्य मनुष्यों की तरह ही चित्रित किये गए हैं। राक्षसों को भयानक या विकराल संभवतः इसलिए बताया गया कि वे आर्य-जाति के जन्मजात और वंशगत शत्रु थे। ग्रिफिथ महोदय

के अनुसार, 'रामायणकार ने राक्षसों का संबोधन एक विरोधी और घृणास्पद जाति के लिए किया है और यह नाम विशुद्ध ऐतिहासिक न होकर मात्र घृणा का सूचक है; संसार की सभी जातियों की पौराणिक कथाओं में दैत्य और पिशाच भयानक और अप्राकृतिक रूपवाले वर्णित किये गए हैं।' सीता पर पहरा देने-वाली विकराल राक्षसियों के वर्णन से यह सूचित होता है कि रावण ने अपने यहां कुरूप आकृतियोंवाली स्त्रियां रख छोड़ी थीं।[1] ऐसी भद्दी औरतों से लगातार घिरे रहने के कारण बेचारी सीता के मन पर उनका आतंक जम गया होगा। अतः कोई आश्चर्य नहीं, यदि आगे चलकर राक्षसों और राक्षसियों की कुरूपता के बारे में एक अतिशयोक्तिपूर्ण धारणा प्रचलित हो गई हो।

इतना तो निश्चित है कि राक्षस-जाति के लोग बड़े बलशाली, कद में ऊंचे और भारी-भरकम शरीरवाले होते थे। उनका रूप-रंग अवश्य ही काला-कलूटा रहा होगा, जैसाकि आज भी दक्षिण भारत के अधिकांश निवासियों का पाया जाता है। वाल्मीकि ने अनेक स्थलों पर आर्यों के गौर वर्ण की तुलना में राक्षसों के कृष्ण वर्ण का उपमापूर्ण वर्णन किया है।[2] फिर भी सभी राक्षस भद्दे या कुरूप नहीं थे। उनके अंग-प्रत्यंग नियमित और सुंदर-सुडौल भी होते थे। रात्रि के समय लंका में विचरण करते हुए हनुमान् को सुरूप और कुरूप दोनों प्रकार के नर-नारी दिखाई पड़े थे (विरूपान् बहुरूपाँश्च सुरूपाँश्च सुवर्चसः, ५।२।२०)। रावण की पटरानी मंदोदरी एक 'चारुरूपिणी, गौरी, कनकवर्णा' सुंदरी थी (५।१०।५२), जिसकी ओर हनुमान् का ध्यान हठात् आकृष्ट हो गया था। स्वयं रावण का व्यक्तित्व बड़ा भव्य और सुंदर था (६।१११।३४-६)।

राक्षसों के सामान्य मनुष्य होने का प्रमाण युद्धकांड में मिलता है, जहां राम वानरों से कहते हैं कि तुम लोगों में से कोई भी मनुष्य का रूप धारण करके न

---

१. इसी प्रकार कैकेयी के महल में भी विरूपा, कुबड़ी और नाटी स्त्रियां रखी गई थीं—कुब्जावामनिकायुतम्। २।१०।१३

२. उदाहरणार्थ—सा हेमवर्णा नीलांगं मैथिली राक्षसाधिपम्। शुशुभे काञ्चनी काञ्ची नीलं गजमिवाश्रिता ॥३।५२।२३; अर्थात् सोने के समान रंगवाली सीता काले-कलूटे रावण को वैसे ही सुशोभित कर रही थीं, जैसे काले हाथी को सोने की करधनी।

लड़े, जिससे हमारे पक्ष में (मैं, लक्ष्मरण तथा विभीषरण और उनके चार अनुयायी इन्हें मिलाकर) कुल सात मनुष्य होंगे और तुम इनके अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य को निःशंक होकर मृत्यु के घाट उतार सकते हो।[1] इससे यह ध्वनित होता है कि विभीषरण और उनके समान रावरण की ओर के सभी राक्षस मनुष्य-रूप थे। हनुमान् का रावरण की राक्षसी पत्नी मंदोदरी को सीता समझ लेना इस बात का प्रमारण है कि राक्षसों और सामान्य मनुष्यों की आकृतियों में कोई अंतर नहीं था।

जन-मानस और कला के क्षेत्रों में रावरण के विषय में यह धाररणा रूढ़ हो गई है कि वह 'दशानन' (दस मुंहवाला), 'दशशीर्ष' (दस सिरोंवाला), 'दशग्रीव' (दस गर्दनोंवाला) तथा 'विंशतिभुज' (बीस भुजाओंवाला) एक विचित्र व्यक्ति था। प्रस्तर-कला के प्राचीन नमूनों में रावरण के अनेक सिर और हाथ प्रदर्शित किये गए हैं। दस मुंहवाला कोई भी विकृत मानव-चित्र रावरण मान लिया जाता है। यद्यपि वाल्मीकि-रामायरण में (उत्तरकांड को छोड़कर) कुछ स्थलों पर रावरण के इस विकृत स्वरूप की पुष्टि होती है, तथापि अनेकानेक स्थलों पर इसका विरोध भी मिलता है, और वह एक सिर, एक गर्दन, दो हाथ और दो आंखोंवाले सामान्य मनुष्य के रूप में चित्रित किया गया है।

जब हनुमान् ने रावरण को लंका में पहले-पहल देखा, तब वह अपने अंतःपुर में सोया हुआ था। रावरण की दोनों भुजाएं इंद्रध्वज के समान फैली हुई थीं। हनुमान् को रावरण का एक ही बड़ा मुंह और एक ही बड़ा चेहरा दिखाई दिया। इस वर्णन में वाल्मीकि ने भुजाओं के लिए द्विवचन तथा मुंह के लिए एकवचन प्रयुक्त किया है।[2] राक्षसों के संबंध में यह मान्यता प्रचलित है कि वे सोते समय और मरने के बाद अपने असली रूप में आ जाते हैं। क्योंकि हनुमान् ने रावरण को सोते हुए पाया था, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि रावरण ने इस समय कोई छद्म रूप धाररण कर लिया था।

---

१. न चैव मानुषं रूपं कार्यं हरिभिराहवे। वयं तु मानुषेणैव सप्त योत्स्यामहे परान्॥ अहमेव सह भ्रात्रा लक्ष्मणेन महौजसा। आत्मना पंचमश्चायं सखा मम विभीषणः॥६।३७।३५

२. विक्षिप्तौ राक्षसेन्द्रस्य भुजाविन्द्रध्वजोपमौ। ५।१०।१५; तस्य राक्षसराजस्य निश्चक्राम महामुखात्। ५।१०।२४; कुण्डलोज्ज्वलिताननम्। ५।१०।२५

उक्त स्थल की टीका करते हुए तिलक टीकाकार ने लिखा है कि क्योंकि यहां कवि रावण की दो भुजाओं का उल्लेख करता है, अतः यह समझना चाहिए कि युद्ध के समय वह दस सिर और बीस भुजाएं धारण कर लेता था।[1] किंतु हम देखेंगे कि इसका प्रमाण भी प्रायः नहीं मिलता।

रावण के अनुचित प्रेम-प्रस्ताव करने पर सीता ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा था—"अनार्य, मुझ पर दृष्टि डालते हुए तेरी ये दोनों क्रूर और विकारयुक्त काली-पीली आंखें निकलकर पृथ्वी पर क्यों नहीं गिर पड़तीं ?"—

इमे ते नयने क्रूरे विकृते कृष्णपिंगले ।
क्षितौ न पतिते कस्मान्मामनार्य निरीक्षतः ॥ ५।२२।१८

(यहां आंखों के लिए द्विवचन प्रयुक्त हुआ है और बाद के श्लोकों में भी उसकी पुनरावृत्ति हुई है।) तब रावण ने सीता की ओर आंखें तरेरकर देखा और मंदर पर्वत के समान अपनी दोनों विशाल परिपूर्ण बाहें फैलाकर वह गर्व से खड़ा हो गया (५।२२।१७)। जब सीता की राक्षसी पहरेदारनियों ने जाकर रावण को सूचना दी कि हनुमान् ने अशोकवाटिका का विध्वंस कर डाला है, तब रावण प्रज्व-लित चिता की भांति क्रोध से जल उठा और उसके दोनों क्रुद्ध नेत्रों से आंसू की बूंदें वैसे ही टपकने लगीं जैसे दो जलते हुए दीपकों में से तेल की बूंदें गिरती हों—

तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्यां प्रापतन्नश्रुबिन्दवः ।
दीप्ताभ्यामिव दीपाभ्यां सार्चिषः स्नेहबिन्दवः ॥ ५।४२।२३

टीकाकार का यह कथन कि युद्ध-क्षेत्र में रावण दस सिर और बीस भुजाओं-वाला बन जाता था, युद्धकांड से प्रमाणित नहीं होता। जब रावण आक्रमणकारियों का मुकाबला करने लंका-दुर्ग से निकला, तब कवि ने उसका आलंकारिक वर्णन किया है; उसमें उसके अनेक सिर-हाथ होने का कोई उल्लेख नहीं है। सुग्रीव के साथ द्वन्द्व-युद्ध करते समय रावण ने अपने दोनों बाहुओं से उसे उठाकर जमीन पर पटक दिया था (बाहुभ्यामाक्षिपत्तले, ६।४०।१३)। उस समय रावण ने एक ही मुकुट पहन रखा था। राम के साथ अंतिम बार युद्ध करने जाते समय रावण की बाईं

१. अत्र द्विभुजत्वकथनाद्युद्धादिकाल एव विंशतिभुजत्वं दशशीर्षत्वं चेति बोध्यम्। —५।१०।२१ पर तिलक-टीका।

आंख और वाईं बांह फकड़ने लगी थी ।[1] राम ने रावण के चमकते मुकुट से सुशोभित सिर को काट डाला । वर्णन आता है कि उसकी जगह एक दूसरा सिर उग आया । वह भी काट डाला गया । इस प्रकार सौ सिर उगे और कटे, पर सर्वत्र सिर के लिए एकवचन का ही प्रयोग हुआ है (६।१०७।५४-७) ।

रावण की मृत्यु के बाद विभीषण ने विलाप करते हुए अपने भाई की दो लंबी वांहों और एक ही मुकुट का उल्लेख किया था । इसी अवसर पर मन्दोदरी ने विलाप करते हुए रावण के सुन्दर मुख का इस प्रकार वर्णन किया—"आपका मुखमण्डल दो सुन्दर भौंहों, एक ऊंची नाक और दमकते हुए कुण्डलों से युक्त तथा किरीट के प्रकाश से चमकता रहता था । जब आप मधुशाला में मदोन्मत्त हो जाते थे, तब आपकी आंखें नशे के कारण कैसी चंचल और व्याकुल मालूम होती थीं तथा आपके अधरों पर कैसी मोहक मुसकान नाच उठती थी ! वही आपका मुख आज राम के बाणों से घायल होकर सुन्दर नहीं प्रतीत होता (६।१११।३४-६) ।" इस समस्त वर्णन में यथास्थान एकवचन और द्विवचन का ही प्रयोग हुआ है ।

रामायण में दो महत्त्वपूर्ण स्थलों पर रावण को दस सिर और बीस भुजाओं-वाला वताया गया है । पंचवटी में सीता को डराने के लिए रावण भिक्षु का रूप त्याग-कर दस सिर और वीस भुजाओं से युक्त महाकाय निशाचर वन गया था(३।४९। १-८) । इसी प्रकार जव हनुमान् बंदी के रूप में राक्षस-दरबार में लाये गए, तव वहां उन्होंने रावण को मंदर पर्वत के शिखरों के समान दस सिरों तथा चंदन-चर्चित भुजाओं से सुशोभित पाया था (५।४९।६,८) । इसकी टीका में भी तिलक टीकाकार नें लिखा है कि हनुमान् के देखने पर रावण ने वैसा ही भीषण रूप धारण कर लिया होगा, जैसा वह युद्ध में करता था । किंतु हम देख चुके हैं कि रावण ऐसा नहीं करता था । रामायण में रावण के एक ही सिर और दो हाथ होने के जो प्रचुर प्रमाण मिलते हैं, उनके सामने उपर्युक्त दोनों स्थलों का विरोध असंगत और अप्रामाणिक जान पड़ता है ।

तव फिर रावण दस सिरोंवाला कैसे बना ? वास्तव में रामायण में रावण के लिए 'दशानन' और 'दशग्रीव' शव्द स्थायी संबोधनों के रूप में व्यवहृत हुए हैं । उनका शाब्दिक अर्थ लगाकर रावण को अनेक सिरोंवाला सिद्ध करने की चेष्टा

---

१. नयनं चास्फुरद्वामं वामो बाहुरकम्पत । ६।९५।४५

निराधार है। ये शब्द उसी रूप में प्रयुक्त हुए हैं, जिसमें राम के पिता के लिए दशरथ शब्द का उपयोग हुआ है। 'दशरथ' शब्द का यह अर्थ नहीं किया जा सकता कि राम के पिता के पास केवल दस रथ थे अथवा वह दस रथों पर एक साथ सवारी करते थे। इसका अर्थ यही हो सकता है कि दशरथ के पास संभवतः साधारण दस रथों के समान एक महारथ था, या वह दस रथियों की बराबरी के अकेले योद्धा थे, या उनके रथ की दसों दिशाओं में अबाध गति थी। दशरथ का नाम एक तुलना या उपमा लिये हुए है। इसी प्रकार 'दशग्रीव' या 'दशानन' शब्द भी रूपकात्मक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा इस बात का उदाहरण है कि रूपकों या उपमाओं में समय की गति से किस प्रकार अर्थ-भेद हो जाता है और जन-मानस उसके शब्दार्थ को ही वास्तविक अर्थ समझने लगता है।[१] यह संभव है कि अधिकांश बलवान् मनुष्यों की भांति रावण का सिर और उसकी गर्दन विशाल और भारी-भरकम हों तथा इस कारण लोग आरंभ में उसे 'दशग्रीव' (जिसकी गर्दन दस गर्दनों के समान बड़ी हो) कहने लगे हों। 'दशानन' या 'दशशीर्ष' का भाव यह है कि उसकी संसार में दसों दिशाओं में अप्रतिहत गति थी, अथवा वह दसों दिशाओं की विजय के उपलक्ष्य में अपने सिर पर दस प्रकार के मुकुट या दस मणियोंवाला एक किरीट धारण करता था।[२] रावण के इन नामों की विचित्र व्याख्या से यह धारणा प्रचलित हो गई कि रावण के दस सिर, बीस आंखें और बीस बांहें थीं। इन नामों का वास्तविक लक्ष्य रावण को एक अजेय और अद्वितीय योद्धा-मात्र घोषित करना है।

राक्षसों की नर-मांस-भक्षण की प्रवृत्ति भी उन्हें एक विकृत और कुरूप जाति बनाने में सहायक हुई। नर-मांस के प्रति उनकी बर्बरों की-सी रुचि थी, इसलिए उन्हें बारंबार नरमांसाशिनः (३।७२।२३) कहा गया है। राक्षसी ताटका के लिए 'पुरुषादी' (मनुष्य-मांस-भक्षी) विशेषण प्रयुक्त हुआ है। कहा जाता है कि वह एक बार गरजती हुई अगस्त्य ऋषि तक को खाने के लिए झपटी थी (१।२५।११)। मारीच राक्षस ऋषियों का मांस खाते हुए दंडकारण्य में विचरण किया करता था। जब हनुमान् को लंका में सीता नहीं दीख पड़ीं, तब उन्हें शंका हुई कि कहीं रावण या उसकी स्त्रियों ने उन्हें खा न डाला हो (५।१३।११-२)। उत्तरकांड में वर्णन

१. चिं० वि० वैद्य—'द रिडिल आफ द रामायण', पृ० १४५-६
२. नवीनचंद्र दास—'ए नोट ऑन द एंटीक्विटी आफ द रामायण', पृ० ११.

आता है कि रावण ने कुबेर के दूत को तलवार से काटकर राक्षसों के भक्षणार्थ फेंक दिया था। रावण के अमात्यों ने कार्तवीर्य अर्जुन के अमात्यों को कच्चा ही चबा डाला था। विराध राक्षस को ऋषियों का मांस विशेष प्रिय था। सीता की राक्षसी पहरेदारनियां इस आशा में बड़ी प्रसन्न जान पड़ती थीं कि हमें सुरा के साथ-साथ सीता का मांस भी खाने को मिलेगा (५।२४।४४)।

नर-मांस के अतिरिक्त राक्षस अन्य सभी प्रकार के मांस का भक्षण किया करते थे। 'पिशिताशन' और 'मांसाशन' उनके सामान्य विशेषण हैं। सुंदरकांड के ग्यारहवें सर्ग में रावण के भोजन के वर्णन में विविध प्रकार के मांस-पदार्थ गिनाये गए हैं।

राक्षस नर और नारी दोनों मदिरा का भरपूर सेवन करते थे। नर-रक्त भी उनका प्रिय पेय था (**मांस-शोणित-भोजनाः**, ६।६०।२३)। विराध ने राम-लक्ष्मण को धमकी दी थी कि मैं तुम दोनों पापियों का खून पीकर रहूंगा—**युवयोः पापयोश्चाहं पास्यामि रुधिरं मृधे** (३।२।१४)। शूर्पणखा राम-लक्ष्मण और सीता का खून पीने को व्याकुल थी। गाढ़ी नींद से जगने पर कुंभकर्ण छककर रक्त-पान कर सके, इसके लिए पहले से ही खून से भरे हुए घड़े तैयार रखे गए थे (६।६०।३३)।

शिष्टाचार और लोक-व्यवहार में राक्षस प्रायः आर्यों का ही अनुसरण करते थे। युद्ध-क्षेत्र में जाने से पहले कुंभकर्ण ने अपने बड़े भाई रावण का आलिंगन करके उसकी प्रदक्षिणा की और सिर से अभिवादन किया। जब रावण राम के साथ युद्ध करने पहली बार जाने लगा, तब मंत्रों के पवित्र घोष से उसके लिए मंगल-कामना की गई।[1] मारीच ने अपने आश्रम में रावण का पाद्य, अर्घ्य, आसन और श्रेष्ठ भक्ष्य-भोज्य पदार्थों से स्वागत किया। राम की शरण में आने पर विभीषण ने समयानुकूल विनम्रता और सम्मान-भावना व्यक्त की थी।

जान पड़ता है कि राक्षसों में पितृ-पक्ष से वंश चलने की प्रथा नहीं थी। रावण मातृ-पक्ष से राक्षसों का सम्राट् बना था।

राक्षसों में शवों को गाड़ने का रिवाज प्रचलित था।[2] विराध के शव को

---

१. **पुण्यैःस्तवैश्चापि सुपूज्यमानस्तदा ययौ राक्षसराजमुख्यः।** ६।५६।८

२. **अवटे चापि मां राम निक्षिप्य कुशली व्रज। रक्षसां गतसत्त्वानामेष धर्मः सनातनः॥** ३।४।२२

राम-लक्ष्मण ने एक गड्ढे में डालकर पत्थरों से पाट दिया था। कवंध राक्षस का अंतिम संस्कार राक्षसों और आर्यों की मिली-जुली पद्धति से किया गया। आर्य-रीति के अनुसार उसके शव को पहले जलाया गया और फिर राक्षस-प्रथानुसार उसके अवशेष जमीन में गाड़ दिये गए। साधारण सैनिकों के शव रण-भूमि में गीधों और मांसाहारी पशुओं के नोचने के लिए छोड़ दिये जाते थे। राक्षस शूरवीर प्रायः यह डींग हांका करते थे कि हम अपने शत्रुओं को गीधों की भेंट चढ़ायंगे।[1]

आर्य-संस्कृति से प्रभावित विभीषण पहले तो राम के इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हुए कि रावण-जैसे त्यक्तधर्मा का अंतिम संस्कार आर्य-पद्धति से संपन्न हो, किंतु राम रावण का पितृमेध-संस्कार करके राक्षसों में आर्य-प्रथाएं जारी करना चाहते थे। **मरणान्तानि वैराणि** (मृत्यु होने पर वैर समाप्त हो जाता है, ६।१११।१००), यह घोषणा करके वह राक्षसों को आर्यों का मित्र बनाना चाहते थे। उन्होंने सोचा होगा कि शव-संस्कार एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है, अतः यदि राक्षसराज की दाह-क्रिया वैदिक विधि से कर दी जाय तो सारी राक्षस-जाति आर्यों का धर्म अंगीकार कर लेगी। इसलिए राम ने आग्रह करके रावण की अंत्येष्टि ब्राह्मी विधि से करवाई, जिसमें द्विजों, याजकों और अध्वर्युओं का सहयोग लिया गया (६।१११। १०३-२३)। विभीषण का राज्याभिषेक भी राम के हाथों वैदिक रीति से हुआ था (**विधिना मन्त्रदृष्टेन**, ६।११२।१६)। इस प्रकार राक्षसों को आर्य-सभ्यता में दीक्षित कर लिया गया।

आर्यों की भांति राक्षसों में भी विवाह-संस्कार अग्नि की दुहाई देकर किया जाता था। रावण ने अग्नि प्रज्वलित करके मंदोदरी का पाणिग्रहण किया था। वधू का अपहरण करके विवाह करने की प्रथा, जो वाद में राक्षस-विवाह कहलाई, राक्षसों में व्यापक रूप से प्रचलित थी। स्वयं रावण की विवाह-योग्य भतीजी कुंभीनसी का मधु दैत्य ने अपहरण करके उससे विवाह किया था। प्रतीत होता है कि राक्षस लोग किसी भी स्त्री से—चाहे वह विवाहित हो या अविवाहित—समागम करने में अपने को स्वच्छंद समझते थे। जब रावण को यह परामर्श दिया गया कि आप सीता का उपभोग करने में कुक्कुट की तरह पाशविक बल का प्रयोग क्यों

---

१. **कस्य पत्ररथाः कायान् मांसमुत्कृत्य संगताः। प्रहृष्टा भक्षयिष्यन्ति निहतस्य मया रणे॥ ३।१९।१०**

नहीं करते,[1] तब उसने कहा कि मैं इस विधि का आश्रय नहीं ले सकता, क्योंकि पुंजिकस्थला अप्सरा पर बलात्कार करने के कारण मैं ब्रह्मा के शाप का भागी बन चुका हूं। यह आख्यान राक्षसों के अमर्यादित यौन संबंधों में एक आवश्यक सुधार का सूचक है। एक तो उपभुक्ता नारी की दयनीय दशा और दूसरे सुसंस्कृत आर्य-जाति का आदर्श, इन दोनों ने राक्षसों को इस आवश्यक समाज-सुधार के लिए प्रेरणा दी होगी।

आर्यों और अनार्यों में परस्पर विवाह-संबंध के उदाहरण भी मिलते हैं। रावण सीता और वेदवती-जैसी आर्य-रमणियों से विवाह करने को इच्छुक था। शूर्पणखा राक्षसी होते हुए भी राम-लक्ष्मण-जैसे विजातीयों से विवाह करना चाहती थी। अनेक राजर्षियों, विप्रों, गंधर्वों और दैत्यों की कन्याएं कामासक्त होकर स्वेच्छा से रावण की पत्नियां बन गई थीं।[2]

राक्षसों के धार्मिक कृत्यों में स्वस्त्ययन नाम की मांगलिक क्रिया बहुत प्रचलित थी। रावण ने कुंभकर्ण और अपने पुत्रों को प्रशस्त आशीर्वचनों के साथ रण-भूमि में भेजा था। विश्व-विजय के लिए विमान पर सवार होने से पहले रावण ने स्वस्त्ययन किया था। अनेक राक्षस-वीरों को स्वस्त्ययन करके युद्ध में जाते हुए दिखाया गया है---**कृतस्वस्त्ययनाः सर्वे रणाभिमुखा ययुः** (६।६५।७)।

आर्यों की भांति राक्षस भी नियमपूर्वक तपस्या करने के अभ्यासी थे, किंतु जहां आर्य-तपस्वी आध्यात्मिक ज्ञान और परलोक-सुधार के लिए तप करते थे, वहां राक्षसों का उद्देश्य भौतिक शक्तियां प्राप्त करना होता था। विराध राक्षस ने तपस्या करके किसी भी शस्त्र से अवध्य बन जाने का वर प्राप्त किया था। तपश्चरण की अवधि में राक्षस तितिक्षा और संयम के कठोर व्रतों का पालन करते तथा पवित्र, सत्यपरायण और संयत जीवन व्यतीत करते थे। मारीच ने अपने प्रारंभिक दुष्कर्मों के बाद मृग-चर्म और जटाओं का तपस्वी बाना पहन लिया था। नियताहार रहकर वह तप करने में प्रवृत्त हो गया था। हनुमान् के अनुसार, रावण का तपस्या-जन्य पुण्य इतना अधिक था कि सीता का स्पर्श करने पर भी वह नष्ट नहीं

१. बलात्कुक्कुटवृत्तेन प्रवर्तस्व महाबल ॥ ६।१३।४
२. राजर्षिविप्रदैत्यानां गन्धर्वाणां च योषितः। रक्षसां चाभवन् कन्यास्तस्य कामवशं गताः ॥ ५।९।६८

हुआ ।[१] राक्षसों के विरुद्ध सदा यही शिकायत रहती थी कि वे तपस्या से प्राप्त होनेवाली सिद्धियों का उपयोग अधर्माचरण में करते थे। हां, विभीषण का आचरण इसके सर्वथा विपरीत था। 'न तु राक्षसचेष्टितः' कहकर वाल्मीकि ने उन्हें दुर्जनों के बीच एकाकी सज्जन बताया है (५।१७।२२)।

राक्षस यज्ञ-यागादिक का भी अनुष्ठान करते थे, पर इनमें अधिकतर जादू-टोनोंवाली (अथर्ववेदीय) क्रियाएं होती थीं, जिनसे वे अजेय बनने की रहस्यमयी शक्ति पाना चाहते थे। रावण स्वयं एक अग्रगण्य याज्ञिक और अग्निहोत्री था; उसके अग्निहोत्र की अग्नि से उसकी चिता प्रज्वलित की गई थी। घनघोर लंका-युद्ध के दौरान में इंद्रजित् ने छद्म शक्ति पाने के लिए एक यज्ञ का समारंभ किया था। वाल्मीकि ने उसका जो वर्णन किया है (६।८०।५-१६), उससे स्पष्ट है कि इंद्रजित् का यज्ञ, गीता के अनुसार, एक तामस यज्ञ था।

निकुंभिला राक्षसों की कुल-देवी थी। लंका नगरी में उसके नाम पर एक पृथक् उद्यान बना हुआ था।[२] सीता पर पहरा देनेवाली राक्षसियां कहा करती थीं कि 'सर्वशोकविनाशिनी' सुरा ले आओ, उसे पीकर और मनुष्य-मांस खाकर हम निकुंभिला देवी के आगे नृत्य करेंगी (**नृत्यामोऽथ निकुम्भिलाम्**, ५।२४।४४)। लंका-युद्ध में इंद्रजित् ने निकुंभिला देवी के प्रीत्यर्थ एक यज्ञ किया था।[३] राक्षसों की इस रहस्यमयी देवी के बारे में वाल्मीकि ने कोई निश्चित जानकारी नहीं दी है।

इन गुप्त और रहस्यमय क्रिया-कलापों के उपासक होते हुए भी राक्षस लोग एक सुशिक्षित जाति थे। वैदिक शिक्षा का उनमें बहुत प्रचार था। लंका के भवनों में हनुमान् ने वैदिक मन्त्रों का घोष सुना था और राक्षसों को स्वाध्याय में संलग्न पाया था।[४] रात्रि के चौथे पहर में अशोकवाटिका में उन्हें षडंग वेदों के ज्ञाता

---

१. सर्वथातिप्रकृष्टोऽसौ रावणो राक्षसेश्वरः। यस्य तां स्पृशतो गात्रं तपसा न विनाशितम् ॥ ५।५६।४

२. ततो निकुम्भिला नाम लंकोपवनमुत्तमम्। तद्राक्षसेन्द्रो बलवान् प्रविवेश सहानुगः ॥ ७।२५।२

३. निकुम्भिलामधिष्ठाय पावकं जुहुवेन्द्रजित् ॥ ६।८२।२५

४. शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै। स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान्ददर्श ह ॥ ५।४।१३

और यज्ञों का अनुष्ठान करनेवाले ब्रह्मराक्षसों की वेद-ध्वनि सुनाई दी थी।[1] रावण के राजमहल की ओर जाते समय विभीषण को अपने भाई के सम्मान में की जाने-वाली वैदिक विद्वानों की प्रशस्तियां सुनाई पड़ी थीं;[2] और उन्हें ऐसे वेदवेत्ता विप्र भी दिखाई पड़े थे, जिनका नागरिक लोग उपहारों से सम्मान कर रहे थे।[3]

जनश्रुति के अनुसार रावण महान् वैदिक विद्वान् था। इसकी पुष्टि रामायण के मौलिक और प्रक्षिप्त, दोनों स्थलों से होती है। रावण के शौर्य और शास्त्र-ज्ञान की प्रशंसा में तमिल-ग्रंथों में भी अनेक उक्तियां मिलती हैं। कहा जाता है कि स्वर-सहित वेद-पाठ करने की प्रणाली का आविष्कार उसीने किया था। सामवेद के स्तोत्रों से उसने नर्मदा के तीर पर भगवान् शंकर की आराधना की थी—

तुष्टाव वृषभध्वजम्।
सामभिर्विविधैः स्तोत्रैः प्रणम्य स दशाननः॥ ७।१६।३२

रावण की मृत्यु पर विलाप करते हुए विभीषण ने अपने भाई को **आहिताग्निः, महातपाः** और **वेदान्तगः** बताया था (६।१०९।२३); अर्थात् रावण वेदों में निर्दिष्ट अग्नि-पूजा किया करता था, स्वाध्याय और तपस्या का कर्मठ सेवी था तथा वैदिक शिक्षा की चरम सीमा तक पहुंच गया था। लंका के युद्ध में अपने पुत्रों और बंधु-बांधवों को मारे जाते देखकर रावण जब एक बार सीता का वध करने को उद्यत हो गया, तब उसके एक बुद्धिमान् सभासद् सुपार्श्व ने उसे समझाया कि आप 'वेदविद्याव्रतस्नातक' हैं, तब फिर आप स्त्री-वध करने पर कैसे उतारू हो गए?[4] इसका अर्थ यह हुआ कि रावण ने नियमानुसार किसी आश्रम में रहकर

---

१. षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्। शुश्राव ब्रह्मघोषांश्च विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥ ५।१८।२

२. पुण्यान् पुण्याहघोषांश्च वेदविद्भिरुदाहृतान्। शुश्राव सुमहातेजा भ्रातुर्विजयसंश्रितान्॥ ६।१०।८

३. पूजितान्दधिपात्रैश्च सर्पिभिः सुमनोऽक्षतैः। मन्त्रवेदविदो विप्रान् ददर्श स महाबलः॥ ६।१०।९

४. वेदविद्याव्रतस्नातः स्वकर्मनिरतस्तथा। स्त्रियः कस्माद्वधं वीर मन्यसे राक्षसेश्वर॥ ६।९२।६०

वैदिक शिक्षा का सांगोपांग अध्ययन किया, तत्पश्चात् वैदिक विधि के अनुसार स्नातक की दीक्षा ली और गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया था।

रावण के कनिष्ठ पुत्र अतिकाय के बारे में कहा गया है कि वह ज्ञानी, वृद्धजनों की सेवा करनेवाला, वेदों में पारंगत, सब शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में कुशल, घोड़े और हाथी की सवारी में प्रवीण तथा धनुर्विद्या में सिद्धहस्त था; राजनीति और कूटनीति के अतिरिक्त साम, दान, दंड और भेद की चालों में भी वह निष्णात था (६।७१।२९)। रण-क्षेत्र पर जाने से पहले कुम्भकर्ण ने रावण की सभा में जो वक्तृता दी थी, उसमें अर्थ-शास्त्र और राजनीति का उल्लेख हुआ है (६।६३।१४-६)। इसी अवसर पर महोदय नामक एक अन्य राक्षस ने चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—के सिद्धांत की विवेचना की थी (६।६५)।

रावण तथा अन्य प्रमुख राक्षस संस्कृत बोल सकते थे। अशोकवाटिका में सीता को संबोधित करने से पूर्व हनुमान् ने सोचा था कि यदि मैं सीता से एक ब्राह्मण की तरह संस्कृत में बोलूंगा तो वह मुझे रावण समझकर डर जायंगी।[1] इल्वल और वातापि नामक असुर-बंधु परिष्कृत संस्कृत बोलकर ब्राह्मणों को श्राद्धों में आमंत्रित किया करते थे।[2]

रावण की राज्य-सभा सर्वज्ञ और बुद्धिमान् अमात्यों तथा नीति-निर्माण में निष्णात मंत्रियों से युक्त थी—

मन्त्रिणश्च यथामुख्या निश्चितार्थेषु पण्डिताः।
अमात्याश्च गुणोपेताः सर्वज्ञा बुद्धिदर्शनाः॥ ६।११।२५

सभा में शिष्टाचार और अनुशासन की दृष्टि से आदर्श वातावरण था—वहां कोई न नारे लगाता, न परस्पर बातचीत करता और न असत्य-भाषण ही करता था।[3] बुद्धि, ज्ञान, शिष्टता से मानो ओतप्रोत थी रावण की राज्य-सभा। लंकापुरी में वैदिक ज्ञान के अनुशीलन के साथ-साथ विभिन्न कलाओं और आमोद-प्रमोद

---

१. यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्। रावणं मन्यमानां मां सीता भीता भविष्यति॥ ५।३०।१८

२. धारयन् ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन्। आमन्त्रयति विप्रान् स...॥ ३।११।५६

३. न चुक्रुशुर्नानृतमाह कश्चित्सभासदो नापि जजल्पुरुच्चैः। ६।११।३०

का भी पर्याप्त सेवन किया जाता था; जैसाकि 'चित्रगृह', 'निशागृह', 'लतागृह', 'चित्रशाला', 'क्रीडागृह', 'पुष्पगृह' और 'आपानशाला' (मधुशाला) के अस्तित्व से प्रकट है (५।१२)। हृदय, कंठ और मूर्धा—इन तीन स्थानों से निकलनेवाले (मंद, मध्यम और उच्च) स्वरों से विभूषित मनोहर गीत लंका में सर्वत्र प्रचलित थे।[1] ऐसे वातावरण में रहना ही अपने-आपमें एक प्रशिक्षण रहा होगा। 'जो लंका जाता, वही राक्षस बन जाता', इस कहावत का एक ठोस आधार था, क्योंकि राक्षस एक सुसंस्कृत व्यक्ति था।

रावण के शासन-काल में राक्षसों का साम्राज्य भौतिक समृद्धि के शिखर पर पहुंच गया था। त्रिकूट पर्वत पर स्थिर लंका का दुर्ग अपने युग का एक चमत्कारी किला था। उसकी निर्माण-योजना अद्भुत थी और उसके धन-ऐश्वर्य की जो झांकी वाल्मीकि ने सुंदरकांड में कराई है, वह कल्पना से परे जान पड़ती है। रावण का राजप्रासाद एक पर्वत-शिखर पर अवस्थित था। वह चारों ओर सूर्य के समान चमचमाती हुई दीवार से घिरा था। भयानक राक्षस उसकी रक्षा करते थे। चांदी से मढ़े हुए चित्रों, सोने के दरवाजों, भव्य प्रांगणों और अद्भुत अंतर्द्वारों से वह सुशोभित था। उसमें लड़ाई के रथों तथा अन्य सवारियों के आने-जाने के मार्ग थे। इन मार्गों पर दोनों ओर नियत दूरी पर योद्धाओं की हाथी-दांत की प्रतिमाएं थीं तथा घुड़सवार सैनिक तैनात थे। वह महल मंदराचल के समान ऊंचा, मोरों के स्थान से युक्त, ध्वजाओं से व्याप्त, अनंत रत्नों का भंडार और खजानों से भरा था। उसमें धीर पुरुषों ने निधि-रक्षा के लिए उपयुक्त साधनों की प्रतिष्ठा की थी तथा वह साक्षात् कुबेर के भवन के समान जान पड़ता था। वह राजोचित सामग्री से पूर्ण और रमणी-रत्नों से भरा था--नूपुरों की झनकार, करधनियों की खनखनाहट और मृदंग के घोष से वह मुखरित था। उसमें अनेक अटारियां थीं, वैदूर्य मणियों से जटित सोने की खिड़कियां थीं, अनेक पक्षी किलोल कर रहे थे तथा उत्तम जाति के शंख, शस्त्रास्त्र और धनुषों की शालाएं थीं। उस पर्वत-सदृश भवन में अनेक मनोहर और विशाल चौबारे थे। महल के बाहरी भाग में सैनिक-वर्ग के विख्यात वीरों के सामरिक साधनों से संपन्न और विपुल संपत्तिशाली निवास-स्थान बने हुए थे। उनके इर्द-गिर्द लंबे-चौड़े मैदान थे, जिनमें पशु-पक्षियों के कलापूर्ण और व्यवस्थित

१. शुश्राव रुचिरं गीतं त्रिस्थानस्वरभूषितम्। ५।४।१०

डा. डिल्ली रमण रेग्मी स्मारक पुस्तकालय 5256

घेरे बने हुए थे। कोई भी उद्यान ऐसा नहीं था, जिसमें कलात्मक ढंग से सजे हुए मनोहर कुंज, कदली-गृह, दिन और रात के विहार-स्थान, क्रीडा-पर्वत और रम्य सरोवर न बने हों। निकट ही घोड़ों और हाथियों के अस्तबल तथा अन्यान्य सवारियों को रखने के स्थान बने हुए थे। ये सब सोने और अन्य बहुमूल्य धातुओं की जालियों से छाये हुए थे।

रावण का शयन-कक्ष भव्य और सुंदर, स्वच्छ और विशाल था। उसमें कई कमरे बने हुए थे। उनमें मणियों से जड़ी सीढ़ियां, स्फटिक का फर्श, रत्नजटित स्तंभ और हाथी-दांत की बनी नारी-मूर्तियां थीं। फर्श पर रंग-विरंगे चित्रों से सजे चौकोर कालीन बिछे थे और दीवारों पर ऐसे पर्दे टंगे थे, जिनका रंग आसपास की वस्तुओं से मेल खाता था (**तत्र तत्र च विन्यस्तैः सुश्लिष्टशयनासनैः** ५।११।२०)। सभी कमरे सुगंधित अगुरु से सुवासित थे, उनकी दीवारें पुष्पमालाओं और वंदनवारों से अलंकृत थीं। रात के समय दीपों के प्रकाश में वे प्रज्वलित-से जान पड़ते थे। सारा वातावरण अतीव आह्लादकारी, उत्साहजनक और चित्ताकर्षक था। महल के दूसरे भागों में सुसज्जित नृत्य-शाला, संगीत-शाला और आपान-शाला बनी हुई थीं। निकट ही, नंदन-वन के समान आकर्षक और रमणीय रावण की अशोकवाटिका थी, जिसमें तरह-तरह के पशु-पक्षी, भवन और प्रासाद थे। कमल-कमलिनी से परिपूर्ण एवं बावलियों, लता-कुंजों तथा कर्णिकार, किंशुक, पुन्नाग, चंपक और अशोक वृक्षों से सुशोभित वह वाटिका वास्तव में **नेत्रमनःकान्तम्** थी।

लंका में सामान्य राक्षसों के निवासस्थान 'समृद्ध, बहुमूल्य, अनेकानेक कक्षों से संपन्न तथा सोने के पूर्ण और अर्ध चंद्रमाओं से अलंकृत थे। उन भवनों में सुंदर चंद्र-शालाएं बनी थीं और उनकी बैठकों के बढ़िया रत्नों से खचित झरोखे थे। वे घर मणि और मूंगों से चित्र-विचित्र थे, ऊंचाई में मानो सूर्य को छूना चाहते थे तथा क्रौंच और मोर के शब्द की तरह उनमें भूषणों की झनकार सुनाई पड़ती थी (६।७५।१८-२१)।' वानरों के आग लगा देने पर 'तोरणों, अटारियों, शिखरों आदि से युक्त वे पर्वताकार महल टूट-टूटकर जमीन पर गिरने लगे थे। कहीं अगुरु जल रहा था, कहीं चंदन की लकड़ियां जल रही थीं, कहीं मणि, मोती, हीरे, मूंगे और कहीं छाल के वस्त्र जल रहे थे। कहीं क्षौम और कौशेय वस्त्र, कहीं ऊनी कपड़े, कहीं सोने के बर्तन और कहीं शस्त्रास्त्र आग की भेंट हो रहे थे। कहीं अनेक तरह के चित्र-विचित्र घोड़ों के आभूषण, कहीं हाथियों की गर्दन के गहने, कहीं झूलें और कहीं

रथों की अलंकरण-सामग्री धांय-धांय जल रही थी। कहीं योद्धाओं, हाथियों और घोड़ों के कवच तो कहीं चंवर, श्रेष्ठ कंबल, व्याघ्र-चर्म, कस्तूरी, मुक्ता-मणि, सुवर्ण-आभूषण और मालाएं भस्मीभूत हो रही थीं (६।७५।८-१४)।' यह समस्त वर्णन राक्षसों की अपार समृद्धि और संपत्ति का द्योतक है।

हनुमान् ने लंका में जो कुछ देखा, उसके वर्णन में संभवतः कवि ने अतिरंजना का आश्रय लिया है। विशेष कर उन लोगों में, जिन्हें अकस्मात् कोई नवीन, अप्रत्याशित या विस्मयजनक दृश्य दिखाई पड़ जाय, बढ-चढ़कर वर्णन करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है। किंतु इस सारे अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन में सत्य का अंश निस्संदेह विद्यमान है, भले ही दीर्घ समय के अनंतर, आज की परिवर्तित परिस्थितियों में, यह अवास्तविक और कल्पनाजन्य प्रतीत हो। राक्षस-राजधानी में सुवर्ण और मणि-रत्नों की जो बहुलता बताई गई है, वह मात्र कवि के मस्तिष्क की उपज नहीं है। जब हम यह पढ़ते हैं कि मैक्सिको के लोगों के पास बेहद सोना था, पेरू (दक्षिण अमरीका) के विशाल सूर्य-मंदिर की दीवारें सोने से मढ़ी थीं और आज भी तिब्बत की राजधानी ल्हासा के बौद्ध मंदिर की छत सोने से पटी है, तब यह न मानने का कोई कारण नहीं कि बर्बर जातियों की अभिरुचि के अनुरूप लंका के राक्षसों ने भी अपने घरों और उनकी दीवारों को कहीं-कहीं मणि-सुवर्ण से अलंकृत किया होगा। उनके पास सोना अत्यधिक मात्रा में था, यह भी बहुत संभव है। प्राचीन समय में, दक्षिण भारत और लंका में सोना खानों और नदियों की रेत में से पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता था और आज भी मैसूर राज्य की खानों में से सोना काफी निकलता है। अतः वाल्मीकि-कृत सुवर्णमयी लंका का वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण भले ही हो, पर निरा कवि-कल्पना-प्रसूत नहीं है।[1]

रावण ने राम-जैसे दुर्धर्ष आर्य-वीर को उकसाकर अपने हाथों अपना अनिष्ट किया सही, फिर भी यह सोचना भूल है कि राक्षस लोग राजनीतिक औचित्य या बुद्धिमत्ता से सर्वथा शून्य थे। मारीच और विभीषण, दोनों ने सीता को मुक्त करने के लिए रावण को भरसक समझाया था और ऐसा न करने पर राक्षस-जाति के संभावित विनाश की ओर उसका ध्यान आकृष्ट किया था। यह तो मृत्यु का भय था, जिसने मारीच को सीता-हरण के षड्यन्त्र में रावण को सहयोग देने के लिए

---

१. चिं० वि० वैद्य—'द रिडिल आफ द रामायण', पृ० १६२

विवश किया। अंतरराष्ट्रीय नीति-नियमों से भी राक्षस अनभिज्ञ नहीं थे। विभीषण के यह बताने पर कि दूत अवध्य होता है,[1] रावण ने हनुमान् के प्राण छोड़ दिये थे। स्वयं रावण का स्त्री-दाक्षिण्य इस बात से प्रकट है कि बार-बार ठुकराये जाने पर भी उसने सीता का वध नहीं किया।

कुंभकर्ण ने अपने दृष्टिकोण से राजनीति की विशद व्याख्या करके अपने भाई को युद्ध में प्रवृत्त होने से रोकना चाहा था। उसकी वक्तृता (६।६३।५-१६) से यह स्पष्ट हो जाता है कि कुंभकर्ण पशु की तरह निरा पेटू नहीं था; उसमें अपने अभिमानी भाई की खरी आलोचना करने और उसके परामर्शदाताओं का पर्दाफाश करने का नैतिक साहस भी था। राजनीतिक कर्तव्य के नाते ही कुंभकर्ण ने रावण का साथ दिया, वह भी तब जबकि इसके अतिरिक्त और चारा नहीं रह गया था। विभीषण ने भी रावण को राम के न्याय्य पक्ष और अप्रतिम बल-वीर्य से अवगत कराकर यह परामर्श दिया कि क्षमायाचना-पूर्वक आप उन्हें वैदेही लौटा दें। इस 'अप्रिय किंतु पथ्य' परामर्श के बदले जब रावण ने उन्हें कुवचन कहे और उनपर कृतघ्न और देशद्रोही होने का लांछन लगाया, तब विभीषण ने राम का न्यायपूर्ण पक्ष लेकर अपना नैतिक कर्तव्य निभाया था।

जहां आर्य लोग युद्ध में उचित और निष्कपट साधनों का सहारा लेते थे, वहां राक्षस शत्रु को परास्त करने में धोखेधड़ी का आश्रय लेने के लिए कुख्यात थे। इसीलिए उन्हें रामायण में स्थल-स्थल पर **कूटयोधिनः** (छिपकर युद्ध करनेवाले, ६।५०। १५) कहा गया है। आग, विष और जादू-टोनों के प्रयोग द्वारा वे अपने माया-बल को प्रकट करते थे। मारीच 'महामायाविशारद' था। रावण युद्ध में छल-कपट करने के लिए प्रसिद्ध था (**मायास्रष्टारमाहवे**, ६।११।५३)। लंका-युद्ध-वर्णन में राक्षसों के कपट-युद्ध के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

राक्षसी सेना में नकाब पहनकर लड़नेवाले सैनिक होते थे। जब रावण पहले-पहल रण-भूमि में गया, तब उसके साथ-साथ बाघ, घोड़ा, ऊंट, हरिण और दूसरे पशुओं के मुखवाले प्राणी भी चले थे।[2] ये लोग वे राक्षस सैनिक थे, जिन्होंने जंगली

---

१. दूता न वध्याः समयेषु राजन् सर्वेषु सर्वत्र वदन्ति सन्तः ।। ५।५२।१३

२. यश्चैष नानाविधघोररूपैर्व्याघ्रोष्ट्रनागेन्द्रमृगाश्ववक्त्रैः। भूतैर्वृतो भाति विवृत्तनेत्रैर्योऽसौ सुराणामपि दर्पहन्ता ।। ६।५६।२३

जानवरों के नकाब लगा रखे थे। शत्रु-पक्ष को भयभीत करने की उनकी यह युक्ति थी; युद्ध में धोखाधड़ी का प्रयोग करने की उनकी नीति का यह एक अंग था। इसके अतिरिक्त वे ऐसे छद्म रूपों का भी आश्रय लेते थे, जिनसे असली और नकली में अंतर करना कठिन हो जाता था।

राक्षसों में एक सुनिश्चित सैन्य-व्यवस्था के अनुसार युद्ध-संचालन किया जाता था। रावण की अपनी चतुरंगिणी सेना थी, जिसमें एक सेनापति और अनेक नायक (वलाध्यक्ष) होते थे। राम के आक्रमण के समय रावण ने मंत्रियों के साथ शीघ्र ही अपने कर्तव्य का निश्चय कर लिया और उन्हें आदेश दिया कि धौंसा वजाकर सब सैनिकों को इकट्ठा करें, किंतु इसका कारण न बतायें।[1] लंका-दुर्ग के फाटकों पर कड़ा पहरा रहता था। दुर्ग में कई 'कूटागार' बने हुए थे; ये संभवतः भूगत मार्ग और सैनिकों को छिपाने के तहखाने थे।

राक्षसों का अपना जासूस-विभाग भी था। शूर्पणखा ने रावण को गुप्तचर-व्यवस्था क्रियाशील रखने की आवश्यकता समझाई थी, क्योंकि जासूस ही राजा को दीर्घ दृष्टि प्रदान करते हैं (**चारेण तस्मादुच्यन्ते राजानो दीर्घचक्षुषः** ३।३३।१०)। रावण के जासूस लंका-दुर्ग के मध्य में घूमते रहते तथा प्रजाजनों और सैनिकों में घुले-मिले रहते थे। सीता-हरण के बाद रावण ने आठ जासूसों को इस काम में लगा दिया था कि राम-लक्ष्मण की गति-विधि की सूचना बराबर देते रहें और उनका काम तमाम कर डालने का कोई मौका न चूकें (३।५४।२६-७)। शत्रु-सेना में भेद-नीति द्वारा फूट डालने की युक्ति का राक्षस प्रायः आश्रय लिया करते थे। राम और सुग्रीव में फूट डालने के लिए रावण ने अपने गुप्तचर शुक को नियुक्त कर रखा था (६।२०।८-१५)। राम की वानरी सेना का बलावल जानने के लिए भी उसने शुक, सारण और शार्दूल के नेतृत्व में कई जासूस भेजे थे।

प्रमुख राक्षस-वीर रथों में बैठकर रण-क्षेत्र में जाते और युद्ध करते थे। वानरों की भांति वे शस्त्रास्त्रों के प्रयोग से अनभिज्ञ नहीं थे। इंद्रजित्, रावण, अतिकाय, महारक्ष आदि रक्ष-वीर निपुण धनुर्धर थे। आकाश-युद्ध में भी राक्षस कुशल थे। उत्तरकांड में रावण और वरुण-पुत्रों के बीच हुए एक आकाश-युद्ध का वर्णन आता

---

१. **शीघ्रं भेरीनिनादेन... समानयध्वं सैन्यानि वक्तव्यं न च कारणम्** ॥ ६।३२।४३

है। बाहु-युद्ध, गदा-युद्ध और मुष्टि-युद्ध द्वारा भी राक्षस अपने प्रतिपक्षी का सामना करते थे।

फिर भी आर्यों के हाथों राक्षसों को जो भयानक हारें खानी पड़ीं, उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि वे सैन्य-साधनों और युद्ध-संचालन में पर्याप्त समुन्नत नहीं थे तथा अपने आर्य-प्रतिपक्षियों के मुकाबले में नहीं टहर सकते थे। उनका धनुर्विद्या-कौशल आर्य-वीरों के समक्ष टिक नहीं पाता था। एक और कारण यह था कि राक्षस लोग व्यक्तिगत रूप से तो बलवान् थे, पर युद्ध में संगठित मोर्चा बनाकर लड़ने के बजाय एक भारी और अव्यवस्थित भीड़ के रूप में शत्रु-पक्ष से भिड़ते थे और इस तरह अपने संख्या-बल का पूरा लाभ नहीं उठा पाते थे। ऐसी स्थिति में यदि जनस्थान में राम ने अकेले ही खर की चौदह हजार राक्षसी सेना को (यह संख्या कुछ अतिरंजित हो सकती है) खदेड़ दिया हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। राम की विजय का रहस्य संभवतः यह था कि धनुष-बाण के प्रयोग तथा युद्ध-कौशल में राक्षस-पक्ष का कोई वीर उनसे बाज़ी नहीं मार सकता था।[1]

धर्म-कर्म और शिक्षा-स्वाध्याय में संलग्न रहने पर भी रावण और उसके साथियों ने अनीति और अधर्म, हिंसा और अत्याचार, विलास और व्यभिचार में लिप्त रहकर अपने सर्वनाश को न्योता दिया। रावण के उदाहरण में हम देखते हैं कि महत्ता-सूचक गुणों का उपयोग किस प्रकार निकृष्ट उद्देश्यों की पूर्ति में किया गया। उसकी वैभवशालिता और पापाचारिता से चकित हो हनुमान् कह उठे थे—"अहो, इसका रूप और धैर्य अद्भुत है! इसका साहस अनोखा और कांति निराली है! इस राक्षस-राज में सभी राजोचित लक्षणों का होना महान् आश्चर्य की बात है। यदि इसमें अधर्म की प्रबलता न होती तो यह देवलोक और इन्द्र का भी रक्षक होता। किंतु इसके कर्म कठोर, निर्दयतापूर्ण और निंदित हैं कि देवता और दानवों-सहित संपूर्ण जगत् के प्राणी इससे डरते हैं।"[2]

---

१ चि० वि० वैद्य—'द रिडिल आफ द रामायण', पृ० १४०

२. अहो रूपमहो धैर्यमहो सत्त्वमहो द्युतिः। अहो राक्षसराजस्य सर्वलक्षणयुक्तता॥ यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः। स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता॥ अस्य क्रूरैर्नृशंसैश्च कर्मभिर्लोककुत्सितैः। सर्वे बिभ्यति खल्वस्माल्लोकाः सामरदानवाः॥ ५।४९।१७-९

सच पूछा जाय तो राक्षसों का नाम ही, शांति-प्रिय आर्य ऋषि-मुनियों के प्रति उनकी हिंसा-वृत्ति के कारण, देश-भर में कुख्यात और कलंकित हो चुका था। उनके यज्ञ-यागों का विध्वंस करना निशाचरों का एक कुत्सित व्यापार बन गया था। वे यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाली सामग्री को फेंक देते, यज्ञ की अग्नि पर पानी की बौछार कर बुझा देते और जल-पात्रों को तोड़-फोड़ डालते थे। जब विश्वामित्र ने अपना यज्ञ प्रारंभ किया, तब मारीच और सुबाहु ने यज्ञ-वेदी पर गाढ़ा खून बरसाया था।[1] रावण अनेक यज्ञों को नष्ट करनेवाला (**नैकयज्ञविलोप्तारम्**), धर्म की व्यवस्था को तोड़नेवाला (**धर्मव्यवस्थाभेत्तारम्**) तथा नैतिक धर्मों की धज्जियां उड़ानेवाला (**उच्छेत्तारं धर्माणाम्**) था। अतुल शक्ति-संपन्न होने के कारण वह यज्ञ-भूमि से मंत्रपूत सोम-रस को छीनकर ले जाता था ; इसलिए यज्ञ-भूमि में किसी राक्षस का प्रवेश गंदे कुत्ते के प्रवेश की तरह अशुभ और अपवित्र माना जाता था।[2]

राक्षस लोग आर्यों के यज्ञ-समारोहों को नष्ट-भ्रष्ट ही नहीं करते थे, अपितु उनमें भाग लेनेवालों को भी मौत के घाट उतार देते थे। रावण को 'ब्रह्मघ्न' अर्थात् ब्रह्म-हत्यारा कहा गया है। उत्तरकांड में वर्णन आता है कि रावण ने किस प्रकार राजा मरुत के माहेश्वर यज्ञ में आये हुए ऋषियों को खाकर और उनका खून पीकर अपने को परितृप्त किया था (७।१८।१९)। राम के दंडकारण्य में आने पर वहां के निवासियों ने उन्हें राक्षसों द्वारा मारे गए ऋषि-मुनियों की हड्डियों का ढेर दिखाया था।[3] इन्द्रजित्-वध के पश्चात् देवता, दानव और गंधर्व आकर यह कहने लगे थे कि अब ब्राह्मण लोग निर्भय होकर पृथ्वी पर विचरण करेंगे;[4] इससे सिद्ध है कि जीते-जी वह ब्राह्मणों के लिए कितना अभिशाप-तुल्य था।

किंतु राक्षसों का सबसे घृणित कार्य, जिसने उन्हें सभ्य संसार की दृष्टि में

---

१. **आगम्य भीमसंकाशा रुधिरौघानवासृजन्। तां तेन रुधिरौघेण वेदीं वीक्ष्य समुक्षिताम्॥ १।३०।१२-१३**

२. **रावणः प्राविशद्यज्ञं सारमेय इवाशुचिः॥ ७।१८।६**

३. **एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भावितात्मनाम्। हतानां राक्षसैर्घोरैर्बहूनां बहुधा वने॥ ३।६।१६**

४. **विज्वराः शान्तकलुषा ब्राह्मणा विचरन्त्विति॥ ६।९०।८८**

हेय और निंदित बना दिया, स्त्रियों पर बलात्कार था। रावण के शब्दों में 'पराई स्त्रियों का उपभोग करना अथवा उन्हें बलपूर्वक हर लेना राक्षसों का सदा से प्रचलित स्वधर्म रहा है।"[1] कुंभकर्ण नर-हत्या, आश्रम-विध्वंस और परस्त्री-हरण के लिए कुख्यात था (६।६१।१६)। देवों ने विष्णु के समक्ष रावण के जिस अत्याचार को प्रमुख रूप से उपस्थित किया और जो उनकी दृष्टि में विष्णु के धराधाम पर अवतरित होने का सबसे प्रबल कारण हो सकता था, वह रावण द्वारा स्त्रियों का अपहरण ही था (१।१६।७)। वह एक अजितेंद्रिय, परस्त्रीगामी लंपट था—एक ऐसा बटमार था, जिसने अपनी त्रैलोक्य-विजय में स्त्रियों की खुलेआम लूट मचा दी थी। उसकी पटरानी मन्दोदरी को पता था कि वह देवों और असुरों की कन्याओं को देश-विदेश से हरकर लाया था (देवासुरकन्यानामाहर्तारं ततस्ततः, ६।१११।५३)। पुंजिकस्थला और रंभा-जैसी अप्सराओं पर उसका बलात्कार, आर्य-ललना वेदवती का काम-भाव से स्पर्श तथा अन्य अगणित सुन्दरियों का उनके सम्बन्धियों को मारकर अपहरण ऐसी घटनाएं थीं, जिनका तत्कालीन आर्य राजा कोई सबल प्रतिरोध न कर सके; किंतु सीता के अपहरण ने रावण को आर्यों के सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर की क्रोधाग्नि की आहुति बना दिया, जिसकी विनाशकारी लपटों में राक्षस अपना साम्राज्य खो बैठे।

राक्षस लोग आर्यों की चर्चा 'नर', 'मनुष्य' या 'मानुष' के नाम से किया करते थे। नर-मांस के प्रति उनकी स्वभाविक अभिरुचि होने पर भी उनके और मानुषों के बीच सौहार्दपूर्ण संबंध के उदाहरण मिलते हैं। रावण की अशोकवाटिका में हनुमान् ने हर्षमग्न मनुष्य देखे थे (५।१४।८)। इससे सूचित होता है कि इन नरभक्षी बर्बरों के राज्य में भी मनुष्य आनन्दपूर्वक रह सकते थे। प्रतीत होता है कि राक्षस उन्हीं मनुष्यों का मांस खाया करते थे, जिन्हें वे युद्ध में बंदी बना लेते थे अथवा जिनके प्रति उनकी शत्रुता होती थी; उनके समाज के अंग बनकर उन्हींके बीच बस जाने-वाले मनुष्यों को वे कोई हानि नहीं पहुंचाते थे। यही नहीं, राक्षसों ने आर्यों की ब्राह्मण-सत्कार की भावना भी अपना ली थी। उदाहरणार्थ, जब राक्षस-सेनापति प्रहस्त रण-क्षेत्र को प्रस्थान करने लगा, तब बहुत-से राक्षस उसकी मंगल-कामना के

---

१. स्वधर्मो रक्षसां भीरु सर्वदैव न संशयः। गमनं वा परस्त्रीणां हरणं संप्रमथ्य वा॥ ५।२०।५

लिए ब्राह्मणों को प्रणाम करने लगे थे।[1] स्पष्ट है कि जिन ब्राह्मणों ने राक्षस-राज की यजमान-वृत्ति स्वीकार कर ली थी, वे उसके राज्य में निःशंक होकर बस सकते थे।

किंतु अन्य दृष्टियों से राक्षसों की मनुष्यों के प्रति हीन भावना थी। वे उन्हें मरणधर्मा और दुर्बल प्राणी समझते थे तथा अपनेको उनसे भिन्न और उच्चतर। रावण तो मनुष्यों को कुछ भी नहीं गिनता था; ब्रह्मा से गरुड़, नाग, यक्ष, दैत्य, दानव, राक्षस, देवता आदि जातियों से अवध्य होने का वरदान मांगते समय उसने मनुष्यों से भय-मुक्त होना आवश्यक नहीं समझा, क्योंकि **तृणभूता हि ते मन्ये प्राणिनो मानुषादयः**—वह मनुष्य आदि प्राणियों को तिनके के समान मानता था (७।१०।२०)। जब मारीच ने रावण को राम-जैसे महापराक्रमी वीर से शत्रुता मोल न लेने का परामर्श दिया, तब रावण ने उसका उपहास करते हुए कहा—"अपनी इस बकवास से तुम मुझे उस राम से भयभीत नहीं कर सकते, जो मूर्ख है, पापी है और विशेषकर एक मनुष्य है।"[2] मंदोदरी सीता को कुल, रूप या गुण किसी बात में अपने से बढ़कर नहीं समझती थी।[3] शूर्पणखा ने राम-लक्ष्मण-जैसे मनुष्यों को मारने में असमर्थ खर को 'निःसत्त्व और अल्प-वीर्य' कहकर लताड़ा था (३।२१। १६)। रावण ने राम को 'राज्य से च्युत, दीन, तापस, पैदल घूमनेवाला, मनुष्य और अल्प तेजस्वी' बताकर सीता को अपनी ओर आकृष्ट करने की चेष्टा की थी।[4] स्वयं सीता ने राक्षसियों से त्रस्त होने पर अपनी मनुष्यता और पराधीनता को धिक्कारा था—**धिगस्तु खलु मानुष्यं धिगस्तु परवश्यताम्** (५।२५।२०)।

एक रोचक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि राक्षस लोग जन्मना और कर्मणा कौन थे? रामायणकालीन आर्यों के दृष्टिकोण से स्वधर्म से च्युत, अतएव जाति-

---

१. **हुताशनं तर्पयतां ब्राह्मणांश्च नमस्यताम्** ॥ ६।५७।२१
२. **त्वद्वाक्यैर्न तु मां शक्यं भेत्तुं रामस्य संयुगे। मूर्खस्य पापशीलस्य मानुषस्य विशेषतः** ॥ ३।४०।४
३. **न कुलेन न रूपेण न दाक्षिण्येन मैथिली। मयाधिका वा तुल्यां वा तत्तु मोहात्र बुध्यसे** ॥ ६।१११।२८
४. **राज्यभ्रष्टेन दीनेन तापसेन पदातिना। किं करिष्यसि रामेण मानुषेणाल्प-तेजसा** ॥ ३।५५।२१

बहिष्कृत मनुष्य राक्षसों की श्रेणी में आ जाते थे। इसकी पुष्टि उन लोगों के उदाहरणों से होती है, जो मूलतः आर्य या अराक्षस थे और बाद में, अधर्माचरण के कारण, राक्षस बनने का शाप पा गए। ताटका आरंभ में एक यक्षिणी थी, पर जब उसने अगस्त्य-जैसे महामुनि पर आक्रमण करना चाहा, तब उन्होंने उसे नरभक्षी राक्षसी हो जाने का शाप दे दिया। उसका पुत्र मारीच भी राक्षस बना दिया गया—**राक्षसत्वं भजस्वेति मारीचं व्याजहार सः** (१।२५।१२)। उत्तरकांड में आई राजा कल्माषपाद की कथा भी कुछ ऐसी ही है। जब राजा ने वसिष्ठ को (भ्रमवश) नर-मांस परोस दिया, तब मुनि ने उसे नरभक्षी राक्षस बन जाने का शाप दे दिया (७।६५।२८)। इस प्रकार का एक आर्य भी घृणित अपराध के दंडस्वरूप राक्षस-योनि में पतित हो जाता था।

उपर्युक्त दृष्टिकोण कतिपय आधुनिक विद्वानों के मत से मेल खाता है। यह तो हम देख चुके हैं कि राक्षसों में वैदिक अध्ययन और कर्मकांड प्रचलित था तथा वे अग्नि और शिव के पूजक थे। इस आधार पर इन विद्वानों का कथन है कि राक्षस-जाति आर्यों की वह शाखा थी, जो दक्षिण के उपजाऊ प्रदेशों में जाकर बस गई और एक विशिष्ट सभ्यता का निर्माण कर अत्यंत शक्तिशाली और समृद्धि-युक्त बन गई। राक्षसों की उत्पत्ति के प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि रावण प्रजापति ब्रह्मा के वंशज विश्रवा मुनि का पुत्र था। यह भी राक्षस-जाति के मूल आर्यत्व का सूचक है। किंतु आर्यों की यह दक्षिणी शाखा जब अपनी मूल संस्कृति के कल्याण-कारी प्रभाव से दूर जा पड़ी, तब वह क्रूरता और विलासिता में लिप्त होकर अनार्यों का-सा आचरण करने लग गई।[1]

एक अन्य मत यह है कि राक्षस लोग दक्षिण भारत और लंका के मूल निवासी थे, जो अपनी बर्बर स्थिति से उठकर रामायण-काल में एक अर्ध-सभ्य दशा में आ गए थे। नस्ल की दृष्टि से वे उन दस्युओं से मिलते-जुलते थे, जिनके साथ ऋग्वेदीय आर्यों का संघर्ष रहता था।[2] दक्षिण भारतीय दृष्टिकोण से[3] राक्षस आदि

१. के० एस० रामस्वामी शास्त्री—'द आर्यन कॉलनीज आफ किष्किंधा एंड लंका' ('इंडियन कल्चर', भाग ५, पृ० १६५)
२. टी० के० वेंकटरमन—'द राक्षसाज' (के० वी० रंगास्वामी स्मृति-ग्रंथ, पृ० १८७-६३)
३. वी० आर० रामचंद्र दीक्षितार—'साउथ इंडिया इन द रामायण'

तीरंदाजों और मछुओं के वंशज थे, जिन्होंने संख्या में बढ़ने पर अपना अलग राज्य स्थापित कर लिया। कालांतर में आर्यावर्त से उनका संपर्क बढ़ता गया, जिसके फलस्वरूप राक्षसों ने ब्राह्मणत्व स्वीकार कर लिया, जैसाकि ब्रह्मराक्षसों (वे राक्षस जो ब्राह्मण-धर्मी बन गए थे) के अस्तित्व से प्रकट है। इन ब्रह्मराक्षसों ने वैदिक कर्मकांड के संपादन के लिए संस्कृत भी सीख ली।

इतना तो निश्चित और निर्विवाद है कि रामायण के समय भारत के दक्षिणी छोर पर लंका में एक काली खूंख्वार जाति निवास करती थी, जो आर्यों से विमुख थी और उनके धार्मिक क्रिया-कलापों में विघ्न डालती थी। इस जाति के कुछ अवशेष आजतक जावा में पाये जाते हैं।[1] उसकी ध्वंसात्मक प्रवृत्तियां भारतीय महासागर के द्वीपों तक व्याप्त थीं। आर्यों का प्रभुत्व स्थापित होने से पहले इस जाति ने विश्व के घटना-चक्र में प्रमुख भाग लिया था। आर्यों ने राक्षसों को दैत्याकार, इच्छानुसार वेश बदलनेवाले और रक्त-पिपासु आक्रामकों के रूप में चित्रित किया है, वैसे ही जैसे सेमाइट लोगों ने अपनी विरोधी जातियों को अपवित्र, भयंकर और दैत्याकार वर्णित किया। राक्षस लोग कृष्ण वर्ण के थे, उनके बाल हब्शियों की तरह ऊननुमा घुंघराले होते थे और वे सोने-चांदी के गहनों से लदे रहते थे, जिनसे उनकी जाति को सदा से प्रेम रहा है और जिनके उपयोग में उनके सजातीय सूडानी लोग अब भी रस लेते हैं। डा० जान फ्रेजर का अभिमत है कि सिलोन के मूल निवासी आर्यों से पहले पनपनेवाली एक काली जाति के लोग थे और दक्षिण भारत की द्रविड़ जातियां उसीसे निकली हैं। भारत में आर्यों का प्रभुत्व स्थापित होने पर यह जाति दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रायद्वीप में तथा इंडोनेशिया और ओशिएनिया के द्वीपों में खदेड़ दी गई, तथा मलयेशिया के निवासी उसके वर्तमान प्रतिनिधि हैं।[2]

१. नवीनचंद्र दास—'ए नोट ऑन द एंटीक्विटी आफ द रामायण', पृ० ६
२. पॉलिनेशियन जर्नल, भाग ५, उपर्युक्त में उद्धृत।

: ४ :

वानर

कुछ विद्वानों की धारणा है कि वानर-जाति एक पौराणिक अथवा काल्पनिक जाति थी और वाल्मीकि ने उसके कार्य-कलाप का जो वर्णन किया है, वह 'निरर्थक विचित्रताओं का एक ब्योरा-मात्र' है। कुछ अन्य विद्वान् वानरों को निरा बंदर मानकर उन्हें कोई महत्त्व नहीं देते, और यह इसलिए कि कवि ने उन्हें बंदरों की विशेषताओं से युक्त बताया है। किंतु वानरों की सभ्यता का जो चित्रण रामायण में प्रस्तुत है, उससे ये दोनों मान्यताएं गलत सिद्ध हो जाती हैं और यह प्रमाणित होता है कि वानरों की जाति एक वास्तविक मनुष्य-जाति थी, जिसकी अपनी विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था और संस्कृति थी। भले ही यह जाति मध्यदेश के आर्यों और लंका के राक्षसों-जैसी समुन्नत न रही हो, पर निश्छल, सरल और साम्राज्यवादी आकांक्षाओं से अलिप्त होने के कारण इसका भी अपना एक अनोखा गौरव और महत्त्व था। रामायण ही भारतीय साहित्य का सबसे प्राचीन और संभवतः एकमात्र ऐसा ग्रंथ है, जिससे हम वानर-सभ्यता की निकट से झांकी पा सकते हैं।

वानरों को कवि ने ऐसे बलवान् प्राणियों के रूप में चित्रित किया है, जो 'माया जाननेवाले, शूरवीर, वायु के समान वेगवान्, नीतिज्ञ, बुद्धिमान्, विष्णु के समान पराक्रमी, किसीसे परास्त न होनेवाले, तरह-तरह के उपायों के जानकार, दिव्य शरीर-धारी और देवताओं की तरह सभी शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में कुशल' थे (१।१७।२-४)। **कामरूपिणः** (४।१६।१०) उनका एक बहु-प्रयुक्त विशेषण है—वे इच्छानुसार रूप धारण कर सकते थे। राम-लक्ष्मण से पहली भेंट के समय हनुमान् ने अपना कपि-रूप त्यागकर भिक्षु-रूप धारण कर लिया था। लंका में सीता की गुप्त ढंग मे खोज करते समय भी उन्होंने अनेक रूप-परिवर्तन किये थे।

वानर अपने दांतों और नखों का शस्त्रों के रूप में प्रयोग करते थे। बाघ के-से पैनों दांतों से उनकी आकृति विकृत और रोंगटे खड़े कर देनेवाली हो जाती थी।[1]

---

१. **नखदंष्ट्रायुधाः सर्वे वीरा विकृतदर्शनाः। सर्वे शार्दूलदंष्ट्राश्च...॥४।३१।२४; रोमहर्षणाः॥ ४।३१।२३**

विशालकाय होने के कारण उनकी समता महागजों, वट और शाल-वृक्षों, पर्वतों तथा मेघों से स्थापित की गई है। उनका वर्ण सोने का-सा होता था। सुग्रीव को **हेमपिंगलः** (४।१४।१६) और वाली को **कनकप्रभः** (४।१५।३) कहा गया है। लंका पर धावा बोलनेवाले वानरों का मुख तांबे-जैसा और रंग सोने-जैसा था (**ताम्र-वदनाः, हेमाभाः**, ६।४२।१४)। लंका में सीता की पहरेदारनियों ने 'तुमसे बातें करनेवाला वह ताम्रमुख कपि'[1] यह कहकर हनुमान् की ओर संकेत किया था। वानरों के शरीर पर घने रोएं होते थे। उनमें सुंदरता का भी अभाव नहीं था। सुग्रीव के राजप्रासाद में दिव्य वस्त्र और मालाधारी 'प्रियदर्शन' वानर मौजूद थे। लक्ष्मण ने वहां रूप और यौवन से गर्वित वानर-स्त्रियां देखी थीं।[2] फिर भी यह निःसंदिग्ध है कि रामायणकालीन वानर पूंछ नामक उस 'लोचदार, मृदु उपकरण' से युक्त थे, जो आजकल के बंदरों की विशेष पहचान है।

वानरों के अपने कतिपय मानसिक लक्षण भी थे, जो अन्य जातियों से उनका पार्थक्य स्थापित करते थे। उनके स्वभाव का सबसे उल्लेखनीय तथ्य उनका शारीरिक और मानसिक चापल्य था। राम ने वाली पर यही आरोप लगाया था। रावण की दृष्टि में वानरगण चपल, उद्धत और अस्थिर-चित्त थे—**चपला ह्यविनीताश्च चलचित्ताश्च वानराः** (६।५७।६)। उसने अपने गुप्तचर शुक से हँसते हुए पूछा था कि कहीं तुम चंचल वानरों के फंदे में तो नहीं पड़ गए थे?[3] जब भरत ने हनुमान् के कथनानुसार राम को नियत समय पर अयोध्या लौटते नहीं पाया, तब उन्हें यह संदेह हुआ कि कहीं हनुमान् का वक्तव्य **कापेयी चलचित्तता** (वानरी चंचलता) से तो प्रेरित नहीं है।[4] वानरों की इस दुर्बलता को—उनके अस्थिर-मतित्व को—हनुमान् ने भी स्वीकार किया था—**नित्यमस्थिरचित्ता हि कपयो हरिपुंगव** (४।५४।६)।

वानरों के स्वभाव की एक और विशेषता थी, उनका तेज और गरम मिजाज।

---

१. यस्त्वया कृतसंवादः सीते ताम्रमुखः कपिः ।। ५।५३।२३
२. बह्वीश्च विविधाकारा रूपयौवनगर्विताः । स्त्रियः सुग्रीवभवने ददर्श स महाबलः ।। ४।३३।२२
३. कच्चिन्नानेकचित्तानां तेषां त्वं वशमागतः ।। ६।२४।२६
४. कच्चिन्न खलु कापेयी सेव्यते चलचितता ।। ६।१२७।२३

उनके लिए 'चंड' (भीषण) विशेषण कई बार प्रयुक्त हुआ है। वे स्वभाव के रूखे होते थे और उनके साथ समझौते की बातचीत चलाना दूभर था।[१] वानर लोग शरारती भी बहुत थे। उनकी शरारतों से परेशान होकर मतंग ऋषि ने अपने मतंग-वन से उन्हें बहिष्कृत-सा कर रखा था (४।११।५५-६)। मधु-वन में वानरों के अनियंत्रित आमोद-प्रमोद का वर्णन करके कवि ने इस प्रकृति कपीनाम् (वानरी स्वभाव, ५।१०।५४) का अत्यंत मनोरंजक चित्र उपस्थित किया है (५।६१)।

वानर बड़े भावुक प्राणी थे। सौभाग्य या दुर्भाग्य आ पड़ने पर वे हर्ष या शोक से विभोर हो जाते थे। लंका में मंदोदरी को सीता समझकर हनुमान् किस प्रकार प्रसन्नता से नाचने-कूदने और किलकारियां मारने लगे थे, इसका वाल्मीकि ने बड़ा सुंदर वर्णन किया है।[२] हनुमान् के लंका से लौटने पर तथा राघव-भ्राताओं के नाग-पाशों से मुक्त होने पर वानरों ने अपना हर्षातिरेक शारीरिक हलचलों से प्रकट किया था। साथ ही, दुःख या विपत्ति आ पड़ने पर वानर लोग शोक-समुद्र में भी डूबने-उतराने लगते थे। राम और लक्ष्मण को नाग-पाश में जकड़ा देखकर उनके नेत्रों से आंसुओं की गंगा-यमुना बहने लग गई थीं। प्रथम परिचय के समय जब लक्ष्मण ने सुग्रीव को सीता-हरण की घटना सुनाई, तब वानरराज इतने उद्विग्न हो उठे कि कवि को उनका वर्णन करने के लिए राहु-ग्रस्त सूर्य से घटकर कोई उपमान ही नहीं मिला।

वानरों की एक और विशेषता उनकी कुतूहल की भावना थी। पुष्पक विमान के अयोध्या के निकट आने पर उसमें बैठे वानर लोग उत्सुकतावश उचक-उचककर नगर को देखने लगे थे।[३] इसी औत्सुक्य-भावना ने उनमें शोरगुल करने और बातें फैलाने की भी प्रवृत्ति पैदा की। घनघोर युद्ध के समय विभीषण को देखकर वे एकदम आतंकग्रस्त हो गए थे; उन्होंने इन्हें विकराल इंद्रजित् समझकर आपस में कानाफूसी करनी शुरू कर दी (कर्णे कर्णे प्रकथिताः, ६।४६।४१)। बातूनी होने के कारण

१. न ते सम्भाषितुं शक्याः सम्प्रश्नोऽत्र न विद्यते। प्रकृत्या कोपनास्तीक्ष्णा वानरा राक्षसाधिप॥ ६।२४।२६

२. आस्फोटयामास चुचुम्ब पुच्छं ननन्द चिक्रीड जगौ जगाम। स्तम्भान-रोहन्निपपात भूमौ निदर्शयन् स्वां प्रकृतिं कपीनाम्॥ ५।१०।५४

३. उत्पत्योत्पत्य संहृष्टास्तां पुरीं ददृशुस्तदा॥ ६।१२३।५३

वे कहीं भी आपस में बातचीत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते थे। इसलिए संपाति को उनसे कहना पड़ा कि सीता के विषय में मैं जो कुछ बता रहा हूं, उसे शोर-गुल किये बिना ध्यानपूर्वक सुनो (**कृत्वा निःशब्दमेकाग्राः शृण्वन्तु हरयो मम,** ४।६०।३)। राम के महाप्रयाण के समय भी उनका अनुगमन करनेवाले वानर किलकारियां मारना नहीं भूले।[1]

वानर ऐसे सीधे-सादे लोग थे कि अनायास ही दूसरों के बहकावे में आ जाते थे। वाल्मीकि ने उनकी निराधार आशंकाओं, सहज भोलेपन, मूर्खतापूर्ण कायरता और विचित्र अनुमानों के अनेक उदाहरण दिये हैं। एक बार पर्वताकार कुंभकर्ण को देखते ही वानरगण सभी दिशाओं में भाग खड़े हुए थे। इस भगदड़ को रोकने के लिए विभीषण ने राम को राय दी कि वानरों से कह देने पर कि लंका में यह एक यंत्र खड़ा किया गया है, वे निडर हो जायंगे।[2] तब अंगद ने भागते हुए वानर-वीरों को संबोधित करके कहा कि यह राक्षस बड़ा योद्धा नहीं है, इसकी तो सिर्फ सूरत डरावनी है—यह राक्षसों की ओर से भेजी गई एक विभीषिका (डराने की चीज) मात्र है। "महान् और कुलीन वंश में उत्पन्न होकर तुम लोग निरे बंदरों की तरह क्यों भाग रहे हो ? यदि तुम हथियार डालकर भाग जाओगे तो तुम्हारी स्त्रियां ही तुम लोगों का उपहास करेंगी और वह उपहास तुम्हें जीते-जी मृत्यु के समान दुःख-दायी होगा। तुम जन-समुदाय में बैठकर जो डींग मारा करते थे कि हम बड़े प्रचंड वीर हैं और स्वामी के हितैषी हैं, वे सब बातें आज कहां चली गईं ?" (६।६६। २०-२२) अंगद की बात सुनकर वानर-वीर बड़ी कठिनाई से लौटे और हाथों में वृक्ष लेकर रणभूमि की ओर चले। राम के इन भोले साथियों के मन की इंद्रजित् ने सच्ची थाह पा ली और इन्हें भयभीत करने के लिए माया-सीता की हत्या रची। इस कपट से उसे निकुंभिला देवी के मंदिर में होम करने का आवश्यक समय मिल गया, जिसके अनुष्ठान से वह अपनेको अजेय बना लेना चाहता था। स्वयं हनुमान् इंद्रजित् की इस माया से धोखा खा गए थे। एक बार पहले भी बुद्धिमान् हनुमान् ने रावण

---

१. स्नाताः प्रमुदिताः सर्वे हृष्टपुष्टाश्च वानराः। दृढं किलकिलाशब्दैः सर्वं राममनुव्रतम् ॥ ७।१०९।१६

२. उच्यतां वानराः सर्वे यन्त्रमेतत्समुच्छ्रितम्। इति विज्ञाय हरयो भविष्यन्तीह निर्भयाः ॥ ६।६१।३२

के अंतःपुर में भ्रमवश मंदोदरी को सीता समझ लिया था।

वानरगण सदा समूहों में निवास करते और टोलियां बनाकर विचरते थे। सीतान्वेषण करते समय उन्होंने एक-दूसरे से विलग होने का खतरा कभी नहीं उठाया। इस समूह-प्रेम के कारण ही अंगद, हनुमान्, जांबवान् आदि वानर-नेताओं ने अपने दल को छोटी-छोटी टोलियों में विभाजित करना सोचा ही नहीं, यद्यपि ऐसा करके वे विस्तृत दक्षिण-प्रदेश की शीघ्रता से खोजबीन करा सकते थे। यही दलगत आसक्ति वानरों को अपने नेताओं के अंधानुकरण में प्रवृत्त करती थी। जब हनुमान् ने ऋक्षबिल गुफा में से हंस, सारस आदि जलचर पक्षियों को निकलते देखकर वानरों से कहा कि इसमें निश्चय ही जल है, तब भूखे-प्यासे वानरों ने तुरंत उनकी बात दुहराई और सबके-सब उस गुफा में जा घुसे (४।५०।१७)। इसी प्रकार जब अंगद ने सीता की खोज करते-करते हताश होने पर अनशन करके प्राणत्याग करने का निश्चय किया, तब उसके साथियों ने भी अपने अनुकरणात्मक स्वभाव-वश, बिना कुछ सोच-विचार किये, ऐसा ही करने का संकल्प कर लिया (४।५५।१९-२०)। वानरों का पराक्रम भी, जिसका रामायण में पर्याप्त वर्णन है, बहुत-कुछ उन्हें रण-क्षेत्र में ले जानेवाले नेताओं पर निर्भर करता था। राक्षस-वीर अकंपन की बाण-वर्षा से नौ-दो-ग्यारह होनेवाले वानर-सैनिकों और कप्तानों ने जब अकेले हनुमान् को उससे जूझने के लिए तैयार देखा, तब वे भी साहस बटोरकर लौट आये (६।५६।९), और इसमें कोई शक नहीं कि उचित नेतृत्व और निर्देश मिलने पर वानर लोग, अपनी निराली युद्ध-प्रणाली द्वारा, शत्रु-पक्ष में आतंक फैला सकते थे।

किष्किंधा नगर वानरों का गढ़ था। रावण के गुप्तचर सारण के अनुसार 'सौ वृंद, एक सहस्र शंकु और इक्कीस सहस्र कोटि वानर किष्किंधा में सुग्रीव के संगी-साथी थे' (६।२८।४-५)। किष्किंधा के अतिरिक्त देश में और भी कई स्थल, जैसे पर्वतीय और वन-प्रदेश तथा नदियों और समुद्र के तट पर, जहां पेड़ों और अन्य पदार्थों की बहुतायत थी, उनके निवास-स्थान थे।

किष्किंधा को वाल्मीकि ने एक गुफा में स्थित बताया है। सुग्रीव को चेतावनी देने के लिए जाते समय लक्ष्मण ने इसी गुहा में प्रवेश किया था।[1] यह गुफा

---

१. अथ प्रतिसमादिष्टो लक्ष्मणः परवीरहा। प्रविवेश गुहां रम्यां किष्किन्धां रामशासनात्॥ ४।३३।१

अवश्य ही सामान्य अर्थ में समझी जानेवाली पर्वतीय गुहा नहीं रही होगी, क्योंकि कवि ने उसमें वृक्षों, पुष्पों, गुल्मों, प्रासादों, राजमार्गों, नदी-नालों आदि की स्थिति बताई है (४।३३)। वानर-जीवन की यह विशेषता—उनका एक गुफा में निवास करना—या तो कवि की कल्पना-मात्र है, अथवा इस आदिम जाति के अर्ध-सभ्य तरीकों की ओर एक संकेत है।[1]

वाल्मीकि ने कई स्थलों पर वानरों की घनी आबादी का उल्लेख किया है, जिससे यह निश्चित प्रतीत होता है कि देश में उनका संख्या-बल अपरिमित था, और यह एक कारण रहा होगा, जिसने राम को उनकी सहायता लेने के लिए प्रेरित किया।

जिन वानर-मुख्यों को सुग्रीव ने राम की सहायतार्थ बुला भेजा था, वे आर्य-प्रदेशों के पूर्व और उत्तर में निवास करनेवाले आदिवासी राजा थे। वानरों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व था और उनका समाज 'हरिगण' के नाम से ख्यात था। 'हरि' शब्द वानर का ही पर्यायवाची है। हरिगण की तीन शाखाएं थीं—ऋक्ष गोलांगूल और वानर। सामान्य धारणा के विपरीत ऋक्ष लोग भालू नहीं थे, वरन् ऋक्ष पर्वत पर निवास करनेवाले हरिगण थे। गोलांगूलों के विषय में सारण का कथन है कि वे काले मुंहवाले, घोर और महाबली होते हैं (६।२७।३२); पर वानरों की सभ्यता काफी समुन्नत थी।

वानरों का समाज अनेक यूथों या वर्गों में विभक्त था, जिनके मुखिया 'यूथप' कहलाते थे। दुर्धर, केसरी, गवाक्ष और नील प्रसिद्ध यूथप थे। इन यूथपों के ऊपर संनादन और जांबवान्-जैसे महायूथप हुआ करते थे और इन सबपर 'महायूथप-यूथप' (प्रधान सेनापति) का नियंत्रण रहता था। समूची वानर-जाति का सर्वोच्च नेता राजा होता था, जो किष्किंधा के गिरि-दुर्ग में अपने यूथपों के साथ रहता था। पहाड़ों या वनों में निवास करनेवाले समस्त वानर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नल, नील और हनुमान्-जैसे यूथपों की अधीनता में, अंततः वाली या सुग्रीव के आज्ञाकारी थे। प्रत्येक वानर व्यक्तिगत रूप से राजा के प्रति अनुरक्त रहता था। शांति-काल में वह उसके लिए स्वदेश में श्रम करता और युद्ध-काल में सुदूर देशों में लड़ने के लिए जाता। सर्वत्र राजा और प्रजा, शासक और शासित में व्यक्तिगत

---

१. जे० म्युअर—'ओरिजिनल संस्कृत टेक्सट्स', भाग २, पृ० ४१६

संबंध कायम रहते थे । इस समाज-व्यवस्था से मध्ययुगीन सामंत-प्रथा का बहुत साम्य दीख पड़ता है ।

वानरों का अपना राजनीतिक संगठन भी था । कवि ने 'कपिराज्य' के अनेक उल्लेख दिये हैं, जो वानरों के एक सुगठित राज्य की ओर संकेत करते हैं । अंगद ने तो एक बार सुग्रीव से स्वतंत्र रहकर एक नया वानर-राज्य स्थापित करने की ठान ली थी ।[1] वानरों में राजा का पद परंपरागत होता था और ज्येष्ठ पुत्र उसका उत्तराधिकारी । राजा का अपना मंत्रिमंडल तथा अपनी गुप्तचर-व्यवस्था थी । वाली के पिता के दिवंगत होने पर उसके मंत्रियों ने ज्येष्ठ पुत्र होने के नाते वाली का राजतिलक किया था । सुग्रीव का राज्याभिषेक उसके अमात्यों द्वारा अनुमोदित था और राजकीय वैभव एवं शास्त्रीय विधि से संपन्न हुआ था (४।२६) । सुग्रीव के निःसंतान होने के कारण वाली के पुत्र अंगद को युवराज बनाया गया । राम-सुग्रीव की मित्रता की सूचना गुप्तचरों ने अगद को दी थी और अंगद ने तारा को ।[2] हनुमान् को दूत के कर्तव्यों का पूरा पता था । सुग्रीव को मोह-निद्रा से जगाते समय उन्होंने राजकीय 'कोष' की ओर संकेत किया था (४।२९।११) । हर प्रकार के सामाजिक और राजनीतिक संगठन के मूल में स्वामित्व और संपत्ति की भावना काम करती है और ये भावनाएं वानरों में भी प्रचलित थीं । क्रुद्ध लक्ष्मण को शांत करते हुए तारा ने कहा था कि राम का प्रिय करने के लिए सुग्रीव मुझे, रुमा, अंगद, राजपाट, धन-धान्य और पशुओं को भी छोड़ सकते हैं ।[3] सीता को ढूंढ़ने दक्षिण दिशा में गये वानरों ने जब समुद्र के विस्तार से अपने प्रयत्नों को कुंठित होते देखा, तब अंगद ने भावावेश में कहा था—"अब किसके प्रसाद से हम लोगों का प्रयोजन सिद्ध होगा, और हम सुखपूर्वक लौटकर अपनी स्त्रियों, पुत्रों और घरों को फिर देखेंगे ?"—

कस्य प्रसादाद्दारांश्च पुत्रांश्चैव गृहाणि च ।
इतो निवृत्ता पश्येम सिद्धार्थाः सुखिनो वयम् ।। ४।४६।१७

---

१. अथ नेने हृतं राज्यं हनूमानङ्गदेन तत् ।। ४।५४।१, टीका देखिये ।

२. अङ्गदस्तु कुमारोऽयं वनान्तमुपनिर्गतः । प्रवृत्तिस्तेन कथिता चारैरासीन्निवेदिता ।। ४।१५।१६

३. रुमां मां चाङ्गदं राज्यं धनधान्यपशूनि च । रामप्रियार्थं सुग्रीवस्त्यजेदिति मतिर्मम ।। ४।३४।१३

वानरों के राज्य को आंतरिक स्वतंत्रता प्राप्त थी, पर था वह अयोध्या-नरेशों का करद। राम ने शैलों और काननोंवाले समस्त वानर-प्रदेश को अयोध्या-साम्राज्य के अंतर्गत बताकर वाली के वध को उचित और न्यायसंगत सिद्ध किया था।[1]

वनचर जाति होने के कारण वानर लोग फल-मूल-जैसे प्रकृति-प्राप्त आहार से ही अपनी उदर-पूर्ति करते थे। लक्ष्मण को शांत करते समय तारा ने 'धान्य' या अन्न का जो उल्लेख किया है (४।३५।१३), उससे वानरों के आहार में अन्न के समाविष्ट होने की ध्वनि आती है। पर आग का व्यवहार जानते हुए भी वानरों के लिए भोजन पकाने की कला अज्ञात थी। इस दृष्टि से वे आर्यों और राक्षसों से पिछड़े हुए थे। वानर नर-नारियों दोनों की मद्य-पान में अत्यधिक आसक्ति थी।

सामान्य धारणा के प्रतिकूल वानर लोग बंदरों की तरह नंग-धड़ंग नहीं घूमते थे, वरन् सुंदर वस्त्राभूषण धारण करते थे। वे प्रायः दो वस्त्र पहनते थे। इसका पता राम के प्रति सुग्रीव के इस कथन से चलता है कि वाली ने मुझे मात्र एक वस्त्र देकर ही निकाल दिया।[2] वानर लड़ने से पहले अपना अधोवस्त्र कमर में लपेट लिया करते थे। सुग्रीव ने लंगोट से अपनी कमर खूब कस लेने के बाद (गाढं परिहितः, ४।१२।१५), वाली को ललकारने के लिए आकाश-भेदी गर्जना की थी। वाली की अंत्येष्टि पूर्ण होने के समय शोक-मग्न सुग्रीव ने गीले वस्त्र पहन रखे थे (क्लिन्नवाससम्, ४।२६।१)। सीता ने सर्वप्रथम हनुमान् को एक श्वेत वस्त्र पहने हुए देखा था (वेष्टितार्जुनवस्त्रम्, ५।३२।१)।

वानर आभूषणों का प्रचुर व्यवहार करते थे। सुग्रीव के राजप्रासाद की रमणियां भूषणोत्तमभूषिताः (४।३३।२३) थीं। वाल्मीकि ने वाली को 'हेममाली' (सोने की माला पहननेवाले) की संज्ञा दी है। राम के चरणों में प्रणाम करते समय सुग्रीव के गले के आभूषण लटकने लगे थे (प्रलम्बीकृतभूषणः, ४।१२।६)। वानरों में कलाप्रियता भी विद्यमान थी। वे पुष्प, गंध, प्रसाधन और अंगराग के शौकीन थे। किष्किंधा का वायुमंडल चंदन, अगुरु और कमलों की मधुर गंध से सुवासित रहता

१. इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना। मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहानुग्रहेष्वपि॥ ४।१८।६

२. एवमुक्त्वा तु मां तत्र वस्त्रेणैकेन वानरः। तदा निर्वासयामास वाली विगतसाध्वसः॥ ४।१०।२६

था (चन्दनागुरुपद्मानां गन्धैः सुरभिगन्धिताम्, ४।३३।७)। लक्ष्मण ने सूर्य के समान तेजस्वी सुग्रीव को 'सोने के सिंहासन पर बहुमूल्य बिछौने पर विराजमान देखा था—वह दिव्य मालाओं और वस्त्राभूषणों से सज्जित थे तथा अलंकृत युवतियां उन्हें घेरे खड़ी थीं (४।३४।६३-४)।'

वानरों के रीति-रिवाज बहुत-कुछ आर्यों से मिलते-जुलते थे। उनके मूल आचार-विचार भले ही कुछ और रहे हों, पर राम के समय तक उन्होंने आर्यों की संस्कृति और उनके शिष्टाचार के नियम अपना लिये थे। अतिथि-सत्कार तथा सभ्य व्यवहार में वानर आर्यों से पीछे नहीं थे। अपरिचितों का परिचित एवं विश्वास-भाजन बनने में हनुमान् बेजोड़ थे। पहली भेंट में ही वह अपने विनम्रतापूर्ण व्यवहार तथा शालीन शब्दों से राम के प्रीति-पात्र बन गए थे। मायावी शत्रु-देश में भी वह सशंक और सावधान सीता को, अपने युक्तिपूर्ण भाषण और मनोहर शिष्टाचार से, निःशंक और हर्षित कर सके थे। एक-दूसरे के प्रति भी वानरों का बर्ताव शिष्ट और विनीत था। लंका से हनुमान् के लौटने पर साथियों ने उनका जो हार्दिक स्वागत किया, उससे यह प्रकट होता है (५।५७।३२-६)। सुग्रीव ने पहले अपने श्वसुर सुषेण के पास नम्रतापूर्वक जाकर उनके चरणों में प्रणाम किया और फिर अंजलि-बद्ध होकर उनसे सीता की खोज में पश्चिम दिशा की ओर जाने की प्रार्थना की। आर्य गुरुजनों की उपस्थित में वानर उपयुक्त शिष्टाचार का पालन करना भली भांति जानते थे। अपने राज्याभिषेक के बाद जब सुग्रीव पहले-पहल राम के दर्शनार्थ प्रस्रवण पर्वत पर गये, तब वह दूर से ही अपनी पालकी से उतर पड़े और समीप आने पर हाथ जोड़कर उनके चरणों में गिर पड़े। अन्य वानरों ने भी अंजलि-पुटों द्वारा राम का अभिवादन किया (४।३८।१५-६)।

उपहारों का आदान-प्रदान करने की प्रथा वानरों में खूब प्रचलित थी। वानर-सैन्य को इकट्ठा करने के लिए सुग्रीव ने जिन अनुचरों को आदेश देकर भेजा था, उन्होंने हिमालय पर शिव की यज्ञ-भूमि से दिव्य फल-मूल और औषधियां अपने राजा को समर्पित करने के लिए ले ली थीं (४।३७।३१-२)। सुग्रीव के राज्याभिषेक की घड़ी में हनुमान् ने राम से साग्रह प्रार्थना की थी कि आप कृपापूर्वक किष्किधापुरी पधारें, जिससे उपकृत वानरराज पुष्पों और रत्नों से आपका सत्कार कर अपना आभार प्रकट कर सकें (४।२६।४-८)।

सुग्रीव का राज्याभिषेक, जो शास्त्रीय विधि तथा परंपरागत प्रणाली से संपन्न

हुआ था, इस बात का सूचक है कि वानर आर्यों की ही रीति-नीति का पालन करते थे। वाली की और्ध्वदैहिक क्रिया भी प्रमाणित करती है कि वानर-जाति अपने धार्मिक संस्कारों में सर्वथा आर्य बन गई थी—उसका दृष्टिकोण और उसके आचार-विचार आर्यों के रंग में रँगे जा चुके थे।

वानर-साम्राज्य की राजधानी किष्किधा नगरी सुख और वैभव की क्रीड़ा-स्थली थी। लक्ष्मण के प्रवेश करते समय का उसका जो चित्रण महाकवि की लेखनी से प्रसूत हुआ है, वह वानर-राज्य की आर्थिक समृद्धि पर भरपूर प्रकाश डालता है। 'उसके राजमार्गों पर प्रधान वानर-वीरों के विंध्य और मेरु के तुल्य विशाल और अनेक खंडोंवाले महल बने थे, जो श्वेत मेघों के समान उज्ज्वल, सुगंधित मालाओं से सुसज्जित, प्रचुर धन-धान्य से संपन्न तथा स्त्री-रत्नों से सुशोभित थे। वानरराज सुग्रीव का शुभ्र प्रासाद इंद्र-भवन की शोभा को मात कर रहा था—वह कैलास-शृंगों के सदृश शिखरों से युक्त, दिव्य मालाओं से वेष्टित, सुवर्ण के तोरणों से विभूषित, दिव्य पुष्प और इच्छित फल प्रदान करनेवाले मनोहर वृक्षों से सज्जित तथा सशस्त्र वानरों से सुरक्षित था। सवारियों और आसनों से सुशोभित सात ड्योढ़ियों के पार सुग्रीव का गुप्त और विस्तीर्ण अंतःपुर था, जहां सोने-चांदी के पलंग और अनेक उत्तम मंच पड़े थे। उन सबपर बहुमूल्य बिछौने बिछे थे। वहां प्रवेश करते ही लक्ष्मण को संगीत की मीठी तान सुनाई पड़ी। वीणा की लय पर कोई कोमल कंठ से गीत गा रहा था, जिसमें प्रत्येक पद और अक्षर का उच्चारण स्वर-ताल के साथ हो रहा था (४।३३।१२-२४)।

वाल्मीकि ने वानरों के यौन संबंधों में अनियमितता दिखाई है। हनुमान्-जन्म की परिस्थितियों में इसका आभास मिलता है। एक बार केसरी वानर की पत्नी अंजना, रूप और यौवन से शोभित होकर, पर्वत-शिखर पर भ्रमण कर रही थी। उसके झीने वस्त्र को वायु ने धीरे से हर लिया, जिससे उसके अंगांग का सौंदर्य निरावरण हो गया। काम-मोहित होकर वायु ने दोनों भुजाएं बढ़ाकर उसका आलिंगन कर लिया—अंजना के गर्भ में वायु का तेज प्रविष्ट हो गया। उसके विरोध करने पर वायु ने उसे अपने ही समान तेजस्वी पुत्र प्रदान करने का आश्वासन दिया। इससे वह प्रसन्न हो गई और फिर एक निर्जन गुफा में जाकर उसने हनुमान् को जन्म दिया (४।६६।८-२०)।

यद्यपि जांबवान् ने हनुमान् को वायु का औरस पुत्र और केसरी का क्षेत्रज पुत्र[1] बताया था और यद्यपि इस बात में हनुमान् स्वयं गर्व का अनुभव करते थे[2], तथापि उक्त घटना को उस नियोग-पद्धति से नहीं जोड़ा जा सकता, जो महाभारत-काल में आकर एक समाज-सम्मत प्रथा बन गई थी। एक तो यहां किसीने केसरी के हित में पुत्रोत्पादन करने के लिए वायु को 'नियुक्त' नहीं किया था; दूसरे, वायु ने काम-भावना से प्रेरित होकर ही अंजना से संपर्क किया, जबकि शास्त्रीय आज्ञानुसार नियोग करनेवाले व्यक्ति को स्त्री के पास वासना-रहित होकर जाना चाहिए। अतएव यह यौन संपर्क स्पष्टतः वायु और अंजना का एक अमर्यादित कृत्य था।

वाली और सुग्रीव का वैवाहिक जीवन इस बात का उदाहरण है कि वानरों की यौन शिथिलता कभी-कभी अवैध संबंधों का रूप धारण कर लेती थी—ऐसे संबंध, जिनमें यौन संपर्क धर्म और व्यवहार दोनों दृष्टियों से वर्जित है। राम ने वाली को फटकारते हुए कहा था—"तुम पापी हो और सनातन धर्म का त्याग करके अपने छोटे भाई की स्त्री रुमा का, जो तुम्हारी पुत्रवधू के समान है, कामवश उपभोग करते हो। यही कारण है, जिससे मैंने तुम्हारा वध किया है। जो पुरुष अपनी कन्या, बहन अथवा छोटे भाई की स्त्री के पास काम-बुद्धि से जाता है, उसका वध करना ही उसके लिए उपयुक्त दंड है (४।१८।१८-२३)।" आश्चर्य की बात है कि सुग्रीव के ऐसे ही पाप पर राम ने आंखें मूंद ली थीं। जब वाली दुंदुभि से द्वंद्व-युद्ध करते-करते दीर्घ काल तक गुफा से बाहर नहीं निकला, तब सुग्रीव ने, जो एक वर्ष तक गुफा-द्वार पर उसकी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते रहे थे, उसे मरा हुआ समझ लिया और किष्किंधा लौटकर राज्य के साथ-साथ अपनी पत्नी रुमा और वाली की पत्नी तारा पर भी अधिकार कर लिया—**राज्यं च सुमहत्प्राप्य तारां च रुमया सह** (४।४६।९)। किंतु जब वाली दुंदुभि को परास्त करके लौटा, तब उसने रुमा को छीनकर सुग्रीव को निकाल बाहर किया। अंत में वाली की मृत्यु होने पर सुग्रीव ने अपनी पत्नी रुमा तो फिर से पा ही ली, वाली-पत्नी तारा को भी हथिया लिया। मृत शत्रु की विधवा को युद्ध की लूट के रूप में ले लेने का यह

---

१. स त्वं केसरिणः पुत्रः क्षेत्रजो भीमविक्रमः। मारुतस्यौरसः पुत्रस्तेजसा चापि तत्समः॥ ४।६६।२९-३०

२. यस्याहं हरिणः क्षेत्रे जातो वातेन मैथिलि। हनूमानिति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा॥ ५।३५।८१

रिवाज वानर-जाति में अवशिष्ट बर्बर प्रथाओं का सूचक है ।

यह भी विचारणीय है कि अपनी पत्नी रुमा को पुनः पा लेने पर सुग्रीव ने उसकी न कोई शुद्धि कराई, न अग्नि-परीक्षा ली । पर-पुरुष की रखैल बनकर रहने-वाली अपनी भार्या को पुनः अंगीकार करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी । उन्होंने उसे ग्रहण ही नहीं किया, अपितु उसपर अपना समस्त अनुराग भी उंडेला । जब लक्ष्मण बेरोकटोक वानरराज के अंतःपुर में जा पहुंचे, तब सुग्रीव रुमा (और तारा) के साथ विलास में डूबे हुए थे ।[1]

इस यौन अमर्यादा और अनियमितता के बावजूद वानर-समाज में विवाह का वह संस्कार पूर्णतया रूढ़ हो चुका था, जो किसी पुरुष और स्त्री को पति-पत्नी के रूप में परस्पर अनुरक्त बना देता है । पुष्पक विमान में लंका से स्वदेश लौटते समय मार्ग में सीता ने यह इच्छा प्रकट की थी कि मैं तारा, रुमा तथा अन्य प्रमुख वानर-पत्नियों को साथ लेकर अयोध्या जाना चाहती हूं (६।१२३।२४-५) । यदि वानरों में विवाह-संबंध प्रचलित न होता तो सीता इन वानर-पत्नियों का उल्लेख न करतीं । तारा ने भी किष्किंधा के विवाहित और अविवाहित वानरों का उल्लेख किया था ।[2] वाली की मृत्यु पर उसके विलाप-प्रलाप में पति-पत्नी-संबंध की प्रगाढ़ता ध्वनित होती है ।

स्त्री-पुत्रों की ममता और परिवार का बंधन ही घर-बार से दूर विचरण करनेवाले वानरों का प्रधान संबल था—प्रिय जनों की स्मृति उन्हें लक्ष्य-प्राप्ति करके शीघ्र घर लौटने को आंदोलित करती थी । हनुमान् ने सीता की खोज करते समय अंगद को सचेत कर दिया था कि इन चंचल-चित्त वानरों को अपने स्त्री-पुत्रों से बिछुड़े काफी समय हो गया है, और कोई आश्चर्य नहीं यदि ये अब, उनकी याद में उद्विग्न होने के कारण, तुम्हारी आज्ञा मानने से इन्कार कर दें (४।५४।७-६) । वानरों के इस पारिवारिक प्रेम से परिचित होने के कारण ही राम ने लंका-विजय के बाद इंद्र से यह वर मांगा था कि जो वानर मेरे लिए युद्ध में मरकर अपने स्त्री-पुत्रादि से बिछुड़ गए हैं, उन्हें आप जीवित कर दें (६।१२०।५-६) ।

---

१. स्वां च पत्नीमभिप्रेतां तारां चापि समीक्षिताम् । विहरन्तमहोरात्रं कृतार्थं विगतज्वरम् ॥ ४।२९।४

२. अभार्याः-सहभार्याश्च सन्त्यत्र वनचारिणः ॥ ४।१९।१६

वानरों के मुख से कवि ने उच्च एवं आदर्श नैतिक भावनाओं को अभिव्यक्त कराया है। उदाहरणार्थ, अंगद की दृष्टि में उसके चाचा सुग्रीव को धर्म का बिलकुल ज्ञान नहीं था, क्योंकि 'उन्होंने मेरे पिता के जीवन-काल में ही मेरी माता तारा का, जो बड़े भाई की पत्नी होने के नाते उनके लिए मातृ-तुल्य होनी चाहिए थी, कामवश उपभोग किया था।'[1] नैतिक उदात्तता की दृष्टि से यह कथन आर्यों के आदर्श से मेल खाता है। जब वायु ने कामोन्मत्त होकर अपनी लंबी भुजाओं से अंजना का आलिंगन किया और जब 'आत्मा से आत्मा मिल चुकी थी' (गतात्मा), तब उस वानरी ने विरोध करते हुए कहा कि यह कौन है, जो मेरे पातिव्रत्य को भंग करने का दुःसाहस कर रहा है—**एकपत्नीव्रतमिदं को नाशयितुमिच्छति** (४।६६।१६)। सीता की खोज में रावण के अंतःपुर को ढूंढ़ते समय हनुमान् को मद्य और मदन के नशे में चूर अनगिनत सुंदरियां अस्तव्यस्त दशा में निद्रा-मग्न दिखाई पड़ी थीं। इसपर वह धर्म-लोप के भय से सशंकित होकर सोचने लगे—"मैंने आजतक कभी दूसरों की स्त्रियों पर दृष्टि नहीं डाली, और आज इस प्रकार अंतःपुर में सोई पराई स्त्रियों को देखना मेरे धर्म को बिलकुल नष्ट कर देगा।" कुछ देर बाद उन्हें यह जानकर आत्म-संतोष की प्रतीति हुई कि "इन पर-स्त्रियों को मैंने काम-बुद्धि से नहीं देखा है। समस्त इंद्रियों की शुभ या अशुभ क्रियाओं में प्रवृत्ति का कारण मन ही है और मेरा मन निर्विकार रहा है।" (५।११।३७-४२) वाली-कृत राम की आलोचना आज भी नैतिक तर्क का एक ज्वलंत नमूना है (४।१७)।

रामायण के अध्ययन से वानरों के धर्म-कर्म की भी जानकारी मिलती है। वे आर्यों के ही देवताओं की पूजा-अर्चना करते और उन्हींके धार्मिक कृत्यों का पालन करते थे। वे पितरों के लिए श्राद्ध और तर्पण करते थे। धार्मिक अनुष्ठानों में वे ब्राह्मण कर्मकांडियों का सहयोग लेते थे। अपने राज्याभिषेक के अवसर पर सुग्रीव ने रत्न, वस्त्र एवं भोज्य पदार्थों का दान देकर द्विज-श्रेष्ठों को प्रसन्न किया था (४।२५।२६)। समृद्धि-प्राप्ति के लिए वानर स्वस्त्ययन-जैसे मांगलिक कृत्य करते थे। वाली को विदा करते समय तारा ने प्रदक्षिणा करके उसकी विजय-कामना

---

१. **भ्रातुर्ज्येष्ठस्य यो भार्यां जीवतो महिषीं प्रियाम्। धर्मेण मातरं वस्तु स्वीकरोति जुगुप्सितः॥ कथं स धर्मं जानीते...॥ ४।५५।३-४**

से विधिपूर्वक स्वस्त्ययन किया था।[1] लंका की ओर उड़ान भरने से पहले हनुमान् ने सूर्य, महेंद्र, पवन, स्वयंभू ब्रह्मा और भूतों को नमस्कार किया था (५।१।८)। लंका में भी अशोकवाटिका में घुसने से पहले उन्होंने विजय की इच्छा से ब्रह्मा, अग्नि, वायु, वज्रधारी इंद्र, पाशयुक्त वरुण, चंद्र, सूर्य, अश्विन, मरुत, ऋषियों तथा सब भूतों की अभ्यर्थना की थी (५।१३।६२-५)।

वानरों की जाति पर्याप्त सुसंस्कृत और सुशिक्षित थी। सुग्रीव के सचिव हनुमान् रामायण के सर्वाधिक प्रमुख वानर हैं, जिन्होंने अपनी संस्कृति और शिक्षा से राम को अतिशय प्रभावित किया था। वह 'वाक्यज्ञ' और 'वाक्य-कुशल' थे (४।३।२४); अर्थात् उन्हें शब्दों का शास्त्रीय ज्ञान तो था ही, उनके समुचित प्रयोग में—व्याकरण, व्युत्पत्ति और अलंकारों के व्यवहार में—भी वह पूर्णतया विचक्षण थे। उनकी प्रथम बातचीत से राम ने यह अनुमान लगा लिया कि 'जिसे ऋग्वेद की शिक्षा नहीं मिली, जिसने यजुर्वेद का अभ्यास नहीं किया तथा जो सामवेद का विद्वान् नहीं है, वह इस प्रकार सुंदर भाषा में वार्तालाप नहीं कर सकता। इन्होंने निश्चय ही व्याकरण-शास्त्र का कई बार स्वाध्याय किया होगा, क्योंकि बहुत-सी बातें करने पर भी इनके मुंह से कोई अशुद्धि नहीं निकली।'[2] हनुमान् एक आदर्श वक्ता थे—उनकी वाणी बुद्धि के आठों गुणों से भूषित थी।[3] वह उन आदर्श सचिवों और दूतों में से थे, जो अपनी वाणी का आश्रय लेकर ही अपने

१. चकार रुदती मन्दं दक्षिणा सा प्रदक्षिणम्। ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणी ॥ ४।१६।११२

२. नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः। नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥ नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्। बहु व्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम् ॥ ४।३।२८-९

३. बुद्ध्या ह्यष्टांगया युक्तं त्वमेवार्हसि भाषितम् ॥ ६।११३।२४; शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा। ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥ अर्थात् सुनने की इच्छा, सुनना, ग्रहण करना, स्मरण रखना, तर्क-वितर्क द्वारा सिद्धांत का निश्चय करना, अर्थ का ज्ञान होना तथा तत्त्व को समझना, ये बुद्धि के आठ गुण हैं।

स्वामी का मनोरथ पूरा कर लिया करते हैं।[1] तलवार लेकर वध करने को उतारू शत्रु का हृदय भी उनकी-सी अद्भुत वाणी से बदल सकता है।[2] ऐसे पंडित-प्रवर को लक्ष्मण ने आरंभ से ही 'विद्वान्' कहकर संबोधित किया था (४।३।३७)।

सुग्रीव ने उनमें 'बल, बुद्धि, पराक्रम, देश-काल के अनुसार आचरण और नीति' इन गुणों का समवाय पाया था।[3] उनमें सिद्धि, मति, व्यवसाय, शूरता और शास्त्र-ज्ञान सबकुछ प्रतिष्ठित था।[4] विभीषण के राम की शरण में आने पर हनुमान् ने उपयुक्त राय देकर अन्य वानर-वीरों की तुलना में अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की थी—वह सभ्य, विनीत और शास्त्र-संस्कार से संपन्न थे; उनके वचन मधुर, सारगर्भित और संक्षिप्त थे; तर्क, स्पर्धा, संघर्ष, बुद्धि के अभिमान अथवा किसी प्रकार की कामना से उन्होंने अपनी सम्मति नहीं दी थी।[5]

हनुमान् ओषधियों का भी ज्ञान रखते थे, भले ही वह सुषेण और जांबवान् की तरह निपुण न रहे हों। उनका सुशिक्षित मस्तिष्क नये-नये स्थानों की सांस्कृतिक विशेषताओं का मूल्यांकन करने में सदा सजग रहता था। सीता की खोज करते समय उन्होंने रमणीय ऋक्षबिल को ढूंढ़ निकाला तथा उसकी सुसंस्कृता तपस्विनी अधिष्ठात्री स्वयंप्रभा का परिचय प्राप्त कर गुफा के इतिहास की शोध कर डाली। राम के गुप्त दूत की हैसियत से वह सीता-दर्शन करने के साथ-साथ महानगरी लंका की सुनियोजित निर्माण-व्यवस्था तथा वहां के कलापूर्ण आकर्षणों और रमणी-रत्नों के सौंदर्य का भी अवलोकन करना नहीं चूके। सुशिक्षित सीता से संभाषण करते समय उन्होंने शास्त्र-ज्ञान-प्रसूत उपमाओं का जो विवेकपूर्ण उपयोग किया तथा

---

१. एवं गुणगणैर्युक्ता यस्य स्युः कार्यसाधकाः। तस्य सिध्यन्ति सर्वेऽर्था दूतवाक्यप्रचोदिताः॥ ४।३।३५

२. कस्य नाराध्यते चित्तमुद्यतासेररेरपि ४।३।३३

३. त्वय्येव हनुमन्नस्ति बलं बुद्धिः पराक्रमः। देशकालानुवृत्तिश्च नयश्च नयपण्डित॥ ४।४४।७

४. हनुमतीह सिद्धिश्च मतिश्च मतिसत्तम। व्यवसायश्च शौर्यं च श्रुतं चापि प्रतिष्ठितम्॥ ५।६४।३३-४

५. न वादान्नापि संघर्षान्नाधिक्यान्न च कामतः। वक्ष्यामि वचनं राजन्यथार्थं रामगौरवात्॥ ६।१७।५२

सीता के विश्वासार्थ राम की बौद्धिक, नैतिक और शारीरिक विशेषताओं का जो सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया, वह सब उनकी उत्कृष्ट बौद्धिक प्रतिभा का परिचायक है; क्योंकि कोई भी व्यक्ति किसीकी शिक्षा-दीक्षा का समालोचन एवं विश्लेषण तब तक नहीं कर सकता, जबतक वह स्वयं शिक्षित न हो और समालोचित शिक्षा से अभ्यस्त न हो। संक्षेप में, हनुमान् एक पूर्ण मानव, वानर-जाति के सर्वोत्तम रत्न थे, जिनमें बल, शूरता, शास्त्र-ज्ञान, उदारता, पराक्रम, दक्षता, तेज, क्षमा, धैर्य, स्थिरता, विनय आदि उत्तम गुणों का अद्भुत एवं अनुकूल संमिश्रण था—**एते चान्ये च बहवो गुणास्त्वय्येव शोभनाः** (६।११३।२६)।

वाल्मीकि ने प्रसंगवश और भी कई वानरों की शिक्षा-दीक्षा की ओर संकेत किया है। विभीषण की शरणागति के समय राम ने जिन वानर-वीरों से परामर्श किया था, उनमें शरभ अपने अर्थ-निश्चय (राजनीतिक समस्याओं के समाधान) के लिए, जांबवान् अपनी शास्त्र-बुद्धि, विचक्षणता और दोष-रहित वक्तृता के लिए तथा मेंद अपनी युक्तियुक्तता के लिए प्रख्यात थे। सुग्रीव ने अपने भाषण में कौओं और उल्लुओं के आख्यान का हवाला देकर यह सम्मति दी कि भ्रातृ-द्रोही राक्षस विभीषण को उसके सचिवों-सहित मार डालना चाहिए। इसपर राम ने प्रत्युत्तर दिया कि हे हरीश्वर, जैसी राय तुमने दी है, वैसी तो शास्त्रों का अध्ययन न करनेवाला और गुरुजनों की सेवा न करनेवाला भी नहीं दे सकता। राम ने कंडु ऋषि की एक गाथा को उद्धृत किया और उसमें निर्दिष्ट शरणागत-रक्षा के उपदेश को सुग्रीव से हृदयंगम करने के लिए कहा (६।१७।८)। इससे यह सिद्ध है कि सुग्रीव ने निश्चय ही शास्त्राध्ययन किया था और गुरुजनों से शिक्षा भी ग्रहण की थी तथा वह कंडु-जैसे ऋषि द्वारा रचित गाथा-साहित्य से भी लाभ उठाने में समर्थ थे।

वानर लोग सुदूर देशों की यात्रा करने के शौकीन थे। उत्तरकांड में वर्णन आता है कि वाली 'संध्योपासन के लिए प्रतिदिन चारों समुद्रों की यात्रा करता था।'[1] अपनी ज्ञान-पिपासा शांत करने के लिए हनुमान् ने विश्व-भ्रमण किया था। जांबवान् ने समुद्र-मंथन के समय इक्कीस बार पृथ्वी-परिक्रमा की थी। विभिन्न देशांतरों से परिचित होने के कारण वानरों को ओषधियों और उनके प्राप्ति-स्थानों का भली-भांति पता था। सच तो यह है कि वानर उस युग के श्रेष्ठ चिकित्सक थे।

---

१. **चतुर्ष्वपि समुद्रेषु संध्यामन्वास्य वानरः ॥** ७।३४।३३

लंका-युद्ध के दौरान में राम, लक्ष्मण तथा अन्य अनेक वीरों की जीवन-रक्षा वानर-वैद्य सुषेण की सामयिक चिकित्सा से ही संभव हो सकी थी।

वाल्मीकि ने वानर-नारियों में वाली और सुग्रीव की पत्नी तथा सुषेण की पुत्री तारा को एक बहुज्ञ, तेजस्वी और प्रतिभाशाली नारी के रूप में चित्रित किया है। जब सुग्रीव दूसरी बार वाली से लड़ने आये, तब तारा ने इसमें कोई रहस्य भांपकर अपने पति से अनुरोध किया कि आप सुग्रीव और राम से समझौता कर लें। यद्यपि बाली ने तारा की राय न मानी, फिर भी वह उसके सुहृदोचित स्नेह और परामर्श के लिए आभार प्रकट करना न भूला।[1] प्राण-त्याग से पहले उसने तारा की बुद्धिमत्ता की प्रभूत प्रशंसा करते हुए सुग्रीव से कहा था—

सुषेणदुहिता चेयमर्थसूक्ष्मविनिश्चये।
औत्पातिके च विविधे सर्वतः परिनिष्ठिता ॥
यदेषा साध्विति ब्रूयात्कार्यं तन्मुक्तसंशयम्।
न हि तारामतं किंचिदन्यथा परिवर्तते ॥ ४।२२।१३-४

अर्थात् 'सुषेण की पुत्री यह तारा सूक्ष्म विषयों के निर्णय करने तथा नाना प्रकार के उत्पातों के चिह्नों को समझने में सर्वथा निपुण है। जिस कार्य को यह अच्छा बताये, उसे तुम निःशंक होकर कर डालना—तारा की किसी भी सम्मति का विपरीत परिणाम नहीं होता।'

स्पार्टा की स्त्रियों की तरह तारा को भी वीरोचित प्रशिक्षण मिला जान पड़ता है। वह एक 'अनिंद्यवर्णा, चारुनेत्रा, प्रियवादिनी और चारुहासिनी' सुंदरी थी। उस मनस्विनी महिला की लोक में पर्याप्त ख्याति थी (लोकश्रुता, ४।२३।१)। उसका पुराण-ज्ञान विस्तृत था। क्रुद्ध लक्ष्मण को तुष्ट करने के लिए उसने पुराणों के अनेक अंश प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किये थे (४।३३।५१-७)। सीता की खोज कराने में सुग्रीव की शिथिलता का कारण बताते हुए उसने, परंपरागत ज्ञान के आधार पर, लक्ष्मण से कहा था कि सुग्रीव तो स्वभाव से ही चंचल वानर हैं, उस पर उन्हें राज्य मिल गया है, ऐसी दशा में वह सुख-भोग में क्यों न आसक्त होंगे? अपनी स्त्री-सुलभ चतुरता, कांता-संमित अनुनय-विनय एवं धर्मानुकूल सारगर्भित वचनों से चंद्रमुखी तारा ने सुग्रीव के प्रति लक्ष्मण के मनोमालिन्य को दूर कर

---

१. **कृतं तारे सहायस्त्वं दर्शितं सौहृदं मयि ॥** ४।१६।६

दिया। निश्चय ही तारा एक असाधारण नारी थी; स्त्रियोचित दाक्षिण्य और गुणों के साथ-साथ उसमें उच्च कोटि की राजनयज्ञता और वाग्मिता विद्यमान थी—सरस भावुकता के साथ क्षत्रियोचित निडरता भी थी। सुख के समय सुकुमार और विलास-प्रिय, पर आवश्यकता आ पड़ने पर कठोर और दृढ़-निश्चयी बनने की उसमें क्षमता थी। वास्तव में तारा ही पहले वाली के द्वारा और फिर सुग्रीव के द्वारा किष्किंधा का राज्य-संचालन करती थीं—उन दोनों की नीतियां और कार्य तारा के निर्देशानुसार निर्धारित होते थे। जब सुग्रीव भोग-विलास में निमग्न थे, तब तारा ने ही सजग रहकर सीता की खोज का प्रबंध करवाया था (४।३५।१९-२२)। सीता ने तारा के इस विशिष्ट व्यक्तित्व को भली-भांति परखा होगा, तभी उन्होंने लंका से अयोध्या की विजय-यात्रा में सम्मिलित होने के लिए तारा को भी आमंत्रित किया था।

वानर-संस्कृति की उक्त विवेचना के बाद यह प्रश्न स्वतः ही समाधान के लिए उठ खड़ा होता है कि वानर बंदर थे या मनुष्य। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है कि स्वयं कवि ने वानरों के चित्रण में परस्परविरोधी या असंगत बातों का आश्रय लिया है। कभी-कभी तो वह उन्हें निरे बंदरों के रूप में चित्रित करता है और इस साम्य को कायम रखने के प्रयत्न में अनेक युक्तियों का सहारा लेता है। पहली बार सुग्रीव का वर्णन करते समय कहा गया है कि 'वह वानरेंद्र मन को वश में रखनेवाले, महान् पराक्रमी, तेजस्वी, अनंत कांतिमान्, सत्यप्रतिज्ञ, विनीत, धैर्यवान् और परम बुद्धिमान् हैं (३।७२।१३-४)। निस्संदेह यह वर्णन बंदरों का-सा नहीं प्रतीत होता। किंतु सुग्रीव का बंदरपन तब उद्घाटित हो जाता है जब राम-लक्ष्मण को देखकर वह सशंकित, भयग्रस्त और उद्विग्न हो उठते हैं। इस दृश्य के अंकन में कवि ने 'वानर' शब्द के अतिरिक्त उसके 'प्लवंगम', 'हरि', 'शाखामृग', 'कपि' आदि पर्यायों का भी प्रयोग किया है। सुग्रीव को धैर्य बंधाते हुए हनुमान् उनके बंदरपन की ही दुहाई देते हैं—"हे प्लवंगम, इस समय आपका बंदरपन बिलकुल साफ दिखाई दे रहा है, तभी तो आप ऐसे अधीर हो गए हैं कि अपनी बुद्धि को भी स्थिर नहीं रख सकते।"[1] तत्पश्चात् प्रकृतिस्थ होने पर और राम के सौहार्द का आश्वासन मिलने

१. अहो शाखामृगत्वं ते व्यक्तमेव प्लवंगम। लघुचित्ततयात्मानं न स्थापयसि यो मतौ॥ ४।२।१७

पर सुग्रीव ने रमणीय वेश-भूषा में सज्जित होकर (दर्शनीयतमो भूत्वा, ४।५।८) अपना हाथ बढ़ाते हुए उनसे प्रगाढ़ मैत्री का प्रस्ताव किया। राम ने भी उनका हाथ अपने हाथ में लेकर हर्ष के साथ उन्हें छाती से लगा लिया। हनुमान् ने दो लकड़ियों को रगड़कर अग्नि प्रज्वलित की। राम और सुग्रीव दोनों ने अग्नि की प्रदक्षिणा की, और इस प्रकार उनमें विशुद्ध आर्य ढंग से प्रगाढ़ मैत्री-संबंध स्थापित हो गया। वास्तविक बंदर अग्नि के उपयोग से अनभिज्ञ होते हैं और उसके धार्मिक या कर्मकांडीय महत्त्व का उन्हें कोई पता नहीं रहता। इस मानवीय आचरण के तुरंत बाद ही सुग्रीव ने साल-वृक्ष की पत्ती और फूलोंवाली एक शाखा तोड़ी और उसे बिछाकर वह राम के साथ उसपर जा बैठे! इसी प्रकार हनुमान् ने भी चंदन वृक्ष की एक पुष्पयुक्त डाली तोड़कर लक्ष्मण को बैठने के लिए दी।

वानरों में इस प्रकार बंदरों और मनुष्यों का-सा व्यवहार दिखाकर कवि विरोधाभास की सृष्टि कर देता है। राम और वाली के संवाद में यह विरोधाभास खुलकर प्रकट हुआ है। मरणासन्न वाली ने राम पर युद्ध के नियमों का भंग करने का आरोप लगाया और उनके इस अनैतिक कृत्य को अनावश्यक बताते हुए कहा—"मैं तो पांच नखोंवाला वनवासी वानर हूं। पंडितजन मेरे चमड़े और हड्डियों को छूते भी नहीं और मेरा मांस तो अभक्ष्य है ही। ऐसी स्थिति में मेरा शिकार करना एक निरर्थक क्रूरता का कार्य था।" इसके उत्तर में राम ने कहा—"किष्किंधा के सार्वभौम सत्ताधारी होने के नाते हमें यह अधिकार है कि सुग्रीव की पत्नी से अवैध संबंध रखने के दंडस्वरूप तुम्हारा वध कर दें।" बंदरों की जाति को आर्य-आदर्श की कसौटी पर कसने की यह प्रवृत्ति विचित्र जान पड़ती है।

अन्यत्र, वानरों की संस्कृति को महान् एवं समुन्नत अंकित किया गया है। सुग्रीव का राज्याभिषेक तथा वाली की अंत्येष्टि दोनों वैदिक विधि से संपन्न हुए थे। सुग्रीव, हनुमान् तथा अंगद का कवि ने जो प्रभावशाली चित्रण किया है, वह उनकी महान् संस्कृति का सूचक है। वानरों के संपत्ति-वैभव, वसनाभरण, शिक्षा-दीक्षा, धर्म-कर्म तथा सामाजिक और राजनीतिक संगठन के वर्णन से यही स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता है कि रामायणकार ने राम के सहयोगियों को वस्तुतः बंदर नहीं माना है।

इस जाति के जिन नामों का उल्लेख रामायण में आया है, उनमें 'वानर' शब्द १,०८० बार प्रयुक्त हुआ है, और उसीके पर्याय-रूप में 'वनगोचर', 'वनकोविद',

'वनचारी', 'वनौकस्' आदि शब्द आये हैं। इनसे यह स्पष्ट है कि 'वानर' शब्द बंदर का सूचक न होकर वनवासी का द्योतक है। उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार करनी चाहिए—वनसि (अरण्ये) भवः चरो वा इति वानरः=वनौकसः, आरण्यकः। वानरों के लिए 'हरि' शब्द ५४० बार आया है। इसे भी 'वनवासी' आदि समासों से स्पष्ट किया गया है। 'प्लवंग' शब्द, जो दौड़ने की क्षमता का व्यंजक है, २४० बार प्रयुक्त हुआ है। वानरों की कूदने-दौड़ने की प्रवृत्ति को सूचित करने के लिए प्लवंग या प्लवंगम शब्द का व्यवहार उपयुक्त भी है। हनुमान् उस युग के एक अत्यंत शीघ्र-गामी दौडाक या धावक थे, इसीलिए उनकी सेवाओं की कई बार आवश्यकता पड़ी थी। 'कपि' शब्द ४२० बार आया है, जो सामान्यतः बंदर के अर्थ में प्रयुक्त होता है। क्योंकि रामायण में वानरों को पूंछयुक्त प्राणी बताया गया है, इसलिए वे **कपयः** थे। वानरों को मनुष्य मानने में सबसे बड़ी बाधा उनकी यही पूंछ है। पर यदि सूक्ष्मता से देखा जाय तो यह पूंछ हाथ-पैर के समान शरीर का अभिन्न अंग न होकर वानरों की एक विशिष्ट जातीय निशानी थी, जो संभवतः बाहर से लगाई जाती थी। तभी तो हनुमान् की पूंछ जलाये जाने पर भी उन्हें किसी प्रकार की शारीरिक पीड़ा का अनुभव नहीं हुआ। रावण ने पूंछ को कपियों का सर्वाधिक प्रिय भूषण बताया था—**कपीनां किल लांगूलमिष्टं भवति भूषणम्** (५।५३।३)।[1]

बंदर न होते हुए भी वानरों की आकृति, रूप-रंग, मानसिक चेष्टाओं तथा

---

१. पूंछ का वर्णन विशेषकर हनुमान् और उनके लंका-दहन के सिलसिले में ही अधिक हुआ है। वाली, सुग्रीव, अंगद तथा वानर-स्त्रियों में पूंछ होने का विशेष प्रमाण नहीं मिलता। अन्वेषकों ने इतिहास में पूंछ लगानेवाले व्यक्तियों या जातियों का अस्तित्व ढूंढ़ निकाला है। बंगाल के कवि मातृगुप्त हनुमान् के अवतार माने जाते थे और वह एक पूंछ लगाते थे (दिनेशचंद्र सेन—'बंगाली रामायण', पृ० ७५)। भारत के एक राज-परिवार में राज्याभिषेक के समय पूंछ धारण करने का रिवाज प्रचलित था (वही)। श्री विनायक दामोदर सावरकर ने अपने अंडमान-कारावास के संस्मरणों में लिखा है कि इस द्वीप में पूंछ लगानेवाली एक आदिवासी जाति रहती है (महाराष्ट्रीय-कृत 'रामायण-समालोचना')। विशाखापत्तन के शवरों में पूंछ आभूषण के रूप में पहनी जाती है (जी० रामदास)।

शारीरिक हरकतों में बंदरों के-से लक्षण अवश्य मौजूद थे। चपल, निरंकुश और रूखा स्वभाव; रोएंदार, विकृत आकृति, कूदने-फांदने की प्रवृत्ति, विलासप्रियता, यौन संबंधों में अनियमितता, जंगलों और पहाड़ों में निवास; पेड़ों, चट्टानों, नखों और दांतों का शस्त्र-रूप में व्यवहार, और किलकारियां मारने में रुचि—इन विशेषताओंवाली विचित्र जाति को देखकर आर्यों ने उसे बंदरों के समान ही समझ लिया होगा, और जब कभी वह इन वानरी प्रवृत्तियों को प्रकट करती, तब आर्य उसे कपि या शाखामृग-जैसे नामों से संबोधित करते। राक्षस लोग वानरों को कपि या वानर अहंकारवश या उनके प्रति तुच्छता की भावना के कारण कहते थे, वैसे ही जैसे रूसी लोग किसी समय जापानियों को 'पीले बंदर' (यलो मंकी) कहकर उनका उपहास किया करते थे।[1]

अब यह प्रायः स्वीकार कर लिया गया है कि प्राचीन भारत में पशुओं के नाम से अभिहित कई जातियां निवास करती थीं, जैसे नाग (सांप), ऋक्ष (भालू) और वानर (बंदर)। कालांतर में लोक-मानस ने उन्हें आकृति और स्वभाव में उन-उन पशुओं का ही प्रतिरूप मान लिया, जिनका नाम वे धारण करती थीं, या जिनके साथ उनका कुछ-कुछ रूप-साम्य था, अथवा जिनकी वे देवता-रूप में पूजा करती थीं, अथवा जिनको उन्होंने अपना जातीय चिह्न मान लिया था।[2]

श्री मन्मथनाथ राय[3] ने वानरों को भारत के मूल निवासी व्रात्य माना है, जो बाद में आर्यों के आने पर दक्षिणी पठार के उपजाऊ भू-भागों में जाकर बस गए। राम के संपर्क में आने से पहले ही वे आर्यों के प्रभाव-क्षेत्र में आ चुके थे। श्री के० एस० रामस्वामी शास्त्री[4] ने वानरों को एक आर्य-जाति माना है, जो दक्षिण भारत में बस जाने के कारण, अपने उत्तर भारतवासी मूल बंधुओं से दूर पड़ गई। बाद में आर्य-संस्कृति से प्रभावित होने पर वह प्रगति करने लगी।

गोरेशियो, व्हीलर आदि अन्य विद्वान् वानरों को दक्षिण भारत की पहाड़ियों में निवास करनेवाली अनार्य-जाति मानते हैं। वे मूलतः वनचर लोग थे, पर, जैसा

---

१. चि० वि० वैद्य—'द रिडिल आफ द रामायण', पृ० ९६
२. वही।
३. 'सरस्वती भवन स्टडीज़', भाग ५, पृ० ७३
४. 'इंडियन कल्चर', भाग ५, पृ० १९५

कि उनकी शिक्षा-दीक्षा एवं धार्मिक कृत्यों से प्रकट है, वे अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक सरलता और शीघ्रता से आर्य-संस्कृति में दीक्षित हो गए। संभवतः राजा दंड की दक्षिण-विजय के बाद यह आदिवासी जाति विजयी जाति के प्रत्यक्ष प्रभाव में आई और इसने अपने को भानेवाले आर्य रीति-रिवाजों और मान्यताओं को ग्रहण कर लिया। वानरों का राज्य कई छोटे-छोटे गांवों और नगरों से मिलकर बना था। उनके कुछ कबीले देश के सुदूर भागों में भी रहते थे। वानर-राज्य से लगी हुई मधुवन नामक उनकी एक विहार-भूमि थी। वानरों की शासन-व्यवस्था राजा, परिषद्, सेना, मंत्री आदि की सहायता से चलती थी। राज्याधिकार परंपरागत था। सुग्रीव का राज्याभिषेक इस नियम का एक अपवाद था। वानर लोग काफी शिष्ट और सभ्य थे, यद्यपि सांस्कृतिक दृष्टि से वे आर्यों और राक्षसों से पिछड़े हुए थे। फिर भी उन्हें नील-जैसे स्थपति को जन्म देने का गौरव प्राप्त था, जो भारत और लंका के मध्यवर्ती समुद्र पर सेतु बनाकर अपने अद्भुत वास्तुकला-कौशल का परिचय दे सकता था।

: ५ :

वर्ण

रामायण-युग में आर्यों का समाज निश्चित रूप में जाति-पांति में विभक्त हो चुका था, किंतु यह विभाजन मूलतः सुविधा के लिए किया गया एक प्रकार का श्रम-विभाजन था। बाद के युग की कट्टरता का इसमें समावेश नहीं हो पाया था और इसे मानव-प्रगति में बाधक नहीं समझा जाता था। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि पूर्ववर्ती युग की अपेक्षा रामायण-काल की जाति-व्यवस्था अधिक कठोर थी। जहां ऋग्वेद के समय की जातियां वर्गों के रूप में अधिक रूढ़ थीं—उनकी स्थिति बहुत-कुछ अनिश्चित और घुली-मिली थी, वहां रामायण-काल की जातियों के बीच एक सुनिश्चित पार्थक्य स्थापित हो चुका था और उनके कर्तव्यों एवं अधिकारों का बंटवारा भी हो गया था।

वाल्मीकि ने चारों वर्णों (चातुर्वर्ण्य) का स्पष्ट उल्लेख किया है ।[1] महाराज दशरथ के अश्वमेध-यज्ञ में सहस्रों की संख्या में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आमंत्रित किये गए थे ।[2] अयोध्या नगरी के वर्णन में कहा गया है कि उसमें अपने-अपने कर्मों में संलग्न ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बसते थे—ब्राह्मणैः क्षत्रियैः **वैश्यैः स्वकर्मनिरतैः सदा** (२।१००।४१)। यज्ञ-समारोहों में ब्राह्मणों, राजाओं (क्षत्रियों) तथा नागरिकों (जो अधिकांश वैश्य होते थे) के लिए पृथक् निवास-स्थान बने रहते थे (१।१३।१०-११)। वन जाते समय राम जब नाव में गंगा पार कर रहे थे, तब उन्होंने ब्राह्मणों और क्षत्रियों के लिए विहित मंत्रों का जप किया था—**ब्रह्मवत्क्षत्रवच्चैव जजाप हितमात्मनः** (२।५२।७८)। सार्वजनिक उत्सवों में प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति के साथ तदनुरूप व्यवहार किया जाता था—**सर्वे वर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः** (१।१३।१४)।

इन उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि विभिन्न जातियों के बीच स्पष्ट मर्यादाएं तथा सम्मान और गौरव की पृथक्-पृथक् धारणाएं स्थापित हो गई थीं।

जहां तक वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का प्रश्न है, रामायण में वैदिक 'पुरुष-सूक्त' द्वारा प्रतिपादित इस मत को स्वीकार किया गया है कि विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जांघों से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए ।[3] इस वर्णन में रूपक-शैली में श्रम-विभाजन की दृष्टि से समाज का चार भागों में बंटवारा किया गया है। वाणी के स्थान मुख से प्रकट होनेवाले ब्राह्मण मनुष्य-जाति के शिक्षक-रूप माने गए। बल-वीर्य-सूचक भुजाओं से संबद्ध होने के कारण क्षत्रियों का कर्म शस्त्र-धारण करना और प्रजा की रक्षा करना बन गया। शरीर के अधोभाग—जांघों—से निकलनेवाले वैश्यों का काम श्रमपूर्वक धन और अन्न का उत्पादन करके समाज का भरण-पोषण करना निर्धारित किया गया। इसी प्रकार पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति बताकर उन्हें अन्य वर्णों का सेवक बनाया गया।

---

१. **चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मेण नित्यमेवाभिपालयन्** ।। ४।४।६
२. **निमन्त्रयस्व...ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान् शूद्रांश्चैव सहस्रशः** ।। १।१३।२०
३. **मुखतो ब्राह्मणा जाता उरसः क्षत्रियास्तथा । ऊरुभ्यां जज्ञिरे वैश्याः पद्भ्यां शूद्रा इति श्रुतिः** ।। ३।१४।३०

प्रथम तीन वर्ण 'द्विज' (दो बार जन्म लेनेवाले) कहलाते थे।[1] उपनयनसंस्कार उनके दूसरे जन्म का सूचक था। इसी संस्कार से उन्हें शूद्रों की अपेक्षा विशेष अधिकार प्राप्त होते थे। वेदों का अध्ययन, व्रत-नियमों का पालन, यज्ञों का अनुष्ठान तथा दान, ये ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के अनिवार्य सामान्य कर्तव्य-क्रम थे। अयोध्या में रहनेवाले चारों वर्ण 'ब्राह्मणों के अनुयायी, देवताओं और अतिथियों के पूजक, कृतज्ञ, उदार, शूर, पराक्रमी तथा धर्म और सत्य का पालन करनेवाले थे।'[2]

वर्ण-व्यवस्था के आरंभ से ही वेदों का पठन-पाठन (स्वाध्याय) और तपस्या ब्राह्मणों के मुख्य कर्म रहे हैं। वेदवेत्ता ब्राह्मणों (**ब्राह्मणा वेदपारगाः**, २।१५।१) का रामायण में स्थल-स्थल पर उल्लेख हुआ है। किंतु ब्राह्मणों के लिए शूद्र को वैदिक ज्ञान प्रदान करना निषिद्ध था। इसका संकेत लंका में विलाप करती हुई सीता के इस कथन से मिलता है कि मैं अनार्य रावण को अपना अनुराग वैसे ही अर्पित नहीं कर सकती, जैसे ब्राह्मण शूद्र को मंत्र-ज्ञान नहीं दे सकता—

भावं न चास्याहमनुप्रदातुमलं द्विजो मंत्रमिवाद्विजाय ॥ ५।२८।५

अध्ययन-अध्यापन का कार्य ब्राह्मणों के लिए जीविका का पर्याप्त साधन नहीं रहा होगा, अतः उन्हें यज्ञों में पौरोहित्य कर्म करने का एकमात्र अधिकार दे दिया गया। कुछ ब्राह्मण कौटुंबिक पुरोहित बन गए और कुछ श्रौत एवं स्मार्त कर्मों में ऋत्विजों का काम करने लगे। बालकांड के आख्यान-भाग से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों के लिए अपात्रों का पुरोहित बनना वर्जित एवं अशोभनीय था। यह भी प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों ने पौरोहित्य-विषयक अपने एकाधिकार को सुरक्षित रखने के लिए अपना एक दृढ़ संगठन बना लिया था। यदि कोई विजातीत उनके इस अधिकार को हड़पने की चेष्टा करता तो उसका प्रबल विरोध किया जाता था। उदाहरणार्थ, जब वसिष्ठ के पुत्रों ने राजा त्रिशंकु के यज्ञ में पुरोहित बनना अस्वीकार कर दिया, तब त्रिशंकु ने किसी और को अपना पुरोहित बनाने की इच्छा प्रकट की। इसे वसिष्ठ-पुत्रों ने अपने एकाधिकार पर प्रहार समझा और क्रुद्ध होकर राजा को चांडाल हो जाने का शाप दे दिया। जब विश्वामित्र ने (जो तबतक

---

१. **द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जायते इति द्विजः ।**

२. **वर्णेष्वग्र्यचतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः । कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रमसंयुताः ॥** १।६।१७

ब्राह्मणत्व नहीं पा सके थे) त्रिशंकु का यज्ञ कराना स्वीकार कर लिया, तब देवताओं ने उस यज्ञ की बलि लेने से इन्कार कर दिया, क्योंकि 'जिस यज्ञ में याजक क्षत्रिय हो और यजमान चांडाल, उस यज्ञ की बलि हम कैसे ग्रहण कर सकते हैं ?'—

क्षत्रियो याजको यस्य चाण्डालस्य विशेषतः ।
कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य सुरर्षयः ।। (१।५६।१३-४)

इसका अर्थ यह हुआ कि जिस यज्ञ का संचालन परंपरागत ब्राह्मण-पुरोहित नहीं करते थे, वह यज्ञ समाज की दृष्टि में अमान्य और बहिष्कार के योग्य हो जाता था ।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि वर्ग-द्वेषवाली यह स्थिति रामायण के आख्यानवाले स्थलों में ही पाई जाती है। रामायण के मौलिक कथा-वर्णन में ऐसा वर्ग-विद्वेष नहीं देखने में आता। फिर भी इतना तो निर्विवाद है कि यज्ञ-यागादिक कराने का कार्य एक विशिष्ट जाति का एकाधिकार बन चुका था ।

कर्मकांड के अतिरिक्त कुछ ब्राह्मण राजा के राजनीतिक परामर्शदाता का भी काम करते थे । व्यवहार (कानून) की व्याख्या करने और उसे क्रियान्वित करने में वे राजा की सहायता करते थे । उन्हें राज्य-सभा में उपस्थित रहने का अधिकार प्राप्त था । वे राज-पुरोहित और मंत्रि-पद के लिए उपयुक्त माने जाते थे । दशरथ की मंत्रि-परिषद् में वसिष्ठ और वामदेव ऋत्विज तथा अन्य ब्राह्मण कूटनीतिक परामर्शदाता थे ।

अन्य वर्णों से दान या प्रतिग्रह लेने का अधिकार ब्राह्मणों को सौंपकर समाज ने उनके लिए आजीविका का एक और द्वार खोल दिया । भूख से पीड़ित होने पर अथवा कुटुंब का भरण-पोषण करने में असमर्थ होने पर ब्राह्मण राजा से सहायता की याचना कर सकता था, जैसाकि बहुत पुत्रोंवाले निर्धन ब्राह्मण त्रिजट ने किया था। स्वाध्याय में निरंतर संलग्न रहने के कारण यदि कोई ब्राह्मण जीविकोपार्जन से विमुख रहता तो उसे भी राजा से सहायता पाने का अधिकार था (२।३२) ।

यज्ञों में दक्षिणा तथा उदार पुरुषों से दान आदि मिलने के अवसर अनिश्चित ही रहते थे और उनपर सर्वथा निर्भर रहना संभव नहीं था । साथ ही, सभी ब्राह्मणों के लिए वर्षों तक अध्ययन करके सांगोपांग वेदवेत्ता बनना भी सुगम नहीं था । इसलिए कई ब्राह्मण परिस्थितिवश अध्यापन, पौरोहित्य और दक्षिणा के सम्मत साधनों के अतिरिक्त आजीविका के अन्य मार्गों का भी आश्रय ले लेते थे । क्षत्रिय

या वैश्य की वृत्ति स्वीकार करके जीवन-निर्वाह करना उनके लिए वर्जित या निंदित नहीं था। अयोध्या के आचार्य सुधन्वा अर्थशास्त्र-विशारद और युद्ध-विद्या में निपुण थे, जिनकी तुलना महाभारत के द्रोणाचार्य से सहज ही की जा सकती है। राम को धनुर्वेद की शिक्षा इन्हीं सुधन्वा से मिली थी और वनवास में भी राम ने इनको श्रद्धा से स्मरण किया था।[1] इसी प्रकार परशुराम और अगस्त्य ने ब्राह्मण होते हुए भी क्षत्रिय की भांति शस्त्र-धारण किया था। त्रिजट ब्राह्मण वैश्यों की तरह हल और कुदाली चलाकर जीविकोपार्जन करता था।[2] उसका यह कार्य हीन दृष्टि से नहीं देखा जाता था, यद्यपि महाभारतकालीन समाज तक आकर ब्राह्मण का कृषि करना निंदित बन गया था।[3]

रामायणकालीन ब्राह्मणों को उनके कर्मानुसार निम्नलिखित पांच विभागों में बांटा जा सकता है—

१. नगरवासी ब्राह्मण, जो प्रतिदिन स्नान, संध्या, जप, होम, अतिथि-देव-पूजा और बलिवैश्वदेव करते तथा बड़े सत्यवादी और सदाचारी थे। अयोध्या के वर्णन में कहा गया है कि उसमें ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मण बसते थे, जो 'वेदों और उनके छहों अंगों में पारगंत थे, जो यज्ञ-यागादिक करते रहते थे, जो सद्गुणों से युक्त, सत्य-रत, महात्मा और संत थे, जो सहस्रों आशीर्वाद दिया करते थे तथा जो प्राचीन महर्षियों की प्रतिमूर्ति लगते थे।[4]

२. वनवासी ब्राह्मण, जो वन में रहकर तपस्या करते, फल-मूलों पर निर्वाह करते तथा प्रतिदिन श्राद्ध करते थे। अपने वनवास-काल में राम जिन ऋषियों के संपर्क में आये थे, वे नदी-किनारे आश्रमों में रहनेवाले और 'वैखानस-मार्ग का अनुसरण करनेवाले मुनिगण थे। संभव है, इस वर्ग में ब्राह्मणेतर तपस्वी भी रहे हों।

---

१. इष्वस्त्रवरसम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम्। सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित्त्वं तात मन्यसे ॥ २।१००।१४

२. तत्रासीत् पिंगलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विजः। उञ्छवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललांगली ॥ २।३२।२९

३. देखिये—महाभारत का सभा-पर्व, १२।१९

४. तामग्निमद्भिर्गुणवद्भिरावृतां द्विजोत्तमैर्वेदषडंगपारगैः। सहस्रदैः सत्यरतैर्महात्मभिर्महर्षिकल्पैर्ऋषिभिश्च केवलैः ॥ १।५।२३

३. ब्रह्मवादी ब्राह्मण, जो वेदांत का अध्ययन करते तथा अनासक्त रहकर सांख्य और योग का चिंतन करते थे। राम को वन में ऐसे ब्राह्मण तपस्वी मिले थे, जो ब्रह्म-तेज से युक्त तथा हठयोग की विभिन्न प्रक्रियाओं में दत्तचित्त थे—**सर्वे ब्राह्मचा श्रिया युक्ता दृढयोगसमाहिताः** (३।६।६)। दशरथ ने अपने अश्वमेध-यज्ञ में ब्रह्मवादी और वेदवेत्ता ऋत्विजों को आमंत्रित किया था।[1]

४. शस्त्रोपजीवी ब्राह्मण, जो क्षत्रियों की भांति शस्त्र-धारण और युद्ध करते थे।

५. श्रमजीवी ब्राह्मण, जो कृषि और गो-पालन द्वारा निर्वाह करते थे।

धर्मशास्त्रों की रचना के समय उपर्युक्त ब्राह्मण क्रमशः देव-ब्राह्मण, मुनि-ब्राह्मण, द्विज-ब्राह्मण, क्षात्र-ब्राह्मण और वैश्य-ब्राह्मण कहलाने लगे थे।[2] कहना न होगा कि जाति जन्म से ही थी, न कि कर्म से। क्षात्र या वैश्य-वृत्ति से रहनेवाले ब्राह्मण भी ब्राह्मण ही कहलाते थे।

ब्राह्मणों का बड़ा आदर-सम्मान किया जाता था और जो उन्हें कष्ट पहुँचाता या उनकी सम्पत्ति छीनता, उसे कठोर दंड दिया जाता था, चाहे वह राजकुमार ही क्यों न हो। ननिहाल से लौटने पर भरत कैकेयी से पूछ बैठे थे कि कहीं राम ने किसी ब्राह्मण का धन तो नहीं हर लिया था, जिसके कारण उन्हें वन में निर्वासित कर दिया गया हो ?—

कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्यचित्।
कस्मात्स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः॥ १७२।४४।५

दैनिक जीवन में ब्राह्मणों को प्राथमिकता दी जाती थी। राजकीय जुलूसों में उन्हें आगे रखा जाता था। लंका-विजय से लौटने पर जिस जुलूस में राम नंदि-ग्राम से अयोध्या गये, उसमें महात्मा वसिष्ठ और द्विज लोग आगे-आगे चल रहे थे।[3] ब्राह्मण में प्रति प्रगाढ़ भक्ति प्रदर्शित करना तत्कालीन राजाओं का धर्म

---

१. ब्राह्मणान् वेदपारगान्। सुमन्त्रावाहय क्षिप्रमृत्विजो ब्रह्मवादिनः॥ १।१२।४-५

२. देखिये, पांडुरंग वामन काणे-कृत 'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र', जिल्द २, भाग १, पृ० १३०

३. द्विजाः...रामस्य पुरतो ययुः॥ ६।१२८।३८

था। राम अपने युग की ब्राह्मण-संस्कृति के अनन्य रक्षक एवं पोषक थे। जिन विशेषताओं के कारण उन्हें युवराज-पद के लिए उपयुक्त माना गया था, उनमें वयोवृद्ध विद्वान् ब्राह्मणों के प्रति उनकी श्रद्धा और भक्ति प्रमुख थीं (**बहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता**, (२।२।२३)। लंका में सीता के सम्मुख राम का परिचय देते हुए हनुमान ने उन्हें **ब्राह्मणानाञ्च उपासकः** बताया था (५।३५।१३)।

तत्कालीन राज्य-व्यवस्था में ब्राह्मण पुरोहित को ऊंचा पद प्राप्त था। पौरोहित्य-पद परंपरागत होता था। इक्ष्वाकु-वंश के परंपरागत पुरोहित वशिष्ठ-वंशी ब्राह्मण थे। राजा दशरथ और राम दोनों के शासन-काल में वसिष्ठ मुख्य मंत्री थे। राजकुल में पुरोहित सम्मान और शिष्टाचार का विशेष पात्र (मानार्ह) होता था। 'उन अत्यधिक तेजस्वी, विद्वान् और धर्म-रत ब्राह्मण वसिष्ठ का तुम प्रभूत समादर तो करते हो ?'[1]—राम ने भरत से चित्रकूट पर यह प्रश्न पूछकर वसिष्ठ के प्रति अपनी आदर-भावना व्यक्त की थी। पुरोहित के आगमन पर राजा लोग सिंहासन से उठकर उसका स्वागत करते थे। दशरथ की सभा में पुरोहित वसिष्ठ के आने पर समस्त सभासद् उनके सम्मान में उठकर खड़े हो गए थे।[2]

राजकीय क्रिया-कलापों पर पुरोहित का बड़ा प्रभाव था। 'सभी इक्ष्वाकुओं के लिए पुरोहित ही अंतिम शरण है और उस सत्यवादी की आज्ञा का उल्लंघन करना सम्भव नहीं।'[3] राज्य-सभा में राजा के बाद पुरोहित का ही सर्वोच्च स्थान था। वह राजा का दाहिना हाथ उनका सतत परामर्शदाता था। दशरथ अपने पुरोहित से परामर्श किये बिना कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं करते थे। उनके पुत्रेष्टि-यज्ञ का संचालन वशिष्ठ के हाथ में था। राम-सीता के विवाह के लिए दशरथ ने वशिष्ठ की पूर्व-स्वीकृति प्राप्त कर ली थी। विवाह-समारोह के भी वसिष्ठ ही सर्वे-सर्वा थे। राम के प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक का सारा प्रबन्ध वसिष्ठ के ही सुपुर्द

---

१. **स कश्चिद् ब्राह्मणो विद्वान् धर्मनित्यो महाद्युतिः। इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत्तात पूज्यते ॥ २।१००।९**

२. **तमागतमभिप्रेक्ष्य हित्वा राजासनं महत् ॥ २।५।२३; सभासदः... आसनेभ्यः समुत्तस्थुः पूजयन्तः पुरोहितम् ॥ २५।२४**

३. **इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां पुरोधाः परमा गतिः। न चातिक्रमितुं शक्यं वचनं सत्यवादिनः ॥ १।५८।३**

किया हुआ था।

आपत्ति-काल में पुरोहित के अधिकार और भी बढ़ जाते थे। राम के वन चले जाने पर जब राजा दशरथ का देहांत हो गया और कोसल में कोई राजा नहीं रह गया, तब 'राजकर्तार' (सभा के वरिष्ठ सदस्यों) ने वसिष्ठ से ही पथ-प्रदर्शन की अपेक्षा की थी, क्योंकि वही राज-पुरोहित (धर्माध्यक्ष) और वास्तविक मुख्य मंत्री थे।[1] इस नाते पुरोहित को अधिकार था कि वह राजा की अनुपस्थिति में सभा का विशेष अधिवेशन करे, उसमें अध्यक्ष का स्थान ग्रहण करे तथा दिवंगत राजा के उत्तराधिकारी को आमंत्रित कर उसे राजगद्दी सौंप दे। वसिष्ठ ने 'राज-कर्तार:' को आश्वस्त करके भरत को केकय देश से बुलवाने का तुरन्त प्रबन्ध किया और उनके लौटने पर उनसे राज्य स्वीकार करने का आग्रह किया। जब भरत नहीं माने, तब वसिष्ठ राम को लिवा लाने के लिए चित्रकूट गये, जहां उन्होंने महत्त्व के विचार-विमर्श में प्रमुख भाग लिया।

महाभारत की अपेक्षा रामायण में ब्राह्मणों का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। ब्राह्मणों की अप्रसन्नता से सभी घबराते थे। दशरथ ने, अनिच्छा रहते हुए भी, विश्वामित्र से डरकर सुकुमार और अल्पवयस्क राम को उनके सुपुर्द कर दिया था। पंचवटी में सीता द्विजवेशधारी रावण का स्वागत करने को विवश हो गई, क्योंकि उन्हें भय था कि यदि मैं इस ब्राह्मण अतिथि से नहीं बोलूंगी तो यह मुझे शाप दे देगा।[2] सुमंत्र ने कैकेयी को चेतावनी दी थी कि यदि तुम भरत को राज्य दिलाने का दुराग्रह करोगी तो कोई ब्राह्मण तुम्हारे राज्य में नहीं रहेगा।[3]

उत्तरकांड के समय में ब्राह्मणों के प्रभाव में और वृद्धि हो गई। कानून में भी अब उनके प्रति पक्षपात बरता जाने लगा। निम्न वर्णों से उनके हितों की रक्षा के लिए विशेष विधि-विधान बनाये गए। ब्राह्मण की सम्पत्ति का हरण करनेवाला

---

१. एते द्विजाः सहामात्यैः पृथग्वाचमुदीरयन्। वसिष्ठमेवाभिमुखाः श्रेष्ठं राजपुरोहितम्॥ २।६७।४

२. ब्राह्मणश्चातिथिश्चैष अनुक्तो हि शपेत माम्। इति ध्यात्वा मुहूर्तं तु सीता वचनमब्रवीत्॥ ३।४७।२

३. न च ते विषये कश्चिद् ब्राह्मणो वस्तुमर्हति। तादृशं त्वममर्यादमद्य कर्म करिष्यसि॥ २।३५।११

या मन से भी उसके अधिकारों को छीननेवाला घोर नरक का भागी माना जाने लगा, और जो व्यक्ति ब्राह्मण को कोई वस्तु दान में देकर उसे वापस ले लेता, उसका तो बन्धु-बांधवों-सहित सर्वनाश हो जाता था; दोषी ब्राह्मण को भी प्राण-दंड नहीं दिया जा सकता था।[1]

जान पड़ता है, उन दिनों ब्राह्मणों की सवारी के लिए विशेष प्रकार के रथ होते थे, जिन्हें 'ब्राह्म रथ' कहते थे। राम को यौवराज्याभिषेक की दीक्षा देने के लिए महर्षि वसिष्ठ ब्राह्मणों के योग्य एक उत्तम रथ में बैठकर उनके महल तक गये थे—**ब्राह्मं रथवरं युक्तमास्थाय स सुधृतव्रतः** (२।५।४)। जब उनका रथ राम के प्रासाद के निकट पहुँचा तब राम दूर से देखते ही पहचान गए कि मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ पधारे हैं। इससे ज्ञात होता है कि इन रथों में कुछ ऐसे बाहरी चिह्न होते होंगे, जिनसे यह अनुमान लगाया जा सकता था कि अमुक रथ किसी ब्राह्मण का है। यह अस्वाभाविक नहीं जान पड़ता कि ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा में वृद्धि होने पर समाज उन्हें विशेष सुविधाएं और अधिकार देने लगा हो।

ब्राह्मणों का व्यक्तित्व गौओं और राजाओं की तरह पवित्र माना जाता था।[2] उनकी सुरक्षा के लिए बड़े-बड़े युद्ध मोल लिये जाते थे। उत्तरकांड में ब्राह्मणों की वेदों के साथ एकरूपता बताई गई है (**वेदा ब्राह्मणरूपेण**, ७।१०९।८)। ब्रह्म-हत्या भयंकर पापों के अंतर्गत गिनी जाती थी, जिससे मुक्ति पाने के लिए अश्वमेध-यज्ञ करना आवश्यक था। परशुराम को ब्राह्मण जानकर ही राम ने उनपर अपना अमोघ बाण नहीं चलाया था।[3] जब दशरथ ने हाथी के धोखे में अंधमुनि के पुत्र को मार डाला, तब उन्हें यह सोचकर मार्मिक वेदना हुई

---

१. **ब्राह्मणद्रव्यमादत्ते देवतानां च राघव। सद्यः पतति घोरे वै नरके वीचिसंज्ञके। मनसापि हि देवस्वं ब्रह्मस्वं च हरेत्तु यः। निरयान्निरयं चैव पतत्येव नराधमः॥** ७।५९ (२)।४९।५१; **ब्रह्मस्वं देवताद्रव्यं...दत्तं हरति यो भूय इष्टैः सह विनश्यति॥** ७।५९ (२)।५८-९; **अवध्यो ब्राह्मणो दण्डैरिति शास्त्रविदो विदुः।** ७।५९ (२)।३४

२. देखिये ३।२४।२१; १।२६।५; ४।१७।३६; १।२५।१५;

३. **ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे...तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्॥** १।७६।६

कि कहीं मैंने किसी ब्राह्मण-कुमार को मारकर ब्रह्म-हत्या का पाप तो नहीं कर डाला।[1]

पाश्चात्य विद्वानों ने रामायण की एक ब्राह्मण-प्रधान कृति के रूप में आलोचना की है, और इसमें कोई संदेह नहीं कि राम-राज्य के सामाजिक जीवन में ब्राह्मणों का बड़ा हाथ था। किंतु इसी कारण रामायणकालीन संस्कृति की श्रेष्ठता या विशेषता को कम कर देना उचित नहीं होगा। वस्तुतः हमें यह जानने का प्रयत्न करना चाहिए कि ब्राह्मणों की इस असाधारण लोकप्रियता का, उनके लोकोत्तर प्रभाव का स्रोत क्या था। उनके प्रभाव का रहस्य कई बातों में ढूँढ़ा जा सकता है, पर उनकी अध्ययन-अध्यापन की वृत्ति एवं त्यागशीलता की भावना ही उनके सर्वातिशायी प्रभाव का सबसे बड़ा कारण थीं। वे अपना प्रभाव पाशविक शक्ति अथवा छल-कपट के सहारे नहीं, वरन् आदर्श चरित्र के बल पर बनाये रखते थे। वेदों का स्वाध्याय और धर्मपरायण आचरण उनके जीवन का मूल मंत्र था; और सच पूछा जाय तो ब्राह्मण-संस्कृति एक अनुशासनपूर्ण संस्कृति थी। जिस ऊंचे बौद्धिक और नैतिक स्तर से ब्राह्मण अपने प्रभाव का संचार करते थे और जो अधिकार अन्य वर्णों ने उन्हें स्वेच्छा से प्रदान किये थे, उन्हें पाने के लिए ब्राह्मणों को दरिद्रता और भिक्षाटन का व्रत अंगीकार करना पड़ता था। सादा जीवन, उच्च विचार, सक्रिय अर्थोपार्जन से निवृत्ति तथा देश की संस्कृति का संरक्षण और प्रसार उनके जीवन के आदर्श थे। अयोध्या के ब्राह्मण पवित्र, स्वकर्म-निरत, जितेंद्रिय, दान और अध्ययन में संलग्न तथा प्रतिग्रह लेने में सचेष्ट रहते थे।[2] राजाओं से उनको जो दान या उपहार मिला करते थे, उनका उपयोग वे देश की सांस्कृतिक निधि के संवर्धन में किया करते थे। अपनी विद्वत्ता,[3] बौद्धिक प्रतिभा तथा कर्मकांड के ज्ञान के कारण वे शैक्षणिक क्षेत्र और धार्मिक क्रिया-कलापों में अनिवार्य बन गए थे। उनमें संगठन और व्यवस्था करने की योग्यता के साथ आज्ञा-पालन कराने का

१. ब्रह्महत्याकृतं पापं हृदयादपनीयताम्। न द्विजातिरहं राजन् मा भूत्ते मनसि व्यथा॥ २।६३।५०

२. स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः। दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च परिग्रहे॥ १।६।१३

३. नाविद्वान् ब्राह्मणः कश्चित्॥ १।१४।११; १।१४।२१ भी देखिये।

नैतिक बल भी था। उत्तरकांड में जो ब्राह्मण अपने असमय में मरे हुए पुत्र को लेकर राजा राम के सम्मुख उपस्थित होता है और उन्हें ऐसी दुर्घटनाओं का मूल कारण दूर करने को विवश कर देता है, उसकी शक्ति का मूल स्रोत उसका चारित्रिक बल था—उसने कभी असत्य-भाषण नहीं किया था, न कोई हिंसा की थी और न किसी प्राणी के प्रति कोई पापाचरण किया था।[1] ब्राह्मणों को राजनीति का विलक्षण ज्ञान था, कूटनीति में वे पारंगत थे, फिर भी स्वार्थ-सिद्धि से सर्वथा विमुख थे। इसीलिए वे राजाओं के विश्वासपात्र परामर्शदाता बनने में समर्थ हुए। क्योंकि उनपर राष्ट्र की बौद्धिक और आध्यात्मिक संस्कृति को प्रसारित करने तथा उसकी श्रेष्ठता को अक्षुण्ण बनाये रखने का गुरुतर दायित्व था, अतः क्या आश्चर्य, यदि उन्हें सामाजिक जीवन में कुछ विशेष सुविधाएं एवं अधिकार दे दिये गए हों और वे शेष वर्णों के आदर-सत्कार के पात्र बन गये हों!

जहां ब्राह्मणों का कार्य प्रजा के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान में योग देना था, वहां क्षत्रियों का कर्तव्य देश को बाह्य और आंतरिक संघर्षों से बचाना था। राम के अनुसार दान देना, यज्ञों में दीक्षा ग्रहण करना और युद्ध में देह का त्याग करना क्षत्रियों के कर्तव्य-कर्म हैं (**दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु हि,** (२।४०।७)।

क्षत्रियों को विशेष रूप से ब्राह्मणों और गौओं की रक्षा करनी पड़ती थी; शरण में आये हुए किसी भी प्राणी को अभय-दान देना उनका धर्म था।[2] जैसे माता अपने गर्भ की रक्षा करती है, वैसे ही राजा को तपस्वियों की रक्षा करनी चाहिए।[3] राम ने कहा था कि क्षत्रिय लोग धनुष इसलिए धारण करते हैं कि पृथ्वी पर आर्त-शब्द (दुःखी प्राणियों का हाहाकार) न हो—**क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्त्तशब्दो भवेदिति** (३।१०।३)।

---

१. **न स्मराम्यनृतं ह्युक्तं न च हिंसां स्मराम्यहम्। सर्वेषां प्राणिनां पापं न स्मरामि कदाचन।। ७।७३।७**

२. तुलना कीजिये—**करिष्यामि न सन्देहस्ताटकावधमुत्तमम्। गोब्राह्मणहितार्थाय देशस्य च हिताय च।। १।२६।४-५; बद्धांजलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम्। न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परन्तप।। ६।१८।२७**

३. **रक्षणीयास्त्वया शश्वद् गर्भभूतास्तपोधनाः।। ३।१।२१**

इन सेवाओं के वदले राजा को यह कानूनी अधिकार मिला हुआ था कि वह अपनी प्रजा की आय का छठा हिस्सा कर के रूप में ले। यह कर 'बलिषड्भाग' कहलाता था (२।७५।२५)। प्रजा-रक्षण में तत्पर और धर्माचरण करनेवाले राजा को तपस्वियों द्वारा अर्जित पुण्य में भी एक-चौथाई हिस्सा मिलता था।[1]

'दंड' अर्थात् न्याय का यथोचित विधान करना राजा का कर्त्तव्य था। दंड का प्रयोग प्रजा की रक्षार्थ होना चाहिए, उसके उत्पीड़न के लिए नहीं। अपराधी पर प्रयुक्त किया जानेवाला दंड राजा को स्वर्ग का अधिकारी बना देता था।

राजा बनने का अधिकार एकमात्र क्षत्रियों को प्राप्त था। किसी क्षत्रियेतर को शासन करने का अधिकार नहीं मिल सकता था। ब्राह्मणों ने शासन करने में अपनी अयोग्यता स्वीकार कर ली थी। जब दशरथ ने अपने अश्वमेध-यज्ञ में ब्राह्मणों को समस्त पृथ्वी दान में दे दी, तब उन ब्राह्मणों ने कहा—"राजन्, आप ही पृथ्वी का शासन करने के योग्य हैं। हमें भूमि लेकर क्या करना है! उसका पालन करने में हम असमर्थ हैं। हम लोग तो सदा स्वाध्याय में लगे रहते हैं। अतएव आप कृपया इस भूमि के बदले सुवर्ण, हीरे-मोती और गौओं का उपहार दीजिये, भूमि से हमें कोई प्रयोजन नहीं (१।१४।४७-६)।"

ब्राह्मण लोग वर्ण-व्यवस्था के शीर्ष-स्थान पर विराजमान थे और क्षत्रिय उनका अनुसरण करते थे—**क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीत्** (१।६।१६)। ये दोनों उस युग के विशिष्ट वर्ण थे; सारे राजनीतिक और सामाजिक अधिकार इन्हींके हाथों में केंद्रित थे। यदि ब्राह्मण प्राचीन आर्य-राष्ट्र के मस्तिष्क थे, तो क्षत्रिय उसके बाहु थे। वसिष्ठ-जैसे ब्राह्मण जहां महान् तत्त्ववेत्ता और विचारक थे, वहां राम-जैसे क्षत्रिय अप्रतिम शासक और योद्धा थे। नैतिक और राजनीतिक उत्कर्ष में उनकी मानो साझेदारी थी।

परशुराम और राम का संघर्ष ब्राह्मणों और क्षत्रियों के बीच कटुता का सूचक भले ही मान लिया जाय, अन्यथा इन दोनों जातियों के पारस्परिक संबंध अधिकांशतः सौहार्दपूर्ण ही मिलते हैं। राजागण ब्राह्मणों की सद्भावना प्राप्त करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे। चित्रकूट पर राम ने भरत से पूछा था—"क्या शास्त्रज्ञ ब्राह्मण

---

१. यत्करोति परं धर्मं मुनिर्मूलफलाशनः। तत्र राज्ञश्चतुर्भागः प्रजा धर्मेण रक्षतः॥ ३।६।१४

अन्य नागरिकों के साथ तुम्हारे कल्याण की कामना करते हैं ? तुम उनका सत्कार तो करते हो ? उन्हें नमस्कार करना भूलते तो नहीं ?"[1] वन-प्रस्थान करने से पहले राम ने सीता से कहा था कि मेरी अनुपस्थिति में तुम ब्राह्मणों की पूजा करती रहना।[2] लंका में अग्नि-परीक्षा से पहले सीता ने ब्राह्मणों को नमस्कार किया था।[3] ब्राह्मणों को प्रसन्न और अनुगृहीत करने के लिए क्षत्रिय किस सीमा तक जाने को तैयार थे, इसके ज्वलंत उदाहरण महाराज अलर्क हैं, जिन्होंने एक ब्राह्मण की याचना पर अपनी आंखें निकालकर उसे दे दी थीं।[4] राजा विश्वामित्र ने वसिष्ठ की गौ छीनने की जो चेष्टा की थी, उससे जान पड़ता है कि कुछ क्षत्रिय राजा अत्याचारी होते थे और तपस्वी ब्राह्मणों का कुछ भी संमान नहीं करते थे। किंतु विश्वामित्र का क्षत्रियोचित शौर्य वसिष्ठ को आतंकित करने में असफल रहा और अंत में उन्हें यह स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा कि क्षत्रिय का पाशविक बल ब्राह्मण के आध्यात्मिक तेज के सामने तुच्छ है—**धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्** (१।५६।२३)। इसके विपरीत त्रिशंकु के आख्यान से ज्ञात होता है कि विरोधी ऋत्विजों के हाथों क्षत्रिय कैसे कठपुतली बन जाते थे।

यदि ब्राह्मण रामायणकालीन समाज के मस्तिष्क थे और क्षत्रिय उसकी भुजाएं तो वैश्य लोग वर्णाश्रम-व्यवस्था को आर्थिक संबल प्रदान करते थे। उनका मुख्य कार्य अर्थोपार्जन करना था। व्यापार, कृषि और गो-पालन उनके मुख्य धंधे थे। वे ही करों का भार वहन करते थे। द्विज होने के नाते वैश्यों के धार्मिक संस्कार और कृत्य ब्राह्मणों और क्षत्रियों के ही समान होते थे। उन्हें यज्ञों में उपस्थित होने और वेद-पाठ करने का अधिकार था। वैश्य-ऋषि अंधमुनि ने दशरथ के हाथों मारे गए अपने पुत्र के लिए विलाप करते हुए कहा था कि अब ब्राह्म वेला में मुझे

---

१. **कच्चित्ते ब्राह्मणः शर्म सर्वशास्त्रार्थकोविदः। आशंसते महाप्राज्ञ पौरजानपदैः सह ॥ २।१००।६४; कच्चित्......ब्राह्मणाँश्च नमस्यसि। २।१००।६१**

२. **पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सत्कृताः ॥ २।२४।२६**

३. **प्रणम्य दैवतेभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली। बद्धांजलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपतः ॥ ६।११६।२४**

४. **तथा ह्यलर्कस्तेजस्वी ब्राह्मणे वेदपारगे। याचमाने स्वके नेत्रे उद्धृत्याविमना ददौ ॥ २।१४।५**

कौन वेदों या अन्य शास्त्रों का मधुर घोष सुनाया करेगा।[1] क्षत्रियों की भांति वैश्य भी पुरोहित बनने के अधिकार से वंचित थे।

ब्राह्मणों और क्षत्रियों की अपेक्षा वैश्यों का संख्या-बल अधिक था। वैश्यों की बस्तियां अन्य वर्णों की बस्तियों से अलग बनी रहती थीं। अयोध्या तथा अन्य नगरों में व्यापारियों की सुव्यवस्थित दूकानें बनी हुई थीं (सुविभक्तान्तरापणाम्, १।५।१०)। अपनी संख्या और अपने धन के कारण वैश्य अयोध्या के सबसे प्रभावशाली नागरिक थे। स्वायत्त-संस्थाओं तथा राज्य-सभा के कार्य-कलाप में उन्हें बड़ा महत्त्व प्राप्त था। वैश्य जाति अपने-अपने धंधों के अनुसार गणों और नैगमों-जैसे संगठनों में विभाजित थी।

वर्ण-व्यवस्था में शूद्रों को सबसे निम्न स्थान प्राप्त था। उनका कार्य तीनों वर्णों की सेवा करना था। वे प्रायः घरेलू नौकरी और दास-वृत्ति किया करते थे। शूद्रों का यज्ञों में उपस्थित होना वर्जित नहीं था। दशरथ के अश्वमेध में हजारों शूद्रों को आमंत्रित किया गया था। पर अन्य वर्णों के कुछ अधिकारों से शूद्र वंचित रखे जाते थे। उन्हें वेदों के अध्ययन का अधिकार नहीं था। ब्राह्मण किसी द्विजेतर को वैदिक ज्ञान नहीं प्रदान कर सकता था। यज्ञ करने का भी शूद्र को अधिकार नहीं था।

उत्तरकांड में जहां शूद्रों को तपस्या करने का अधिकार नहीं दिया गया है, वहां मौलिक कांडों में शूद्र निर्विघ्न तपस्या करते हैं; यही नहीं, उनकी तपस्या सम्मान और वरदान के योग्य समझी जाती है। शवरी उस शवर-जाति की स्त्री थी, जो आर्यों की वर्ण-व्यवस्था के भी अंतर्गत नहीं थी, फिर भी राम ने उसके आश्रम पर जाकर उसके प्रति बड़ी कृपा दिखलाई। उन्होंने उसे 'तपोधना' कहकर संबोधित किया और उससे पूछा—"तुम्हारे तप में अभिवृद्धि तो हो रही है?" (कच्चित्ते वर्धते तपः ३।७४।८) वाल्मीकि ने उसे तापसी, श्रमणी और सिद्धा कहा है। आत्म-समाधि द्वारा उसने महर्षियों के पुण्यवान् लोकों को प्राप्त किया (३।७४)। इसी प्रकार अयोध्याकांड में अंधमुनि और उनकी पत्नी, जो क्रमशः वैश्य और शूद्र थे, तपस्वी कहे गए हैं और मरने के बाद स्वर्ग के अधिकारी माने गए हैं। किंतु उत्तर-

---

१. कस्य वा पररात्रेऽहं श्रोष्यामि हृदयंगमम्। अधीयानस्य मधुरं शास्त्रं वान्यद्विशेषतः॥ २।६४।३२

कांड के संकुचित जातीय वातावरण में शूद्र के लिए तपस्या करना वर्जित बन गया। सशरीर स्वर्ग-प्राप्ति के लिए तपस्या करनेवाले शूद्र-मुनि शंबूक को राम ने वध के योग्य समझा (७।७६।१-४)। इससे यह स्पष्ट है कि शूद्रों की सामाजिक स्थिति उत्तरोत्तर बुरी होती गई।

मौलिक रामायण में अस्पृश्यों या चांडालों का कोई उल्लेख नहीं मिलता। केवल बालकांड की अवांतर कथाओं तथा उत्तरकांड में यत्र-तत्र चांडालों का वर्णन आया है। इन स्थलों से पता चलता है कि चांडाल समाज के सर्वाधिक उपेक्षित और हीन व्यक्ति गिने जाते थे (**योनीनाम् अधमा वयम्**, ७।५९(१)२१)। वे नीले रंग के वस्त्र पहनते, उनका शरीर काला और रूखा तथा उनके केश छोटे होते थे। वे लोहे के गहनों से अलंकृत रहते तथा उनका शरीर चिता-भस्म से धूसर रहा करता था। संभवतः ये लोग नगर से बाहर श्मशान की सन्निधि में रहा करते थे (१।५८।१०-११)।

चांडालों की ही श्रेणी में मुष्टिक लोग आते थे, जो श्वान-मांस-भक्षी, शव के वस्त्रों का उपयोग करनेवाले, भयंकर-दर्शन, विकृत आकृतिवाले तथा दुराचारी होते थे (१।५९।१९-२०)।

अस्पृश्यों को नागरिकता के सामान्य अधिकारों से वंचित रखा जाता था। वे मंदिरों, राजप्रासादों, ब्राह्मणों के घरों तथा पूजा-स्थानों में प्रवेश नहीं कर सकते थे, किंतु राजा की विशेष आज्ञा पाकर वे सभा या संसद् में प्रवेश कर सकते थे (७।५९, प्रक्षिप्त सर्ग १)।

त्रिशंकु के आख्यान (१।५८) से ज्ञात होता है कि मनुष्य जन्मना चांडाल नहीं होता था, प्रत्युत वर्णाश्रम-व्यवस्था से च्युत होने पर ही चांडाल बन जाया करता था। दूसरे शब्दों में, घोर पाप करने पर मनुष्य अस्पृश्य और चांडाल बना दिया जाता था। उदाहरणार्थ, जब राजा त्रिशंकु ने यह इच्छा प्रकट की कि मैं वसिष्ठ-पुत्रों के अतिरिक्त किसी अन्य पुरोहित से अपना यज्ञ संपादित करा लूंगा, तब वसिष्ठ-पुत्रों ने इस अपमान से क्रुद्ध होकर राजा को चांडाल हो जाने का शाप दे दिया। राजा के सामाजिक स्तर में यह परिवर्तन देखकर उसके मंत्री और नागरिक उसे छोड़कर दूर भाग गए। इस आख्यान से यह ज्ञात होता है कि चांडालत्व किसी व्यक्ति का जन्म-जात चिह्न नहीं था, वह तो बाह्य कार्य-कारणों पर निर्भर एक दंड-विधान था, जो अधर्माचरण के फलस्वरूप किसी व्यक्ति-विशेष पर लागू किया जाता था। साथ ही,

यह भी स्पष्ट है कि चांडाल अस्पृश्य माना जाता था और उसके स्पर्श से उच्च जाति के लोग दूर रहते थे।

त्रिशंकु के उदाहरण से यह प्रकट है कि किसी उच्च वर्ण के व्यक्ति का जाति-च्युत हो जाना संभव था। इस प्रसंग में यह प्रश्न भी विचारणीय है कि क्या निम्न वर्ण का कोई व्यक्ति ऊंचे वर्ण का सदस्य वन सकता था? ऐसा होना सर्वथा असंभव नहीं था, इसका एक सुप्रसिद्ध उदाहरण राजा विश्वामित्र का है, जिन्होंने क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था। उनकी यह जाति-परिवर्तन की कथा वड़ी रोचक और शिक्षाप्रद है।

विश्वामित्र की यह महत्त्वाकांक्षा थी कि उन्हें महर्षि वसिष्ठ का समकक्ष माना जाय, जो भारतीय परंपरानुसार सनातन ब्राह्मणत्व के आदर्श थे। जान पड़ता है, भारतीय इतिहास और परंपरा में एक से अधिक विश्वामित्र रहे होंगे। यदि इन सभी विश्वामित्रों के जीवन को एक सूत्रमें पिरोया जाय तो उसमें से एक धीमे विकास-वाद की कथा उद्घाटित होगी, जिसमें एक क्षत्रिय क्रमशः प्रगति करते हुए अपनी मूल स्थिति से ऊपर उठकर ब्रह्मर्षि-पद को प्राप्त हो गया। ऋग्वेद में विश्वामित्र अनार्य और मिश्र जातियों के दस राजाओं के पुरोहित हैं, जवकि उनके विरोधी वसिष्ठ राजा सुदास के नेतृत्व में संगठित तृत्सुओं की विशुद्ध आर्य-जाति के पुरोहित हैं। दोनों पक्षों के युद्ध में विश्वामित्र और उनके दलवाले परास्त हो जाते हैं और वसिष्ठ अपने प्रतिद्वंद्वी पर विजयी होते हैं। दोनों के वीच यह संघर्ष वाद के युगों में भी जारी रहता है। रामायण के युग में वसिष्ठ और विश्वामित्र इच्छित वस्तु प्रदान करनेवाली शवला नाम की गौ को लेकर झगड़ पड़ते हैं। उस गौ को पाने में असफल होकर विश्वामत्र में प्रतिस्पर्धा की भावना जाग उठती है और वह आत्मसंयम, कष्ट-सहन और त्याग के लिए कटिवद्ध होते हैं। वह निर्जन वन में जाकर कठोर तपस्या करते हैं, किंतु उनकी आध्यात्मिक प्रगति में अनेक बाधाएं उपस्थित होती हैं, जिनकी कसौटी पर उनकी आत्मा की परीक्षा होती है। ये वाधाएं त्रिशंकु, शुनःशेप, मेनका और रंभा के रूप में आती हैं। विश्वामित्र अधिकाधिक कठोर तपस्या में प्रवृत्त होते हैं और अंततोगत्वा अपनी प्रगति में बाधक काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, अभिमान आदि बंधनों से मुक्त हो जाते हैं। शनैः-शनैः वह महाराज-पद से ऊपर उठकर पहले राजर्षि, फिर महर्षि और अंत में ब्रह्मर्षि-पद को प्राप्त कर लेते हैं। जवतक वसिष्ठ ने उनको अपना समकक्ष नहीं मान लिया, तवतक विश्वामित्र

को संतोष नहीं हुआ। विश्वामित्र एक ऐसे साधक के अनुपम उदाहरण हैं, जिसने प्रत्येक प्रकार के स्वाभाविक प्रलोभन के होते हुए भी निजी अभ्यास, अध्यवसाय और तपोबल के सहारे उच्चतम स्थिति प्राप्त की।

विश्वामित्र के आख्यान से यह प्रमाणित होता है कि उनके-जैसे आत्मबल-संपन्न व्यक्ति के लिए भी क्षत्रिय-पद से उठकर ब्राह्मणत्व प्राप्त करना कितना कठिन था। उनकी इस आत्मोन्नति का एक मनोवैज्ञानिक पहलू भी है। ब्राह्मण-वर्ण, जो सत्त्वगुण-प्रधान है, रजोगुण-प्रधान क्षत्रिय-वर्ण का विरोधी है। विश्वामित्र को अपना काम-क्रोधमय राजसी स्वभाव सात्त्विक वृत्ति में बदलने के लिए कठोर मानसिक अनुशासन का दीर्घ काल तक अभ्यास करना पड़ा था। जब उनका हृदय काम और क्रोध के प्रभाव से बिलकुल मुक्त हो गया, तभी उस युग के सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण वसिष्ठ ने उनको ब्रह्मर्षि के नाम से संबोधित किया। इससे यह सिद्ध होता है कि जाति-परिवर्तन असंभव न होते हुए भी एक अपवाद था, नियम नहीं; आत्मानुशासन और आत्मशुद्धि के दीर्घ एवं कठोर प्रयोगों के बाद ही किसी क्षत्रिय के लिए ब्राह्मणत्व पाना शक्य था।

किंतु उत्तरकांड के परिवर्तित वातावरण में जातीय कठोरता बढ़ गई। तब जाति या जातीय कर्म का परिवर्तन सोचा भी नहीं जा सकता था। अच्छे राजाओं से यह अपेक्षा की जाने लगी कि वे उच्च वर्णों के अधिकारों को निम्न वर्णों द्वारा आक्रांत होने से बचायें। मौलिक रामायण में भी विभिन्न वर्णों के कर्तव्य-कर्मों का इतना विभाजन हो चुका था कि एक जाति के व्यक्ति का दूसरी जाति के क्षेत्र में कार्य करना असंगत माना जाने लगा था। राज-काज करने में ब्राह्मणों की अयोग्यता और पौरोहित्य करने में क्षत्रियों की अनुपयुक्तता इसीलिए स्वीकृत हो चुकी थी। विभिन्न जातियों के संबंध इसलिए सद्भावनापूर्ण थे कि लोग अपने-अपने कर्मों से संतुष्ट थे—**स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः** (६।१२८।१०३)। अयोध्या के वर्णन में कहा गया है कि क्षत्रिय ब्राह्मणों को अपना नेता मानते, वैश्य क्षत्रियों की आज्ञा-पालन करते, और शूद्र अपने कर्तव्य का आचरण करते हुए तीनों वर्णों की सेवा में संलग्न रहते थे।[1] एक सुखी चातुर्वर्ण्य समाज की स्थापना तत्कालीन

---

१. क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीत् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः। शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन्वर्णानुपचारिणः॥ १।६।१९; ६।१२८।१०३ भी देखिये।

राजाओं का लक्ष्य था। चारों वर्णों के हित के लिए ही विश्वामित्र ने राम को ताटका का वध करने का आदेश दिया था।[1]

प्राचीन भारत की वर्ण-व्यवस्था को इस प्रकार राजकीय स्वीकृति प्राप्त थी, अतः उसका पालन करना लोगों के लिए अनिवार्य था। लक्ष्मण ने सुग्रीव के सम्मुख अपने पिता का परिचय देते हुए कहा था कि वह चारों वर्णों का धर्मपूर्वक और निष्पक्षता से पालन करते थे।[2] राम चारों वर्णों के आबाल-वृद्धों के प्रति दया-भाव रखते थे और इसलिए ये सभी उनके वशवर्ती थे।[3] हनुमान् के अनुसार राम लोक में प्रचलित चातुर्वर्ण्य के रक्षक थे, सामाजिक मर्यादाओं का पालन करने और करानेवाले थे।[4] उनके आदर्श ने प्रजा में कर्तव्य-परायणता का भाव संचारित किया था, जिसके परिणामस्वरूप देश में सुख-संतोष व्याप्त था और प्रतियोगिता-जन्य ईर्ष्या-द्वेष का अभाव था—

सर्वं मुदितमेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत्।
राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन् परस्परम् ॥ ६।१२८।१००

---

१. न हि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम। चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना ॥ १।२५।१७

२. राजा दशरथो नाम द्युतिमान् धर्मवत्सलः। चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मेण नित्यमेवाभिपालयन् ॥ न द्वेष्टा विद्यते तस्य स तु द्वेष्टि न कंचन। स तु सर्वेषु भूतेषु पितामह इवापरः ॥ ४।४।६-७

३. सर्वेषु स हि धर्मात्मा वर्णानां कुरुते दयाम्। चतुर्णां हि वयःस्थानां तेन ते तमनुव्रताः ॥ २।१७।१६

४. रामो भामिनि लोकस्य चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता। मर्यादानां च लोकस्य कर्ता कारयिता च सः ॥ ५।३५।११

: ६ :

आश्रम

प्राचीन आर्य-ऋषियों के अनुसार मानव-जीवन अनवरत आत्म-शिक्षण एवं आत्म-अनुशासन का समय था। इस शिक्षण-काल को उन्होंने आश्रम के नाम से कई भागों में वांट दिया था। इन्हीं पर मनुष्य के सांसारिक जीवन का ढांचा अवस्थित रहता था।

प्राचीन ग्रन्थों से कुछ विद्वानों ने ऐसे उद्धरण खोज निकालने की चेष्टा की है, जिनसे आश्रमों की संख्या मूलतः तीन सिद्ध होती हैं[1], किंतु रामायण के समय में आश्रमों की संख्या निश्चित रूप से चार बन चुकी थी (२।१००।६२), यथा (१) विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचर्याश्रम, (२) विवाहितों के लिए गृहस्थाश्रम, (३) अर्थोपार्जन से विरत वनवासी तपस्वी के लिए वानप्रस्थाश्रम और (४) संसार-त्यागी वैरागी के लिए संन्यासाश्रम।

प्रत्येक द्विज से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपने जीवन को इस आश्रम-व्यवस्था के अनुसार संचालित करे। प्रत्येक आश्रम जीवन का एक विभाग माना गया था, जिसमें एक निर्धारित समय तक व्यक्ति अपनेको प्रशिक्षित करता और आगामी आश्रम के लिए तैयार करता था। रामायण के अध्ययन से पता चलता है कि आश्रम-व्यवस्था का अनुसरण प्रायः उपर्युक्त क्रम से ही किया जाता था और उसका अतिक्रमण लोक-निंदित था। राम के वनवास की आलोचना करते हुए भरत ने कहा था कि उनकी-सी आयु और पद के व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम त्यागकर वानप्रस्थ-जीवन स्वीकार करना असामयिक और अनुपयुक्त है।[2]

उपनयन-संस्कार के बाद ब्रह्मचर्याश्रम आरम्भ होता था। इसमें विद्यार्थी ब्रह्मचारी रहकर कठोर एवं अनुशासनमय जीवन व्यतीत करता था। गुरु की सेवा

---

१. देखिये पी० एम० मोदी—'डेवलपमेंट आफ द सिस्टम आफ आश्रमाज' (सप्तम ओरिएंटल कान्फ्रेंस का विवरण, १९३३)

२. चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्। आहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं त्यक्तुमर्हसि ॥ २।१०६।२२

और शास्त्रों का अध्ययन उसके दो प्रमुख कर्तव्य थे। अगस्त्य, भरद्वाज, वाल्मीकि आदि ऋषि-मुनियों के आश्रमों में असंख्य विद्यार्थी आकर अपने कुलपति की अधीनता में शिष्य-वृत्ति से रहते थे। शिक्षा-क्रम की समाप्ति पर छात्र का समावर्तन-संस्कार होता था, जो इस आश्रम की समाप्ति का सूचक था, और तव वह 'स्नातक' कहलाता था। रामायण में तीन प्रकार के स्नातकों का उल्लेख है—'विद्या-स्नातक' (२।८२।११), 'व्रत-स्नातक' (५।२१।१७) और 'विद्या-व्रत-स्नातक' (२।१।२०)। विद्या-स्नातक उसे कहते थे, जो अपना अध्ययन-क्रम समाप्त कर चुका है, पर ब्रह्म चारी के लिए नियत व्रत-नियमादि जिसके पूरे नहीं हुए हैं। व्रत-स्नातक वह था, जिसने व्रतों का पालन कर लिया है, पर जिसका अध्ययन समाप्त नहीं हुआ है। जिसके व्रत-नियमादि और अध्ययन दोनों संपूर्ण हो चुके हैं, वह विद्या-व्रत-स्नातक कहलाता था। राम और रावण दोनों इस अंतिम श्रेणी के स्नातक थे (२।१।२०; ६।९२।६०)।

ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति पर युवक स्नातक विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था। इस आश्रम में पितृ-ऋण, देव-ऋण और मनुष्य-ऋण को चुकाने के लिए गृहस्थ को श्राद्ध, यज्ञ और अतिथि-सत्कार करने पड़ते थे।[1] साथ-ही-साथ उसे अपने वयोवृद्ध गुरुजनों, पुत्र-कलत्र तथा परिवार के अन्य सदस्यों का भरण-पोषण करना पड़ता था। सभी धार्मिक क्रिया-कलाप और यज्ञ-यागादिक उसे अपनी पत्नी के साथ संपन्न करने पड़ते थे, जो इसीलिए 'धर्मपत्नी अथवा 'सहधर्मचारिणी' कहलाती थी।

चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही सर्वश्रेष्ठ था—**चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम्** (२।१०६।२२); और स्वयं रामायण गृहस्थाश्रम का ही आदि-महाकाव्य है। उपनिषदों और आरण्यकों में यदि वानप्रस्थाश्रम का गौरव-गान है, तो रामायण गृहस्थाश्रम की महाप्रशस्ति है और इसीको आध्यात्मिक कल्याण का मुख्य साधन बताती है। समस्त हिंदू-धर्मशास्त्रों ने भी गृहस्थाश्रम का जो गुण-गान किया है, उसका कारण यह है कि गृहस्थ ही अन्य आश्रमों की आधार-शिला है और वही समाज के कल्याण में प्रत्यक्ष योग देता है। वैयक्तिक और सामाजिक सभी प्रकार के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने में गृहस्थाश्रम ही सबसे अधिक सहायक

---

१. ऋणानि त्रीण्यपाकुर्वन् दुर्हृदः साधु निर्दहन्॥ २।१०६।२८, टीका देखिये।

है। कहते हैं, उपनिषदों और आरण्यकों ने लोक में जो वैराग्य की भावना प्रसारित की थी, उसीकी प्रतिक्रिया के रूप में वाल्मीकि ने रामायण की रचना कर गृहस्थ-धर्म को गौरवान्वित किया। 'आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्श पत्नी आदि जितने आदर्शों को इस अनुपम महाकाव्य में आदि कवि की शब्द-तूलिका ने खींचा है, वे सब गृह-धर्म के पट पर ही चित्रित किये गए हैं। इतना ही क्यों, राम-रावण का भयानक युद्ध भी इस काव्य का मुख्य उद्देश्य नहीं है; वह तो राम-जानकी—पति-पत्नी—की परस्पर विशुद्ध प्रीति को पुष्ट करने का एक उपकरण-मात्र है।'[१]

गृहस्थी की गाड़ी ढोते-ढोते एक समय ऐसा आता है, जब उम्र की धूप में गृहस्थ वृद्ध हो जाता है—उसके बाल श्वेत हो जाते हैं, चेहरे पर झुर्रियां पड़ जाती हैं और सांसारिक कामों में निरंतर लगे रहने से उसका शरीर कृश और निर्बल हो जाता है। यही वह समय है, जब गृहस्थ को अर्थ और काम के सक्रिय उपार्जन से विरत हो जाना चाहिए तथा अपने पुत्र या उत्तराधिकारी को सारे अधिकार सौंप-कर एकांत में शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहिए। तत्कालीन राजाओं में यह प्रथा थी कि राज्य को अपने वयस्क पुत्रों को सौंप कर वे वन में तपस्वी जीवन बिताने लगते थे। महाराज दशरथ ने अपनी राज्य-सभा को संबोधित करते हुए कहा था कि मैं बूढ़ा और अशक्त तथा राज्य के भारी जुए को सम्मानपूर्वक वहन करने में असमर्थ हो गया हूं, इसलिए राम को राज्यासीन कर विश्राम करना चाहता हूं (२।२।९-१०)। दशरथ यह स्पष्ट नहीं कहते कि राम को युवराज बनाकर मैं वानप्रस्थी बन जाऊंगा। किंतु वृत्र और अंशुमान्-जैसे अनेक राजाओं के आख्यानों से पता चलता है कि वे पुत्रों को राज्य सौंपकर वन चले गए थे। पुत्रों को राजपाट सौंपकर वनवासी बन जाने की प्रथा की ओर लक्ष्मण ने भी संकेत किया था।[२]

वानप्रस्थाश्रम में पत्नी या तो पुत्रों के संरक्षण में घर पर रहती अथवा पति के साथ वन-गमन करती थी। रामायण में उल्लिखित अधिकांश तपस्विगण

---

१. बलदेव उपाध्याय—'आदिकवि वाल्मीकि', 'कल्याण—संक्षिप्त वाल्मीकि-रामायणांक', पृ० १४

२. पूर्व राजर्षिवृत्त्या हि वनावसोऽभिधीयते। प्रजा निक्षिप्य पुत्रेषु पुत्रवत्परि-पालने॥ २।२३।२६

अपनी पत्नियों के साहचर्य में वैखानस-व्रतों का पालन करते थे।

वानप्रस्थी गृहस्थ वन में संयम और त्याग का जीवन व्यतीत करता, सब प्राणियों के हित में रत रहता, भिक्षाटन और यज्ञों का अनुष्ठान करता तथा वेदों के स्वाध्याय में संलग्न रहता था। किसी वृक्ष के नीचे उसका आवास होता, इंद्रियों पर वह संयम रखता और अनायास प्राप्त होनेवाले फल-फूलों से अपना निर्वाह करता था।[1] बुद्धि पर अज्ञान का पर्दा डालनेवाले शस्त्रों से उसे कोई प्रयोजन न रहता।[2] उसके लिए 'देश-धर्म' का—तपोवन के अनुरूप कर्तव्यों का—पालन ही वांछनीय था—**देशधर्मस्तु पूज्यताम्** (३।९।२७)।

अंतिम आश्रम 'संन्यास' पर रामायण में विशेष प्रकाश नहीं डाला गया है। उसमें 'संन्यासी' शब्द का प्रयोग न होकर 'भिक्षु' और 'परिव्राजक' नाम आये हैं। रामायणकालीन परिव्राजक या संन्यासी का परिचय पाने के लिए हमें रावण का उस समय का वर्णन देखना चाहिए, जब वह इस रूप में सीता के संमुख उपस्थित हुआ था—

श्लक्ष्णकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही।
वामे चांसेऽवसज्याथ शुभे यष्टिकमण्डलू॥ ३।४६।३

अर्थात् वह शरीर पर साफ-सुथरा गेरुए रंग का वस्त्र लपेटे हुए था, उसके मस्तक पर शिखा, हाथ में छाता और पैरों में जूते थे, तथा उसमें बायें कंधे पर डंडा रखकर उसमें कमंडलु लटका रखा था।

आर्य-ऋषियों द्वारा आयोजित यह आश्रम-व्यवस्था उनकी वर्ण-व्यवस्था की ही पूरक है। दोनों व्यवस्थाएं व्यक्ति और समाज के जीवन और उसके संगठन से संबंधित हैं, अंतर केवल दृष्टिकोण अथवा आग्रह का है। वर्ण-व्यवस्था मनुष्य को एक सामाजिक प्राणी के रूप में देखती है, उसके कर्तव्यों और अधिकारों की—उसके स्वभाव, उसकी प्रवृत्तियों और उसके मानसिक झुकाव के अनुसार—परिभाषा और व्याख्या करती है। ऐसा करते समय यह व्यवस्था उस समाज को भी दृष्टि में रखती है, जिसका वह एक सदस्य है। दूसरे शब्दों में, वर्ण-व्यवस्था समाज में रहनेवाले मनुष्य से संबद्ध है। दूसरी ओर, आश्रम-व्यवस्था मनुष्य को एक इकाई

---

१. **हस्तादानो मुखादानो नियतो वृक्षमूलिकः। वानप्रस्थो भविष्यामि...॥**५।१३।३८
२. **अग्निसंयोगवद्धेतुः शस्त्रसंयोग उच्यते॥** ३।९।२३

के रूप में देखती है और बताती है कि उसका आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है, वह अपने जीवन को किस प्रकार अनुशासित, सुव्यवस्थित एवं धर्मानुकूल बनाये तथा इस लक्ष्य-प्राप्ति के लिए क्या साधन अपेक्षित हैं।[1]

इसी वर्णाश्रम-व्यवस्था के आधार पर रामायणकालीन आर्य व्यक्ति और समाज की विरोधी मांगों में संघर्ष के स्थान पर सुंदर समन्वय स्थापित करने में समर्थ हुए थे। वाल्मीकि ने सर्वत्र व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व प्रदान किया; साथ ही वह, समाज-व्यवस्था को हानि पहुँचाये बिना, व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए सभी सुविधाएं देने को तैयार थे। राम का समग्र जीवन इस सिद्धांत से अनुप्राणित था कि जहां व्यापक या सामूहिक हितों की रक्षा का प्रश्न खड़ा हो, वहां संकुचित या निजी हितों की बलि दे देना श्रेयस्कर है। अपने परिवार में व्यक्तिगत स्वार्थों का संघर्ष उठने पर उन्होंने, कैकेयी को संतुष्ट करने के लिए, अपने राज्याधिकार को तिलांजलि दे दी, जिससे कौटुंबिक कलह के परिणामस्वरूप देश में अराजकता न फैल जाय। अपने जीवन में उन्हें जिन अनेकानेक जटिल परिस्थितियों का सामना करना पड़ा, उनको उन्होंने या तो पूरी तरह हल कर लिया या कम-से-कम अत्यधिक सरल तो अवश्य बना दिया—और इसका श्रेय है उनकी सत्यवादिता को, उनकी न्यायपरायणता को और दूसरों के हित-साधन के लिए उनके स्वार्थ-त्याग को।

रामायण में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें दूसरों के उचित अधिकारों का सम्मान करना सामाजिक दृष्टि से नितांत आवश्यक माना गया है और इस नियम का उल्लंघन करनेवाला दंड का पात्र बना है। वाल्मीकि के सर्वप्रथम श्लोक[2] से यह शिक्षा मिलती है कि प्रकृति के छोटे-से-छोटे प्राणी को भी अपने ढंग से हर्ष मनाने का अधिकार प्राप्त है और उसमें हस्तक्षेप करनेवाले हम कोई नहीं होते। अंधमुनि के पुत्र की हत्या करने से दशरथ को पुत्र-शोक का भागी बनने का शाप मिला, क्योंकि राजा ने अंधमुनि को उनके सुखपूर्वक रहने के

---

१. देखिये पां० वा० काणे—'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र', जिल्द २, भाग १, पृ० ४२३ और पी० एच० वालावलकर—'हिंदू सोशल इंस्टीट्यूशन्स', पृ० २८
२. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ १।२।१५

अधिकार से वंचित किया था। राम को अपनी ओर आकर्षित करने की धृष्टता कर शूर्पणखा ने सीता के वैवाहिक अधिकार को चुनौती दी और वाली ने सुग्रीव की पत्नी का उपभोग कर उनके स्वत्व को छीना। इन दोनों को उचित दंड देना शासक का कर्तव्य था। अंत में रावण ने दंडकारण्य में राम-सीता के सुखपूर्वक रहने के अधिकार को छीनकर अपने ही सर्वनाश को न्योता दिया। व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा समाज-हित की दृष्टि से अनुपेक्षणीय है, इसका वाल्मीकि ने सर्वत्र उद्घोष किया है।

: ७ :

परिवार

कुटुम्ब अथवा परिवार समस्त मानवीय संगठनों की मूल इकाई है और सामाजिक विकास की पहली सीढ़ी। आज के विशृंखलता के युग में भी परिवार का काफी महत्त्व है, भले ही वह पहले की भाँति सामाजिक ढांचे का इतना अनिवार्य अंग अब न माना जाता हो। सामाजिक कर्तव्यों का पालन कराने के लिए परिवार मानवीय व्यक्तित्व के विकास में कितना योग देता है, इसका ज्वलंत उदाहरण दशरथ के पारिवारिक जीवन में उपलब्ध होता है। वास्तव में रामायण एक कौटुंबिक महाकाव्य है—राग-द्वेष, हर्ष-शोक, ममता-मोह, लोभ-त्याग, आदि की सामान्य कौटुम्बिक घटनाओं का चित्रण उसे सर्वसामान्य के लिए एक हृदयग्राही रचना बना देता है। वाल्मीकि ने पारिवारिक जीवन के प्राचीन आदर्शों को भावी पीढ़ियों के लिए अपनी रामायण में सुरक्षित कर दिया है।

परिवार का रूप निस्संदेह पैतृक था। उसमें पिता कुटुम्ब का मुखिया था; जिसका आदेश सर्वोपरि होता था। पत्नी गृहस्वामिनी थी, किन्तु गृहस्वामी पर आश्रित और उसकी आज्ञाकारिणी। पुत्र और पुत्रियों पर पिता का पूर्ण नियंत्रण था। पिता की अनुमति के बिना वे अपना जीवन-साथी नहीं चुन सकते थे। उदाहरणार्थ, धनुर्भंग करके सीता को पाने के अधिकारी होने पर भी राम ने पिता की

इच्छा जाने विना विवाह करने से इन्कार कर दिया—

दीयमानां न तु तदा प्रतिजग्राह राघवः ।
अविज्ञाय पितुश्छन्दमयोध्याधिपतेः प्रभोः ॥ २।११८।५१

व्यावहारिक मामलों में पिता की आज्ञा कानून के तुल्य होती थी। अपनी संपत्ति का वह स्वेच्छानुसार पुत्रों में विभाजन कर सकता था। दशरथ ने कैकेयी के पिता को अपने वल-बूते पर यह वचन दे दिया था कि इसीका पुत्र कोसल-राज्य का उत्तराधिकारी वनेगा।[1] जब भरत ने चित्रकूट पर राम से कोसल राज्य स्वीकार करने की प्रार्थना की, तब राम ने कहा कि मुझे मृगछाला और चीर-वल्कल पहनाकर जंगल में भेजने या राजगद्दी पर बैठाने दोनों में मेरे पिता सर्वथा समर्थ हैं।[2]

कुटुम्ब का ढाँचा इस अर्थ में संयुक्त था कि सारे सदस्य एक ही मुखिया की आज्ञा शिरोधार्य करते थे। राज-परिवारों में राजा की विभिन्न पत्नियां और पुत्र अपने पृथक् महलों में रहते थे, उनके अपने सेवक और अनुचर होते थे, पर सभी महत्त्वपूर्ण कामों में वे गृहस्वामी (पिता या बड़े भाई) के आदेशों का पालन करते थे। विवाह के वाद राम अपने पृथक् प्रासाद में रहने लगे थे (२।१६), फिर भी उन्होंने पिता के आदेशानुसार वन जाने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखाई। राज्य की वागडोर संभालने पर राम की अपने भाइयों और उनके पुत्र-कलत्र से भरे संयुक्त परिवार पर शासन करने की वारी आई।

समाज की एक इकाई के रूप में परिवार उसकी परंपराओं, भावनाओं एवं आचार-विचारों को वर्षों से आत्मसात् करता आता है। इस नाते वह अपने सदस्यों में उनका संचार करने का एक अच्छा माध्यम सिद्ध होता है। वाल्मीकि ने वारंबार यह शिक्षा दी है कि मनुष्य को उन सब संस्कारों और रूढ़ियों का मनोयोगपूर्वक

---

१. पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन्। मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम् ॥२।१०७।३; इसी प्रकार विश्वामित्र ने अपने अनाज्ञाकारी पुत्रों को उत्तराधिकार से वंचित कर एक अपरिचित कुमार, शुनःशेष, को दत्तक ले लिया था (१।६२)। ययाति ने अपने बड़े पुत्रों की उपेक्षा कर सबसे छोटे पुरु को राजगद्दी सौंपी थी (७।५९)।

२. वने वा चीरवसनं सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम्। राज्ये वापि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः ॥ २।१०१।२०

संरक्षण और पालन करना चाहिए, जो परिवार में अतीत काल से प्रतिष्ठित हो गई हैं, तथा अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को कुटुम्ब के सामूहिक हितों के समक्ष गौण रखना चाहिए। रामायण में ऐसे अभिजात पुरुषों के अनेक दृष्टांत आये हैं, जिन्होंने परिवार की सांस्कृतिक थाती का निष्ठापूर्वक पालन करने का सदैव आग्रह रखा। महाराज दशरथ ने अपनी राज्य-सभा के समक्ष गर्वपूर्वक यह घोषणा की थी कि प्रजा की रक्षा में जागरूक रहकर मैंने अपने पूर्वजों के मार्ग का ही अनुसरण किया है।[1]

माता कौसल्या से वन जाने की अनुमति मांगते हुए राम ने यही तर्क दिया था कि पिता की आज्ञा मानकर मैं पूर्वकाल के धर्मात्मा पुरुषों द्वारा सेवित मार्ग पर ही चल रहा हूं—**पूर्वैरयमभिप्रेतो गतो मार्गोऽनुगम्यते** (२।२१।३६)। जब कैकेयी ने यशस्वी इक्ष्वाकु-कुल के कल्याण की अवहेलना कर अपने और अपने पुत्र के स्वार्थों को प्रधानता दी, तब दशरथ अपने महान् वंश पर आनेवाली घोर विपत्ति से आशंकित हो उठे थे।[2] राम के वनवास और भरत के राज्याभिषेक का दुराग्रह करके कैकेयी ने परिवार की प्रतिष्ठित परम्पराओं को तोड़ने की चेष्टा की, जिससे सभी विचारशील लोगों के चित्त संशकित हो गए। सुमंत्र ने कैकेयी की भर्त्सना करते हुए कहा—'इस कुल में यही रीति रही है कि राजा के देहांत के बाद उसके पुत्र आयु के अनुसार राज्य के अधिकारी बनें। इस सनातन प्रथा को तुम महाराज के जीते जी-तोड़ देना चाहती हो ?[3] ऐसा कोई भी कृत्य, जो 'अमर्याद' अर्थात् पारिवारिक परंपराओं के प्रतिकूल होता, हेय और लोक-निंदित था। उज्ज्वल इक्ष्वाकु-परिवार पर अपयश का टीका लगानेवाली कैकेयी को 'स्वकुलोपघातिनी', 'कुलघ्नी' और 'कुलपांसनी'-जैसे विशेषणों से संबोधित किया गया है। इसके विपरीत कैकेयी-पुत्र भरत प्रभूत प्रशंसा के पात्र इसलिए बने कि पारिवारिक प्रथाओं

---

१. मयाप्याचरितं पूर्वैः पन्थानमनुगच्छता। प्रजा नित्यमनिद्रेण यथा शक्त्यभिरक्षिताः॥ २।२।६

२. इक्ष्वाकूणां कुले देवि संप्राप्तः सुमहानयम्। अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः॥२।१२।१६,

३. यथावयो हि राज्यानि प्राप्नुवन्ति नृपक्षये। इक्ष्वाकुकुलनाथेऽस्मिस्तं लोपयितुमिच्छसि॥ २।३५।६

का उल्लंघन करने का जो प्रयत्न उनकी माता ने किया, उसे उन्होंने निर्मूल कर दिया। जब मंत्रियों तथा राज्य-सभा के प्रमुख सभासदों ने उनसे राजगद्दी पर बैठने को कहा, तब भरत ने यही उत्तर दिया कि हमारे वंश में ज्येष्ठ पुत्र ही शासन करने का उचित अधिकारी होता है—**ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता हि कुलस्य नः** (२।७६।७)।

इस प्रकार के पारिवारिक संगठन में पुत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान होना स्वाभाविक था, क्योंकि वह वंश को चलाने वाला था (**वंशकरः** १।३८।१२) धार्मिक दृष्टि से भी पुत्र की आवश्यकता अनुभव की जाती थी। 'पुत्' नामक नरक से बेटा पिता की रक्षा करता है, इसलिए वह 'पुत्र'—पितरों की सब प्रकार से रक्षा करने वाला—कहलाता है।[1] पारलौकिक कल्याण के लिए पुत्र-प्राप्ति नितांत आवश्यक थी, पितृ-ऋण से मुक्त होने का वह साधन थी। भरत-जैसे धर्मात्मा पुत्र को पाकर महाराज दशरथ निस्संदेह ऋण-मुक्त हो गए थे।[2]

अतएव पुत्र के अभाव में माता-पिता का उद्विग्न रहना स्वाभाविक ही था (**विनात्मजेनात्मवतां कुतो रतिः**, २।१२।१११)। पुत्र-प्राप्ति के लिए बड़े उद्योग किये जाते थे; तपस्या तथा यज्ञों का संपादन किया जाता था। लोगों की इस बात में बड़ी श्रद्धा थी कि दीर्घ तपस्या, सदाचारी जीवन तथा धार्मिक अनुष्ठानों के परिणामस्वरूप ही सुयोग्य पुत्र की उपलब्धि हो सकती है। महाराज दशरथ को कठोर तपस्या, असाधारण परिश्रम तथा विभिन्न प्रकार के पराक्रमों और मंत्र-तंत्रों के प्रयोग से राम-सदृश शुभ लक्षण-संपन्न पुत्र की प्राप्ति हुई थी।[3] राम-जैसा पुत्र पाकर उनका जीवन धन्य और कृतकृत्य था।[4] स्त्रियां भी संतान-प्राप्ति के लिए तपस्या का आश्रय लेती थीं। पुत्रों की कल्याण-कामना से माता-पिता मांगलिक

---

१. **पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् पितरं त्रायते सुतः। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन्यः पाति सर्वतः॥** २।१०७।१२

२. **अनृणः स महाबाहुः पिता दशरथस्तव। यस्य त्वमीदृशो पुत्रो धर्मात्मा धर्मवत्सलः॥** २।११३।१७

३. **महता तपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः। एको दशरथस्यैष पुत्रः सदृशलक्षणः॥** २।८६।१२; २।५१।११ भी देखिये।

४. **जातमिष्टमपत्यं मे त्वमद्यानुपमं भुवि॥** २।४।१३

कृत्यों का अनुष्ठान करते थे। राम के प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक के दिन जब दशरथ ने उन्हें कैकेयी के प्रासाद में बुला भेजा, तब राम ने सोचा कि जान पड़ता है, माता कैकेयी और पिताजी दोनों मिलकर मेरे अभिषेक के संबंध में कोई औपचारिक कृत्य करने का विचार कर रहे हैं (२।१६।१५)।

परिवार में पुत्र स्नेह का केंद्र-बिंदु था। 'दर्पण में पड़नेवाले प्रतिबिंब-सदृश' (**आदर्शतलसंस्थितम्**) पुत्र से बढ़कर और क्या प्रिय हो सकता है—**नास्ति पुत्रसमः प्रियः** (२।७४।२४)। कवि ने दशरथ और अंधमुनि के पुत्र-स्नेह का मार्मिक चित्रण कर पुत्र के प्रति मानव की शाश्वत ममता को साकार कर दिया है।

पुत्रों में भी ज्येष्ठ पुत्र का अधिकारपूर्ण स्थान था। वंशगत और भावनात्मक दोनों कारणों से वह पिता का अधिक प्रीति-पात्र था।[1] दशरथ के चारों पुत्रों में से ज्येष्ठ राम ही उनकी आंखों के तारे थे (**तेषां केतुरिव ज्येष्ठो रामो रतिकरः पितुः**, १।१८।२४)। गुणवती पटरानी कौसल्या के गुणवान् पुत्र होने के नाते राम के प्रति दशरथ का आकर्षण और भी बढ़ा हुआ था।[2] विश्वामित्र की यज्ञ-रक्षा के लिए राम को दशरथ इसीलिए नहीं भेजना चाहते थे कि वह उनके जेठे बेटे थे।[3] कैकेयी निस्संदेह दशरथ की प्राणप्रिय भार्या थी, पर राम उससे भी अधिक उन्हें प्यारे थे।[4] कैकेयी की मांगें पूरी करने का वचन देते हुए उन्होंने राम की शपथ खाई थी—**तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम्** (२।११।७)।

उत्तराधिकार का कानून ज्येष्ठ पुत्र को विशेषाधिकार प्रदान करता था। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, उसे अपने छोटे भाइयों से पहले राजगद्दी पर बैठने का अधिकार था।[5] पिता की अंत्येष्टि तथा पितरों के श्राद्ध में पिंड-दान करने का पहला अधिकार ज्येष्ठ पुत्र को ही प्राप्त था। ऐसी मान्यता थी कि पिता के प्रिय

---

१. प्रायेण हि नरश्रेष्ठ ज्येष्ठाः पितृषु वल्लभाः ।। १।६१।१९
२. ज्येष्ठायामसि मे पत्न्यां सदृश्यां सदृशः सुतः । उत्पन्नस्त्वं गुणज्येष्ठो मम रामात्मजः प्रियः ।। २।३।३९-४०
३. ज्येष्ठे धर्मप्रधाने च न रामं नेतुमर्हसि । १।२०।१२
४. अवलिप्ते न जानासि त्वत्तः प्रियतरो मम । मनुजो मनुजव्याघ्राद्रामादन्यो न विद्यते ।। २।११।५
५. सततं राजपुत्रेषु ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते ।। २।७३।२२

पुत्र द्वारा प्रदत्त पिंड आदि पितृलोक में अक्षय हो जाते हैं।[1]

बड़े भाई के विवाह को प्राथमिकता दी जाती थी। उससे पहले विवाह कर लेनेवाला छोटा भाई 'परिवेत्ता' कहलाता था और नरक का भागी बनता था।[2] छोटे भाई बड़े भाई को पितृतुल्य मानते और उसके आदेशों का तन-मन से पालन करते थे। जब कुंभकर्ण ने लंका की राज्य-सभा में रावण को राजधर्म पर उपदेश दे डाला, तब रावण ने उत्तेजित होकर उसे फटकारा कि मैं तुम्हारा बड़ा भाई और आचार्य की तरह माननीय हूं, फिर तुम मुझे क्या शिक्षा बघार रहे हो ?—**मान्यो गुरुरिवाचार्यः किं मां त्वमनुशाससे** (६।६३।२३)। भरत को 'ज्येष्ठानुवर्ती' अर्थात् भाई का आज्ञा-पालक कहा गया है। वन-गमन की वेला में सुमित्रा ने लक्ष्मण को जो उपदेश (२।४०।५-९) दिया, उससे भी यह स्पष्ट है कि छोटे भाई के लिए बड़ा भाई संमान का कितना पात्र था। इसी तरह बड़े भाई का भी यह कर्तव्य था कि वह छोटे भाइयों से पुत्र-तुल्य व्यवहार करे। राज्य करते समय राम हर एक कार्य में अपने भाइयों का परामर्श लिया करते थे तथा उन्हें सुख पहुंचाने और प्रसन्न रखने की चेष्टा करते थे।

माता-पिता अपनी संतान के परम स्नेह और श्रद्धा के भाजन थे। पिता शब्द की व्युत्पत्ति 'पा' (रक्षा करना) धातु से हुई है और इसलिए पिता का अर्थ संरक्षक है। यह व्युत्पत्तिजन्य अर्थ ही पिता के उस सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व का सूचक है, जो वह अपने नन्हें अबोध शिशुओं का पालन-पोषण करके निभाता है। 'माता और पिता पुत्र के प्रति सर्वदा जो स्नेहपूर्ण बर्ताव करते हैं—अपनी शक्ति के अनुसार उत्तम खाद्य-पदार्थ देने, अच्छे बिछौने पर सुलाने, उबटन लगाने, सदा मीठी बातें बोलने, लालन-पालन करने आदि के द्वारा जो उपकार करते हैं—उसका बदला सहज ही नहीं चुकाया जा सकता।...जिसमें मनुष्य अपने प्रादुर्भाव का मूल पाता है और जो प्रत्यक्ष देव-तुल्य है, उस पिता का वह कैसे विरोध कर सकता है ?[3]

---

१. प्रियेण किल दत्तं हि पितृलोकेषु राघव। अक्षयं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः॥ २।१०२।८

२. नास्तिकः परिवेत्ता च सर्वे निरयगामिनः॥ ४।१७।३६

३. यन्मातापितरौ वृत्तं तनये कुरुते सदा। न सुप्रतिकरं तत्तु मात्रा पित्रा

पिता और माता की आज्ञा का पालन पुत्र का सर्वोपरि कर्तव्य था। राम के अनुसार 'इससे बढ़कर विडंबना और क्या हो सकती है कि हम अपने बीच प्रत्यक्ष रूप से विराजमान माता, पिता और गुरु की तो उपेक्षा करें और उन देवताओं की पूजा करें, जिनके अस्तित्व का हमें कुछ पता नहीं? जिनकी सेवा से धर्म, अर्थ और काम तीनों की प्राप्ति होती है, जिनकी आराधना से तीनों लोकों की आराधना हो जाती है, उन माता-पिता के समान पवित्र इस संसार में दूसरा कोई भी नहीं है। पिता की सेवा करना कल्याण-प्राप्ति का जैसा उत्तम साधन माना गया है, वैसा न सत्य है, न दान है, न मान है और न पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञ ही हैं। गुरुजनों की सेवा से स्वर्ग, धन, धान्य विद्या, पुत्र और सब कुछ भी दुर्लभ नहीं है (२।३०।३२-६)।

इन महान् आदर्शों से अनुप्राणित होकर ही राम ने वन की राह ली थी। उन्होंने कहा था—"सत्य और धर्म में स्थित मेरे पिता मुझे जो भी आदेश दें, मैं उसीका पालन करना चाहता हूं, यही सनातन धर्म है। वन जाने से मैं कैसे इन्कार कर सकता हूं—पिता की आज्ञा, उनकी प्रतिज्ञा और सत्य की मांग, ये सब मुझे जाने के लिए प्रेरित कर रही हैं। पिता की आज्ञा का उल्लंघन कर मैं जीवित नहीं रहना चाहता (२।३०।३८; ३१-२)। माता-पिता के शुश्रूषा-जनित पुण्य से और सत्य के प्रभाव से सुरक्षित होकर राम ने वन को प्रस्थान किया।[1]

ऐसे पुत्रों के भी उदाहरण मिलते हैं, जिन्होंने पिता की आज्ञा का पालन, उसके औचित्य-अनौचित्य का विचार किये बिना ही कर डाला हो। राम पिता के कहने से आग में कूदने, तेज जहर खा लेने और समुद्र में भी गिर पड़ने को तैयार थे; पिता ही उनके हितचिंतक, उनके गुरु और उनके सम्राट् सब कुछ थे।[2] अपनी

यत्कृतम् ॥ यथाशक्तिप्रदानेन स्वापनोच्छादनेन च। नित्यं च प्रियवादेन तथा संवर्द्धनेन च ॥ २।१११।९-१०; यतो मूलं नरः पश्येत्प्रादुर्भावमिहात्मनः। कथं तस्मिन्न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते ॥ २।१८।१६

१. पितृशुश्रूषया पुत्र मातृशुश्रूषया तथा। सत्येन च महाबाहो चिरं जीवाभिरक्षितः ॥ २।२५।६

२. अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके। भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ॥ नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ॥ २।१८।२८-९

माता के संमुख राम ने पिता की आज्ञा का, बिना ननु-नच किये, धर्म समझकर पालन करने की महत्ता प्रतिपादित की, चाहे वह आज्ञा क्रोध, प्रेम अथवा वासना के वशीभूत होकर ही क्यों न दी गई हो—

गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः क्रोधात्प्रहर्षादथ वापि कामात् ।
यद् व्यादिशेत् कार्यमवेक्ष्य धर्मं कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्तिः ॥२।२१।५६

कंडु ऋषि का पिता की आज्ञा से गो-हत्या करना और सगर की आज्ञा से उनके पुत्रों का धरती खोदकर मृत्यु का ग्रास बनना, ये पूर्वकालीन उदाहरण राम के सामने मौजूद थे। इन लोगों ने तथा अन्य कितने ही देवतुल्य पुरुषों ने आंख मीच कर पिता का वचन माना था। पिता की आज्ञा का उल्लंघन करना राम की शक्ति के बाहर की बात थी (२।२१।३०-४)।

एक रोचक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि माता की आज्ञा और पिता के आदेश में परस्पर विरोध होने पर किसका वचन पुत्र के लिए अधिक आदरणीय होना चाहिए। यों तो 'धर्मात्माओं की पिता में जितनी गौरव-बुद्धि होती है, उतनी ही माता में भी'[1], तथापि रामायण में ऐसी विषम स्थिति में पिता की आज्ञा को ही अधिक ऊंचा पद दिया गया है। कौसल्या और राम के संवाद से यह प्रकट है। जब राम ने पिता की आज्ञासुसार वन जाने की अनुमति माता से मांगी, तब कौसल्या ने उनसे कहा—"हे धर्मज्ञ, यदि तुम धर्म का आचरण करना चाहते हो तो यहीं रहकर मेरी सेवा करो। देखो, कश्यप ऋषि अपने घर में ही नियमपूर्वक माता की सेवा में लगे रहे और अन्त में स्वर्ग गये। जिस प्रकार गुरु-भाव से राजा तुम्हारे पूज्य हैं, वैसी मैं भी हूं। मैं तुम्हें वन जाने की आज्ञा नहीं देती, इसलिए न जाओ (२।२१।२४-५)। इसके उत्तर में राम ने परशुराम का उदाहरण दिया, जिन्होंने पिता की आज्ञा का आंख मूंदकर पालन करके अपनी माता रेणुका का सिर फरसे से काटा डाला था (२।२१।२३)। माता के प्रति अतिशय स्नेहमय होने पर भी राम पिता के वचन अधिक माननीय समझते थे, क्योंकि 'पिता की आज्ञा पालन करने से कोई भी धर्म से भ्रष्ट नहीं होता।'[2] शुक्रनीति (२।७८-९) के अनुसार

---

१. यावत्पितरि धर्मज्ञ गौरवं लोकसत्कृते। तावद्धर्मकृतां श्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम् ॥२।१०१।२१

२. पितुर्हि वचनं कुर्वन्न कश्चिन्नाम हीयते ॥२।२१।३७

पिता के पुण्य के प्रभाव से परशुराम को अपनी माता पुनः मिल गई और राम को अपना राज्य पुनः प्राप्त हो गया, जबकि पिता की आज्ञा की अवहेलना करके ययाति और विश्वामित्र के पुत्र निम्नतम स्थिति को प्राप्त हो गए। सामान्यतः माता-पिता दोनों के ही वचन पुत्र के लिए वरेण्य थे, किंतु पितृ-प्रधान परिवार में पिता को स्वभावतः कुछ प्रमुखता मिल जाती थी।

राजकीय परिवारों में ज्येष्ठ पुत्र अपने विवाह के बाद दैनिक कार्य-कलाप में पिता को भरसक सहयोग देता था। सीता से विवाह हो जाने के बाद राम अपने पिता की सेवा-शश्रूषा का विशेष ध्यान रखते थे; उनकी आज्ञा के अनुसार वह राज-काज देखने तथा प्रजाजनों के प्रिय और हित में निरत रहने लगे। समय-समय पर वह अपनी माताओं तथा अन्य गुरुजनों की सेवा करने का भी ध्यान रखते थे। उनके इस वर्ताव से राजा दशरथ, पुरवासी, वेदवेत्ता ब्राह्मण तथा वैश्य-महाजन संतुष्ट और प्रसन्न थे (१।७७।२०-४)।

मानव-सभ्यता के अरुणोदय से ही परिवार को स्थायित्व प्रदान करने में पैतृक स्नेह और यौन इच्छा का प्रमुख योग रहता आया है। समाज का यह कर्तव्य है कि वह इन दोनों भावनाओं का इस प्रकार संचालन करे कि वे सामाजिक दृष्टि से उपयोगी बन जायं। पैतृक स्नेह ही पिता को संतति के लिए त्याग और श्रम करने को कटिबद्ध रखता है। वृद्धावस्था में पुत्र को सब-कुछ सौंप उपराम-वृत्ति ग्रहण करने की आज्ञा देकर हमारे शास्त्रकारों ने पिता के संपत्ति-प्रेम या स्वार्थ-भाव को परिवार की भावी सुख-शांति और सुचारु व्यवस्था के निमित्त नियंत्रित रखने की चेष्टा की। इसी प्रकार यौन भावना पर व्यवहार (कानून), नैतिक और धार्मिक नियमों तथा परंपराओं और संस्कारों का बंधन लगाकर उसे मर्यादित रखा गया, जिससे वह कामोपभोग की उद्दाम वासना की अपेक्षा वंश चलाने की हार्दिक अभिलाषा का रूप ले सके।

परिवार के सदस्यों का सौहार्दमय पारस्परिक संबंध ही आर्य-संस्कृति का प्रधान संबल, उसकी उत्कृष्टता का प्रमुख रहस्य रहा है। रामायणकार ने पाठक के सामने संयुक्त परिवार के विभिन्न सदस्यों के बीच स्नेह और सद्भावनापूर्ण सम्बन्धों का एक उत्कृष्ट चित्र प्रस्तुत किया है। दशरथ के पारिवारिक जीवन का चित्रण कर वाल्मीकि ने पिता-पुत्र, भाई-भाई, पति-पत्नी, देवर-भौजाई, सास-पुतोहू आदि के स्नेहसिक्त एवं अनुकरणीय सम्बन्धों के समुज्ज्वल उदाहरण उपस्थित

किये हैं। यह सत्य है कि कैकेयी की ईर्ष्या-भावना इस सुखी परिवार पर काली छाया की तरह आ पड़ी है, पर उसकी स्वार्थपरायणता और अमर्यादित आचरण के कारण ही तो अन्य सदस्यों की उदात्त वृत्तियां और निःस्वार्थ व्यवहार प्रकाश में आ सके। दशरथ में यदि आदर्श पिता और राम में आदर्श पुत्र मूर्तिमान हो उठे हैं तो लक्ष्मण और भरत में आदर्श भाई तथा कौसल्या और सीता में आदर्श पत्नी का रूप निखरा है। रामायणकालीन समाज का कोई भी अध्ययन, इन विशिष्ट चरित्रों के पारिवारिक आचरण का समुचित मूल्यांकन किये बिना, पूर्ण नहीं हो सकता।

राम और उनके तीनों भाइयों के बीच निश्छल और प्रगाढ़ भ्रातृ-प्रेम था। जैसे गाय के खुर अथवा प्रोष्ठपद नाम के तारे दो-दो के जोड़े में परस्पर अनुरक्त रहते हैं, वैसे ही वे चारों भाई राम-लक्ष्मण और भरत-शत्रुघ्न के दो-दो के जोड़े में परस्पर अनुरक्त थे (प्रोष्ठपदोपमाः)। उनमें कोई स्पर्धा, कोई प्रतियोगिता या कलह नहीं था। राम को अपने भाई प्राणों से प्यारे थे। वन-प्रस्थान के समय उन्होंने सीता को घर पर रहने के लिए समझाते हुए कहा था कि प्राणप्रिय भरत और शत्रुघ्न का तुम अपने भाई और पुत्र के समान विशेष ध्यान रखना।[1] भाइयों के प्रति उनका प्रेम चित्रकूट पर भी उस समय उज्ज्वल रूप में प्रकट हुआ है, जब उनसे अयोध्या लौट चलने की अनुनय-विनय की गई थी। लक्ष्मण ने राम के लिए निःस्वार्थ आत्मोत्सर्ग कर रखा था और राम के भी वह मानों बाह्य प्राण ही थे (बहिः प्राण इवापरः, १।१८।३०)। राम और भरत का प्रेम भी अद्वितीय और देवोपम था। राम का भरत के राज्याभिषेक के प्रस्ताव से आनंदित होकर अपना अधिकार छोड़ देना तथा भरत का उसे स्वीकार न करना और तपस्वी-रूप में जीवन-यापन करना, एक-दूसरे से बढ़कर आदर्श उपस्थित करते हैं।

राम के यौवराज्याभिषेक पर कैकेयी के आक्रोश की घटना को एक अपवाद मान लिया जाय तो हम देखेंगे कि दशरथ की रानियों का पारस्परिक व्यवहार नितांत सौहार्दपूर्ण था। कौसल्या का कैकेयी के प्रति भगिनीवत् व्यवहार था।[2]

---

१. भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः। त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥२।२६।३३

२. तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी। त्वयि... भगिन्यामिव वर्तते ॥ २।७३।१०

सुमित्रा ने अपनी स्थिति सर्वथा गौण बना रखी थी—उसने कौसल्या के हितों में ही अपने हितों को एकाकार कर दिया था और अपने पुत्र को जेठे भाई के प्रति पूर्णतया अनुरक्त बनने देने में ही गौरव का बोध किया था। मंथरा द्वारा बहकाये जाने से पहले कैकेयी राम को अपना बड़ा पुत्र मानती थी; उसके स्नेह के वह और भरत समान रूप से पात्र थे।[1] राम का भी अपनी विमाता के प्रति मातृ-तुल्य व्यवहार था। उन्हें अपने प्रति कैकेयी की सद्भावना में कोई संदेह नहीं था। उसके षड्यंत्र के प्रकट होने पर भी राम के व्यवहार में कोई अंतर नहीं आया। सच तो यह था कि दशरथ के विशाल अंतःपुर में, जहां असंख्य नर-नारी रहते थे, राम से कोई अप्रसन्न नहीं था—

बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम् ।
परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते ।। २।१२।२७

इस प्रकार हम देखते हैं कि माता और पिता की भक्ति, संतति का प्रेम, पति-पत्नी की अनुरक्ति, अतीत की परंपराओं में आस्था तथा पूर्वजों का श्रद्धामय स्मरण—ये ही वे सुकुमार तंतु थे, जो परिवार के सदस्यों को परस्पर बांधे रखते थे। एक संस्कारी हिंदू गृहस्थ का घर, गृह-देवता अग्नि के संरक्षण में, परिवार के जीवित सदस्यों का ही नहीं, अपितु दिवंगत पितरों का भी आवास है। अग्नि की साक्षी में पंच-महायज्ञों का अनुष्ठान किया जाता है तथा पितृ-यज्ञ के समय पूर्वजों का प्रतिदिन स्मरण। ऐसे पवित्र वातावरण में प्राचीन आर्यों का परिवार—मातृ-स्नेह, पैतृक संरक्षण, दाम्पत्य प्रणय और संतानोत्पत्ति की हमारी प्राकृतिक प्रवृत्तियों के आधार पर—समाज-हित में योग-दान करता था।

परिवार का नष्ट-भ्रष्ट, तितर-बितर या विशृंखलित हो जाना एक महान् विपत्ति था। अराजकता के दोषों का वर्णन करते हुए वाल्मीकि कहते हैं कि राजा-रहित प्रदेश में पारिवारिक जीवन और नैतिक जीवन का चरम पतन हो जाता है—तब पिता और पुत्र में संघर्ष होने लगता है और स्त्रियां हाथ से बाहर निकल जाती हैं—नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे (२।६७।१०)।

मनुष्य के चरित्र-निर्माण में कुटुंब के महान् योग को रामायण ने स्वीकार

---

१. स मे ज्येष्ठसुतः श्रीमान् धर्मज्येष्ठ इतीव मे। तत्त्वया प्रियवादिन्या सेवार्थं कथितं भवेत्।।२।१२।१७; ननु ते राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना। २।१२।२१

किया है। कुल या परिवार ही एक ऐसा शिक्षणालय है, जिसमें व्यक्ति स्नेह और सौहार्द का, गुरुजनों के प्रति आदर और भक्ति-भाव का तथा सामूहिक कल्याण के लिए वैयक्तिक प्रवृत्तियों और महत्त्वाकांक्षाओं को दबाने का पाठ सीखता है। अपने जीवन में राम ने जिन अलौकिक गुणों का परिचय दिया, उनकी जड़ें उनके अपने पारिवारिक जीवन में जमी थीं। जहां उन्होंने सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, विद्या और गुरु-सेवा-जैसे सद्गुणों को विकसित किया;[1] वहीं उन्होंने 'प्रजाजनों को सत्य से, दीनों को दान से, गुरुजनों को सेवा से और शत्रुओं को धनुष से जीतना' सीखा।[2] शत्रु और मित्र के प्रति सरल, शिष्ट और स्पष्ट व्यवहार, जीवन के विषम क्षणों में उच्च नैतिकता का आग्रह, विचारों की दृढ़ता, असत्य और ईर्ष्या-द्वेष से सर्वथा मुक्ति, दानशीलता और उदाराशयता, समस्त मानवों के प्रति सेवा-भाव, प्राणि-मात्र के प्रति प्रेम और भ्रातृत्व आदि गुण, जो उनके उथल-पुथल-भरे जीवन में पद-पद पर प्रकट हुए हैं, अपने उद्भव और विकास के लिए पारिवारिक सहयोग, पारिवारिक अनुशासन एवं पारिवारिक वातावरण के ही ऋणी थे। वस्तुतः राम का समग्र जीवन परिवार के मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक सत्प्रभाव का उज्ज्वल दृष्टांत है।

: ८ :

विवाह

विवाह व्यक्ति के जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है, गृहस्थाश्रम की भित्ति और पारिवारिक ढांचे की आधार-शिला। मनु ने उसे स्त्री-पुरुषों के संबंधों को मर्यादा

---

१. सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम्। विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे ॥२।१२।३०

२. सत्त्वेन लोकाञ्जयति द्विजान् दानेन राघवः। गुरूञ्छुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शात्रवान् ॥२।१२।२९

में रखनेवाली कल्याणकारी लौकिक प्रथा माना है—एषोदिता लोकयात्रा नित्यं स्त्रीपुंसयोः शुभा ।[१] रामायण-काल में वह पारंपरिक एवं शास्त्रीय ग्राधारों पर पूर्णतया प्रतिष्ठित हो चुकी थी। सामान्यतः प्रत्येक प्राणी के लिए विवाह—पारिवारिक स्थिरता, सांसारिक सुख और पारलौकिक कल्याण की दृष्टि से—आवश्यक और वांछनीय माना जा चुका था। विशेषकर स्त्रियों के लिए तो विवाह एक प्रकार से उनका नूतन जन्म-संस्कार था; जिस प्रकार उच्च वर्ण का व्यक्ति उपनयन-संस्कार द्वारा द्विजत्व प्राप्त करता है, उसी प्रकार स्त्री पाणिग्रहण द्वारा अपने व्यक्तित्व का उत्कर्ष करती है।[२]

उन दिनों विवाह से पूर्व वर-वधू में कोई परिचय या संपर्क नहीं होता था। उच्च कुल की कन्याएं प्रायः एकांत में रहती थीं और उन्हें प्रेमी जनों से मिलने के कम ही अवसर मिला करते थे। सीता, मंदोदरी, कुशनाभ-कन्याएं, ऋष्यशृंग की पत्नी शांता, इनमें से किसीने विवाह से पहले पति के दर्शन नहीं किये थे। रामायण में जहां कहीं अविवाहित कन्याओं के प्रति प्रणय-प्रस्ताव किये गए हैं, वहां वे या तो असफल सिद्ध हुए हैं अथवा स्वयं कन्याओं द्वारा तिरस्कृत कर दिये गए हैं। शिष्ट वर्गों में विवाह से पहले प्रेम-संभाषण हेय दृष्टि से देखा जाता था, जैसाकि अरजा, वेदवती और कुशनाभ-कन्याओं के आख्यानों से विदित होता है।

वर्ण-व्यवस्था में ज्यों-ज्यों रूढ़िवद्धता और जटिलता आती गई, त्यों-त्यों विवाह-संबंधों का क्षेत्र भी संकुचित होता गया। पर रामायण के युग तक ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई थी। समान शील और कुल के आग्रह के सिवा विवाह-संबंधों पर कोई निर्धारित प्रतिबंध नहीं थे। गोत्र, प्रवर, सपिंड संबंधों के वर्जन आदि का ध्यान रखा जाता था या नहीं, उल्लेख के अभाव में कहना कठिन है। जन्म-पत्रिका आदि मिलाने का रिवाज भी परवर्ती काल का ही लक्षण जान पड़ता है।

अंतर्जातीय विवाहों का प्रचलन था। क्षत्रिय राजकुमारी शांता और ब्राह्मण ऋषिकुमार ऋष्यशृंग का विवाह अनुलोम-विवाह का उदाहरण है, जिसमें उच्च वर्ण का पुरुष निम्न जाति की स्त्री से विवाह करता है। जिस मुनिकुमार को दशरथ

---

१. मनुस्मृति ९।२५

२. वृत्तशीले कुले जातामाचारवति धार्मिके। पुनः संस्कारमापन्ना जातामिव च दुष्कृते ॥ ५।१९।१०, टीका देखिये।

ने भ्रमवश मार डाला था, उसके पिता वैश्य और माता शूद्रा थी।[1] उत्तरकांड के युग में अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों की संख्या और बढ़ गई। क्षत्रिय ययाति और ब्राह्मण देवयानी का संबंध प्रतिलोम-विवाह का उदाहरण है, जिसमें निम्न जाति का व्यक्ति उच्च वर्ण की स्त्री से विवाह करता है।

पुत्र-पुत्रियों के विवाह प्रायः माता-पिता ही रचा करते थे। वर-वधू की स्वतंत्र इच्छाएं कोई महत्त्व नहीं रखती थीं। पति-वरण के प्रश्न में कन्या को पितृवशा, पिता के सर्वथा अधीन बताया गया है। पिता की संमति के बिना उसका स्वेच्छा से पति चुन लेना या किसी प्रेमी के विवाह-प्रस्ताव को स्वीकार कर लेना अनुचित एवं अशोभनीय माना जाता था। जब वायु ने कुशनाभ-कन्याओं से अपनी भार्या बन जाने के लिए कहा, तब उन्होंने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया—"हे मूर्ख, ऐसा समय कभी न आये, जब हम अपने सत्यवादी पिता की उपेक्षा कर स्वेच्छापूर्वक स्वयंवर कर लें। पिता ही हमारे प्रभु और परम देवता हैं। वह जिसको हमें सौंप देंगे, वही हमारा पति होगा—**यस्य नो दास्यति पिता स नो भर्ता भविष्यति** (१।३२।२२)।" ऐसी दशा में शिष्ट आर्य-परिवारों में प्रणय या गांधर्व विवाहों के लिए अनुकूल वातावरण नहीं था।

कन्या की याचना उसके पिता से ही करनी पड़ती थी। सीता से विवाह के इच्छुक राजागण महाराज जनक के समक्ष अपना प्रस्ताव रखते थे।[2] जब कामोन्मत्त राजा दंड ने शुक्र ऋषि की पुत्री अरजा से समागम की इच्छा व्यक्त की, तब उस मुनि-कन्या ने असहमति प्रकट करते हुए कहा—"मैं कुमारिका हूं और अपने पिता के सर्वथा वश में हूं। आप मेरा बलपूर्वक स्पर्श न करें। नरश्रेष्ठ, मेरे तेजस्वी पिता से आप मेरी याचना कर लें।"—

मा मां स्पृश बलाद्राजन् कन्या पितृवशा ह्यहम्।
वरयस्व नरश्रेष्ठ पितरं मे महाद्युतिम्॥ ७।८०।९-११

इस स्थल पर विवाह की उस स्वयंवर-प्रथा की चर्चा कर देना अप्रासंगिक न होगा, जिसमें वधू स्वेच्छा से वर का चुनाव करती है। कुछ लोगों की धारणा है कि सीता का विवाह स्वयंवर-प्रणाली के अनुसार स्वेच्छा-संमत ढंग से हुआ था। यद्यपि

---

१. **शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो नरवराधिप॥** २।६३।५०
२. **वर्धमानां ममात्मजाम्। वरयामासुरागत्य राजानः॥** १।६६।१५-६

स्वयं सीता ने अनसूया के समक्ष अपने विवाह को स्वयंवर बताया था (२।११८।३८), तथापि इस स्वयंवर को रूढ़ अर्थ में 'स्वतंत्र रूप से पति-वरण' समझना गलत है। प्राचीन भारत में स्वयंवर की दो प्रणालियां प्रचलित थीं—एक तो वह, जिसमें वधू एक नियत स्थान पर इकट्ठे हुए वरों में से अपनी रुचि के पति को चुन लेती थी; दूसरी वह, जिसमें पूर्व-निर्धारित शर्तों को पूरा करनेवाला ही कन्या के पाणिग्रहण का अधिकारी होता है। पहली प्रथा रामायण के समय में प्रचलित नहीं थी, दूसरी अवश्य प्रचलित थी; किंतु इसमें भी वधू की स्वतंत्र राय को कोई महत्त्व प्राप्त नहीं था। जो कोई भी वीर नियत शर्तों का भली-भांति पालन कर लेता, वधू उसको वरमाला पहनाने को वाध्य थी। सीता के कथित स्वयंवर में भी यही हुआ; पति का चुनाव उनकी स्वतंत्र इच्छा पर निर्भर नहीं था। स्वयंवर का सारा महोत्सव उनके पिता राजा जनक ने आयोजित किया था, जिसमें उन्होंने घोषणा कर दी थी कि जो व्यक्ति शिव-धनुष को उठाकर तान लेगा, निस्संदेह मेरी कन्या उसकी पत्नी बनेगी।[1] इस प्रकार रामायणकालीन स्वयंवर-प्रथा में भी कन्या की अपेक्षा पिता का ही प्रभाव अधिक था; वही 'धनुर्विद्या में कुशलता'-जैसे मापदंडों के आधार पर पुत्री के लिए वर का चुनाव करता था। यह निर्वाचन भी आमंत्रित व्यक्तियों तक सीमित रहता था। जब कुशनाभ-कन्याओं ने वायु से कहा कि हम पिता की उपेक्षा करके स्वयंवर नहीं करना चाहतीं[2] तब 'स्वयंवर' से उनका अभिप्राय 'स्वयंग्रहण' (स्वेच्छापूर्वक पति चुन लेना) था। इस दूसरे प्रकार के स्वयंवर को उस युग की संभ्रांत कन्याएं अनादर की दृष्टि से देखती थीं। इसके अतिरिक्त उन दिनों के स्वयंवर विशाल, वैभवपूर्ण राजकीय महोत्सव हुआ करते थे, जिनका प्रचार क्षत्रिय राजाओं-महाराजाओं के वर्गों में सीमित था। ब्राह्मणों तथा अन्य वर्णों की कन्याओं के विवाह में स्वयंवर का रिवाज नहीं था।

पुत्रों के निवाह में भी पिता की अनुमति आवश्यक थी। राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न की शिक्षा की समाप्ति के बाद महाराज दशरथ ने ही उनका विवाह

---

१. इदं च धनुरुद्यम्य सज्जं यः कुरुते नरः। तस्य मे दुहिता भार्या भविष्यति न संशयः॥ २।११७।४२

२. मा भूत्स कालो दुर्मेधः पितरं सत्यवादिनम्। अवमन्य स्वधर्मेण स्वयंवरमुपास्महे॥ १।३२।२१

कर देने का निश्चय किया था (१।१८।३६-८)। जनक ने राम-सीता के विवाह में दशरथ की स्वीकृति प्राप्त करने के लिए अपने दूतों को अयोध्या भेजा था (१।६८।२७)।

संतान के विवाह में पैतृक सत्ता का इतना अधिकार होते हुए भी केवल इस कारण विवाहों के दुःखमय होने के उदाहरण नहीं मिलते। सीता और मंदोदरी के पतियों का चुनाव उनके पिताओं ने किया था, फिर भी उन्हें पति-प्रेम पर्याप्त मात्रा में मिला और वे भी अनुरागिणी पत्नियां निकलीं। सीता राम की प्रियतमा इसलिए थीं कि वह उन्हें पिता दशरथ की अनुमति से प्राप्त हुई थीं—**प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति** (१।७७।२६)।

कभी-कभी पिता के अतिरिक्त अन्य लोग भी वैवाहिक संबंध स्थापित कराने में सहायक होते थे। उदाहरणार्थ, अयोध्या और मिथिला के राज-परिवारों में विवाह-संबंध रचाने में विश्वामित्र ने महत्त्वपूर्ण योग दिया था। उन्हींके सुझाव पर जनक की दोनों भतीजियों का विवाह भरत और शत्रुघ्न से हुआ था।

कन्याएं वयस्क होने पर ही ब्याही जाती थीं। सीता और उनकी वहिनें विवाह के बाद अपने-अपने पतियों के साथ एकांत में रमण करने लगी थीं—**रेमिरे मुदिताः सर्वे भर्तृभिर्मुदिता रहः** (१।७८।१४)। इससे उनकी युवावस्था प्रमाणित होती है।

अरण्यकांड में एक स्थल ऐसा है, जिससे सीता का विवाह बाल्यावस्था में हुआ जान पड़ता है। पंचवटी में रावण को अपना परिचय देते हुए उन्होंने कहा था कि विवाह के बाद मैं बारह वर्ष ससुराल में रही और वन आते समय मेरी आयु अठारह[1] वर्ष की थी; दूसरे शब्दों में, सीता का विवाह छः वर्ष की आयु में हो चुका था। किंतु यह प्रमाण अन्य कई प्रसंगों से अविश्वसनीय सिद्ध होता है। छः वर्ष की बालिका में विवाह का उपर्युक्त प्रकार से फलीभूत होना कल्पित नहीं किया जा सकता। अनसूया के समक्ष सीता ने कहा था कि जब मेरी अवस्था विवाह-योग्य (**पति संयोग-सुलभम्**) हुई, तब मेरे पिता जनक मेरे विवाह के विषय में बहुत चिंतित हुए।[2]

---

१. **उषित्वा द्वादशसमा इक्ष्वाकूणां निवेशने। अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते॥** ३।४७।४,११, टीका देखिये।

२. **पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता। चिन्तामभ्यगमद्दीनो वित्त-नाशादिवाधनः॥** २।११८।३४

छः वर्ष की आयु को इस श्रेणी में कदापि नहीं रखा जा सकता। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेखनीय है कि सीता के विवाह-योग्य बनने और राम के साथ उनका विवाह हो जाने—इन दोनों के बीच काफी समय बीता था। इस अरसे में अनेक राजा सीता को पाने की इच्छा से आये, पर पर्वताकार धनुष को देख अपना-सा मुंह लेकर लौट गये (२।११८।४३-४)। फिर उन सबने मिलकर मिथिला को घेर लिया, और एक वर्ष से अधिक समय बीत जाने पर वह घेरा उठ पाया (१।६०।२१-२)। इस प्रकार जब जनक ने सीता-स्वयंवर के 'पण' (शर्त) की घोषणा की, तब से सीता अपना विवाह हो जाने तक आयु में और बड़ी हो चुकी थीं। विवाह-संस्कार के समय उनको माता ने अग्नि के समक्ष जो उपदेश दिया था, उसकी विस्मृति सीता को नहीं हुई थी।[1] अतएव निश्चय ही सीता की आयु इस प्रकार का उपदेश ग्रहण करने योग्य हो गई थी। स्वयं जनक ने विश्वामित्र से कहा था कि मेरी 'वर्धमाना' (प्राप्तयौवना) पुत्री को पाने की इच्छा से बीसियों राजा आये, पर शारीरिक परीक्षा में खरा न उतरने के कारण निराश हो चले गये (१।६६।१५६)। इन प्रमाणों से यह सिद्ध है कि विवाह के समय सीता एक पूर्ण वयस्क, पति-संयोग के अनुकूल एवं बुद्धिमती कुमारिका थीं, जिन्हें माता-पिता से पत्नी के कर्तव्यों की समुचित शिक्षा भी मिल चुकी थी। स्पष्टतः अरण्यकांड का उपर्युक्त स्थल प्रक्षिप्त प्रतीत होता है।[2]

विवाह के समय कन्याओं के वयस्क होने की पुष्टि बालकांड और उत्तरकांड के आख्यानों से भी होती है। कुशनाभ-कन्याएँ, जो उद्धत वायु के विवाह-प्रस्ताव को अनादरपूर्वक ठुकरा सकती थीं और जिन्हें अपने कुल की मान-मर्यादा का पूरा ध्यान था, राजा ब्रह्मदत्त से अपने विवाह के समय अवश्य ही बाल-वधुएँ नहीं रही होंगी। तृणबिंदु की कन्या पुलस्त्य से विवाह के समय गर्भधारण-योग्य अवस्था को प्राप्त कर चुकी थी।

जब कन्याओं का विवाह उनके युवती होने पर किया जाता था, तब पुत्रों का विवाह उनके पूर्ण युवक होने पर किया जाय, यह स्वतःसिद्ध है। अंधमुनि के पुत्र की

१. पाणिप्रदानकाले च यत्पुरा त्वग्निसन्निधौ। अनुशिष्टं जनन्या मे वाक्यं तदपि मे धृतम्॥ २।११८।८

२. अनंत सदाशिव अलतेकर—'पोजीशन आफ वीमेन इन हिंदू सिविलिजेशन', पृ० ६३

हत्या करते समय दशरथ युवराज थे और उनका तब तक विवाह नहीं हुआ था।[1] राम और लक्ष्मण विवाह के समय 'समुपस्थितयौवन' थे—उनका व्यक्तित्व ऐसा सुगठित और कांतिमान् था कि दर्शक निर्निमेष देखते ही रह जाते थे (१।४८।२-६)।

पति और पत्नी की आयु में कभी-कभी काफी अंतर होता था। वृद्धों से युवतियों का विवाह अनहोनी घटना नहीं था। दशरथ ने वृद्धावस्था में केकयराज की युवती कन्या का पाणिग्रहण किया था। तरुणी कैकेयी वृद्ध दशरथ को प्राणों से भी प्यारी थी—**स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्** (२।१०।२३)। इसी प्रकार वृद्ध ब्राह्मण त्रिजट की भार्या तरुणी थी।

विवाह का प्रमुख उद्देश्य श्रेष्ठ संतति को जन्म देकर वंश-वृद्धि में योग देना था। इसलिए माता-पिता इस बात का ध्यान रखते थे कि उनके पुत्र-पुत्रियों को श्रेष्ठ जीवन-साथी मिले। वर-वधू का 'सदृश' होना आवश्यक था। सीता-राम और उर्मिला-लक्ष्मण का विवाह सब प्रकार से अनुरूप था, क्या धर्म की दृष्टि से और क्या रूप माधुरी की।[2] रावण की अशोकवाटिका में सीता को देखकर हनुमान् कह उठे थे कि 'स्वभाव अवस्था, चरित्र, कुल तथा शुभ लक्षणों की समानता के कारण यह काली आंखोंवाली सीता राम के योग्य हैं और राम वैदेही के।'

तुल्यशीलवयोवृत्तां तुल्याभिजनलक्षणाम्।
राघवोऽर्हति वैदेहीं तं चेयमसितेक्षणा ॥५।१६।१४

श्रेष्ठ वधू वह है जो 'अनुरूपा' पत्नी बन सके। मन और शरीर से पति से संयुक्त हो सके, ऐसी उसकी युवावस्था होनी चाहिए। 'शुभाचारा', सती और अनूढ़ा वधू ही पति की प्रियतमा बन सकती है। उसके अखंड कौमार्य पर विशेष ध्यान दिया जाता था। उसका उच्च कुलोत्पन्न, रूप और यौवन से युक्त, अंगांग में मनोहर और गुणावलि से विभूषित होना इष्ट था। रावण की स्त्रियों में से कोई भी ऐसी नहीं थी, जो अकुलीन, कुरूप, गुणहीन, आभूषणों से रहित या पति को अप्रिय हो—

---

१. **देव्यनूढा त्वमभवो युवराजो भवाम्यहम् ॥ २।६३।१४**
२. **सदृशो धर्मसम्बन्धः सदृशो रूपसम्पदा। रामलक्ष्मणयो राजन्सीता चोर्मिलया सह ॥ १।७२।३**

न चाकुलीना न च हीनरूपा नादक्षिणा नानुपचारयुक्ता ।
भार्याऽभवत्तस्य न हीनसत्त्वा न चापि कान्तस्य न कामनीया ।। ५।६।७१

आदर्श वधू में सौभाग्य और मंगल के सूचक कतिपय सुलक्षणों की भी आशा की जाती थी। इन लक्षणों का ब्यौरा लंका की रणभूमि में राम की कथित मृत्यु पर सीता के विलाप वर्णन से प्राप्त होता है। उन्होंने कहा—"सामुद्रिक शास्त्र जाननेवालों ने मुझे सधवा और पुत्रवती बताया था। जिनके कारण कुल-कामिनियां अपने राजा-पतियों के साथ राज-पद पर अभिषिक्त होती हैं, मेरे चरणों में वे कमल-रेखाएं भी हैं। इसके विपरीत, जिन कुलक्षणों के कारण हतभागिनी स्त्रियों को वैधव्य प्राप्त होता है, उनमें से मुझे अपने में कोई भी दिखाई नहीं देता। मेरे बाल बारीक, समान और काले हैं, भौंहें जुड़ी हुई नहीं हैं, जांघें गोल-गोल और रोम-हीन हैं, तथा दांत सटे हुए हैं। आंखों के प्रांत-भाग, नेत्र, हाथ, पैर, टखने और जांघें, ये सब समान और उभरे हुए हैं। नख उतार-चढ़ाववाले और चिकने हैं, तथा उंगलियां भी समान हैं। मेरे उरोज मोटे और सटे हैं—उनके चूचक धंसे हुए हैं। मेरी नाभि गहरी है तथा पार्श्व-भाग और छाती उभरी हुई है। मेरी अंग-कांति खरीदी हुई मणि के समान उज्ज्वल है और शरीर के रोएं कोमल हैं तथा पैरों की दसों उंगलियां और तलवे पृथ्वी से अच्छी तरह सट जाते हैं। इनके कारण भी लक्षणज्ञों ने मुझे शुभ-लक्षणा बताया था। मेरे हाथ-पैर लाल हैं, उनके पोरों में यव (जौ) की समूची रेखाएं हैं। कन्या के लक्षणों का ज्ञान रखनेवालों ने मुझे मंद-मुसकान करनेवाली बताया था (६।४८।७-१४)।"

वर को भी पूर्ण युवा, शुभाचारी और ऊर्ध्वरेता होना चाहिए। वर-वधू के 'सदृशत्व' का आग्रह यह सूचित करता है कि वधू की तरह वर का कौमार्य भी अखंडित होना चाहिए। उसका अध्ययन-क्रम संपूर्ण हो जाना चाहिए। तपस्या, बल, पराक्रम, धन, तेज, यश आदि वर के अन्य अपेक्षित गुण थे। सीता के अनुराग का दावेदार बनने के लिए रावण ने अपनेको इन गुणों में राम की अपेक्षा बढ़ा-चढ़ा बताया था।[1]

माता-पिता अपनी पुत्री के लिए 'अभिरूप' (सुंदर) पति की कामना करते थे।

---

१. न रामस्तपसा देवि न बलेन च विक्रमैः। न धनेन मया तुल्यस्तेजसा यशसाऽपि वा ।।५।२०।३४

पुरुषों में सौंदर्य और सौभाग्य के सूचक लक्षणों का उल्लेख हनुमान् ने सीता के समक्ष राम का वर्णन करते हुए इस प्रकार किया था—"उनके कंधे मोटे, भुजाएं बड़ी-बड़ी, गला शंख के समान और मुख सुन्दर है। गले की हँसली मांस से ढकी हुई है तथा नेत्रों में कुछ-कुछ लालिमा है। उनका स्वर दुंदभि के समान गम्भीर तथा शरीर का रंग सुन्दर और चिकना है। वह श्याम-वर्ण हैं। उनके सभी अंग सुडौल और बराबर हैं। उनके तीन अंग (जांघ, कलाई और मुट्ठी) मजबूत हैं; तीन (भौंहें, दोनों भुजाएं और अंडकोश) लम्बे हैं; तीन (बालों के अग्रभाग, अंडकोश और घुटने) बराबर हैं; तीन (वक्षःस्थल, नाभि के किनारे का भाग और पेट) ऊंचे हैं; तीन (नेत्रों के कोने, नख और हाथ-पैरों के तलवे) लाल हैं; तीन (दोनों पैरों की रेखाएं, सिर के बाल और लिंग) चिकने हैं; तथा तीन (स्वर, चाल और नाभि) गंभीर हैं। उदर और कंठ पर त्रिवली का चिह्न है। (तलवों के मध्य भाग, पैर की रेखाएं और स्तनों के अग्रभाग, ये तीन) धंसे हुए हैं। चार अंग (गला, लिंग, पीठ और फल्लियां) छोटे हैं। मस्तक में तीन भंवर हैं। अंगूठे में चारों वेदों में प्रवीणता की सूचक और ललाट में दीर्घायु की सूचक) चार-चार रेखाएं हैं। वह चार हाथ ऊंचे हैं। उनके (कपोल, भुजा, जांघ और घुटने ये) चार अंग बराबर हैं। शरीर में दो-दो की संख्या में जो चौदह अंग होते हैं (भौंह, नथुने, नेत्र, कान, ओठ, स्तनाग्र, कोहनी, कलाई, घुटने अंगकोश, कमर, हाथ-पैर, कंधे और नितंब अर्थात् कटि के पीछे का वह भाग जिसमें चलने से गड्डे पड़ जाते हैं), वे भी उनके परस्पर सम हैं। उनकी (चारों कोनों की) चारों दाढ़ें (ऊपर और नीचे की पंक्ति के बगलवाले चार-चार दांत) शास्त्रीय लक्षणों से युक्त हैं। वह (सिंह, बाघ, हाथी और सांड़ के समान) चार प्रकार की चाल चलते हैं। उनके ओठ, ठोड़ी और नासिका प्रशस्त हैं। उनकी नाक

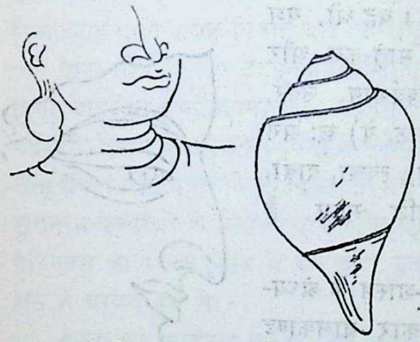

चित्र ४—कंबुग्रीव

लम्बी है। (वाणी, मुख, नख, लोम और त्वचा, इन) पांच अंगों में स्निग्धता भरी है। (दोनों भुजाएं, दोनों जांघें, दोनों फिल्लियाँ और दोनों कनिष्ठिकाएं, ये) आठ दीर्घ हैं। उनके (चेहरा, नेत्र, मुंह, जीभ, ओठ, तालु, स्तन, नख और हाथ-पैर, ये) दस अंग कमल-तुल्य हैं। (छाती, मस्तक, ललाट, गला, भुजाएं, कंधे, नाभि, चरण, पीठ और कान, ये) दस अंग चौड़े हैं। वह श्री, यश और प्रताप से व्याप्त हैं। उसके मातृ-कुल और पितृ-कुल अत्यन्त शुद्ध हैं। (पार्श्वभाग, उदर, वक्षःस्थल, नासिका कंधे और ललाट, ये) छः अंग ऊंचे हैं। उंगलियां, केश, रोम, नख, त्वचा, दाढ़ी, मूंछ के बाल, दृष्टि और वुद्धि सूक्ष्म हैं (५।३५।१५-२०)।"

चित्र ५—उन्नत नासिका

ये परिभाषाएं भारतीय सौंदर्य-शास्त्र के अध्ययन के लिए उपयोगी हैं। इसी प्रकार बालकाण्ड के प्रथम सर्ग में राम के क्षत्रिय-स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उनके कंधे चौड़े और उठे हुए, भुजाएं लम्बी, ग्रीवा शंख की तरह और ठोड़ी दोहरी थी। छाती चौड़ी, लम्बा धनुष संभालनेवाले घुटनों तक लम्बे हाथ, गले की हड्डी मांस से दबी हुई, उत्तम सिर, सुंदर ललाट, बड़ी-बड़ी आंखें, चमकीला रंग, सब अंग बराबर बंटे हुए तथा शुभ लक्षणों से युक्त देह थी (१।१।९-११)।

रामायण में छः प्रकार के विवाहों का वर्णन आया है। प्रथम प्रकार का उदाहरण कुशनाभ-कन्याओं और कांपिल्या के राजा ब्रह्मदत्त का विवाह है। इस विवाह में वर से कुछ भी द्रव्य नहीं लिया गया—उसे राजा कुशनाभ ने आदरपूर्वक आमंत्रित कर वैदिक विधि से अपनी कन्याएं उससे ब्याह दीं (१।३३)। रोमपाद की पुत्री शांता तथा उत्तरकांड में वर्णित राजा तृणविंदु और ऋषि भरद्वाज की कन्याओं के विवाह भी इसी विधि से संपन्न हुए। विवाह का यह प्रकार स्मृतियों के ब्राह्म विवाह का पूर्व-रूप है।

दूसरे प्रकार का विवाह राम और सीता के परिणय में देखा जा सकता है। जनक ने सीता को सब प्रकार के आभूषणों से भूषित कर, राम की एक 'सहधर्मचरी' के रूप में अर्पित कर दिया (१।७३।२५-६)। यह विधि स्मृतिकारों में प्राजापत्य

विवाह के नाम से रूढ़ हुई। इसमें कन्या का पिता वर का समुचित सत्कार कर दोनों को धर्माचरण में सहयोगी बनने को प्रवृत्त करता है।

वर से शुल्क या धन लेकर कन्या ब्याहने का रिवाज संभवतः उत्तर-पश्चिमी सीमांत के आर्यों में प्रचलित था। यह हम देख ही चुके हैं कि केकय देश के राजा ने दशरथ से अपनी कन्या इस शर्त पर ब्याही थी कि वह उसके पुत्र को अपना उत्तराधिकारी बनायंगे। यह विवाह बाद में आसुर विवाह के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

पारस्परिक प्रेम से उद्भूत होनेवाला गांधर्व विवाह आर्येतर जातियों में अधिक पाया जाता था। कई कामासक्त रमणियां स्वेच्छा से आकर रावण की पत्नियां बन गई थीं।[1] राम के प्रबल आकर्षण ने शूर्पणखा को कामातुर बना दिया था और वह उन्हें अपना पति बना लेने को विकल हो गई थी—**चिराय भव मे भर्ता** (३।१७।२५) कुशनाभ-कन्याओं के प्रति वायु का विवाह का प्रस्ताव भी एकपक्षीय प्रणय का परिणाम था। उत्तरकांड में बुध और इला दोनों परस्पर अनुरक्त होकर प्रणय-सूत्र में आबद्ध हुए थे।

कन्या का अपहरण करके उससे विवाह कर लेने की प्रथा दुश्चरित्र और क्रूर-कर्मा राक्षसों में बहुत प्रचलित थी। रावण ने सीता का अपहरण करके उनसे अपनी भार्या बन जाने का अनुरोध किया था—**सीते मम भार्या भव प्रिये** (३।५५।१७)। जब सीता ने यह आपत्ति की कि मैं राम की विवाहिता पत्नी हूँ, अतः तुम्हारे अयोग्य हूं, तब रावण ने उनसे कहा कि मुझे वरण करने में तुम्हें धर्म-लोप की आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि राक्षसों में यह आर्ष प्रथा है—**आर्षोऽयं देवि निष्पन्दः** (३।५५।३५)। टीकाकारों ने 'आर्ष' का अर्थ 'जिसे ऋषिगण राक्षस-विवाह कहते हैं' किया है। किंतु इस प्रकार की व्याख्या का कोई समीचीन कारण नहीं। यहां 'आर्ष' शब्द से अभिप्राय उस विवाह-विधि से है, जो अर्ध-सभ्य जातियों में प्राचीन काल से प्रचलित थी।

कामांध राक्षस लोग अनुत्सुक रमणियों का बलात्कार से उपभोग करने के अभ्यस्त थे। इस प्रकार के अनाचारपूर्ण कृत्य को स्मृतिकारों ने पैशाच विवाह की संज्ञा दी है। इसमें पुरुष किसी युवती को पाशविक बल से वश में करके अपनी वासना

---

१. राजर्षिविप्रदैत्यानां गन्धर्वाणां च योषितः। रक्षसां चाभवन् कन्यास्तस्य कामवशंगताः।...समदा मदनेनैव मोहिताः काश्चिदागताः॥ ५।९।६८-९

परितृप्त करता है। पुंजिकस्थला, रंभा आदि अप्सराओं का रावण द्वारा उपभोग इस प्रकार के बलात् काम-संबंध का उदाहरण है।

उपर्युक्त वैवाहिक संबंधों का कन्या की स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ता था, यह भी एक विचारणीय विषय है। ब्राह्म और प्राजापत्य विवाहों में पिता या अभिभावक वर को कन्या का दान करता था; अर्थात् ये विवाह होते ही कन्या पर सारा नियंत्रण पिता से पति को स्थानांतरित हो जाता था। इन दोनों विवाहों में वधू दान की वस्तु-मात्र होती थी, उसका अपना कोई सक्रिय योग नहीं होता था। किंतु प्राजापत्य विवाह की एक शर्त कन्या के लिए हितकर होती थी। इस प्रणाली में पिता अपनी पुत्री को वर की 'सहधर्मचरी' के रूप में अर्पित करता था, अर्थात् वह वर के साथ यह शर्तनामा करता था कि वर अपनी वधू को यज्ञ, दान आदि में अपनी सहयोगिनी बनायगा और किसी दूसरी स्त्री से विवाह नहीं करेगा। आसुर विवाह में पति को वधू-प्राप्ति के लिए कुछ कीमत चुकानी पड़ती थी। यह भले ही वर के लिए संमान की बात न मानी जाय, पर इससे यह ध्वनि निकलती है कि समाज यह मानता है कि स्त्री का भी कुछ मूल्य है और उसे पाने के लिए यह मूल्य चुकाना जरूरी है। यह मूल्य धन या संपत्ति के रूप में न होकर वधू के लिए लाभदायक अन्य बातों का रूप भी ग्रहण कर सकता था। स्वयंवर-विवाह में विवाहेच्छुक राजाओं को कोई निर्धारित वीरोचित प्रदर्शन करना पड़ता था। इस 'वीर्य-शुल्क' अर्थात् बहादुरी की कीमत से वधू को काफी सामाजिक महत्त्व मिल जाता था। गांधर्व या प्रणय-विवाह में वधू की इच्छा सर्वोपरि रहती थी; उसमें पिता द्वारा कन्या-दान का कोई प्रश्न नहीं था। इसके विपरीत, कन्या पिता या अभिभावक के शासन की तत्क्षण उपेक्षा कर देती है। राक्षस और पैशाच विवाह कन्या के लिए अभिशाप-तुल्य थे, क्योंकि इन दोनों में कन्या का अपहरण करके बलात् विवाह किया जाता है।

आधुनिक अर्थ में दहेज-प्रथा का रामायण-काल में प्रचलन नहीं था। विवाह के समय वर को उपहार अवश्य दिये जाते थे, पर वे सर्वथा स्वेच्छाजन्य थे—विवाह से पहले उनकी कोई मात्रा तय नहीं होती थी, जैसा कि बाद में चलकर हो गया।

विवाह में कन्या का दान करते समय उसे 'कन्या-धन' के नाम से उपहार दिये जाते थे। राजा जनक ने सीता के विवाहोत्सव पर प्रभूत कन्या-धन दिया था—गौएं, अच्छे कंबल, रेशमी और सूती वस्त्र, अलंकृत हाथी, घोड़े, रथ, पैदल सिपाही, सखी-रूप सौ कन्याएं, अनेक दास-दासियां तथा बहुत-से मोती, मूंगे और सुवर्ण

(१।७४।३-६)। यह कन्या-धन वधू के वैवाहिक जीवन में स्त्री-धन का रूप ले लेता था। ये सब उपहार जनक ने स्वेच्छा और प्रसन्नतापूर्वक दिये थे—उनके विषय में वर-पक्ष से पहले कोई सौदा नहीं हुआ था।

दूसरी ओर कन्या के अत्यधिक गुणवती या रूपवती होने या वर के बड़ी आयु का होने पर कन्या या कन्या के पिता को कुछ शुल्क या धन देने के उदाहरण मिलते हैं। अनिंद्य सुंदरी सीता को पाने के लिए राम को धनुर्भंग करके 'वीर्य-शुल्क' (पराक्रम का मूल्य) चुकाना पड़ा था; और तरुणी कैकेयी को पाने के लिए वृद्ध दशरथ को 'राज्य-शुल्क' (उसके पुत्र को राजा बनाने का वचन) देना पड़ा था।

रामायणकालीन विवाह-संस्कार विस्तृत शास्त्रीय विधि से किया जाता था। विवाह की रीति-रस्म, जो 'वैवाहिकी' या 'वैवाह्य' कहलाती थीं, मंगल-घड़ी में संपन्न होती थीं—उनमें शुभ नक्षत्र और मुहूर्त का विशेष ध्यान रखा जाता था। वाल्मीकि ने उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र को, जिसके अधिपति भग देवता हैं, विवाह के लिए उपयुक्त समय बताया है।[1]

तत्कालीन विवाह-प्रणाली का पूर्ण परिचय राम-सीता के विवाह-वर्णन से मिलता है (१।६९-७३), जिसमें कुल मिलाकर पांच दिन लगे थे। इस समारोह के तीन मुख्य भाग स्पष्ट पहचाने जा सकते हैं—(१) प्रारंभिक औपचारिक कृत्य, (२) मूल संस्कार अथवा विवाह तथा (३) समुद्वाह; अर्थात् पति-गृह जाने पर किये जानेवाले मांगलिक कार्य।

वर-प्रेषण (विवाह-संबंध के लिए वर के पिता के पास दूत भेजना, जिसे आजकल 'लगुन भेजना' कहते हैं)—धनुष-भंग होने के बाद महाराज जनक ने सर्वप्रथम अपने दूत अयोध्या भेजकर महाराज दशरथ से राम-सीता के विवाह के लिए अनुमति मांगी और उन्हें विवाह संपन्न कराने के लिए पुरोहित-सहित मिथिला पधारने का निमंत्रण दिया। इस प्रकार विवाह का प्रस्ताव वधू का पिता वर के पिता से करता था। वर के पिता ने अपने पुरोहित और संबंधियों से परामर्श कर जनक का निमंत्रण स्वीकार कर लिया और वह दल-बल-सहित वधू-नगरी को चल पड़े।

सीमांत-पूजन (बरात का स्वागत)—मिथिला पहुंचने पर दशरथ का जनक

---

१. **उत्तरे दिवसे ब्रह्मन् फल्गुनीभ्यां मनीषिणः। वैवाहिकं प्रशंसन्ति भगो यत्र प्रजापतिः॥ १।७२।१३**

ने अपूर्व स्वागत-सत्कार किया और उनके सुखपूर्वक ठहरने का प्रबंध कराया। जनक ने इस बात पर हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की कि अयोध्या और मिथिला के राजवंशों में विवाह-संबंध स्थापित हो रहा है, और फिर दशरथ से प्रार्थना की कि वरिष्ठ ऋषि-मुनियों के कर-कमलों से आप कल अपने पुत्रों का विवाह मेरी कन्याओं से संपन्न करायें। दशरथ ने यह प्रस्ताव मुक्त हृदय से स्वीकार कर लिया।

अंकुरारोपण या अंकुरार्पण क्रिया—तत्पश्चात् जनक ने अपना यज्ञ समाप्त किया और अपनी दोनों कन्याओं के विवाह से संबंधित प्रारंभिक क्रियाएं पूरी कीं। इन क्रियाओं की रूपरेखा रामायण में उपलब्ध नहीं होती।

यह विवाह-समारोह का प्रथम दिन था।

वंशावली-कथन (दोनों पक्षों की वंशावलियों का पाठ)—दूसरे दिन जनक ने दशरथ को पुत्रों और मंत्रियों-सहित अपने निवास-स्थान पर पधारने का न्योता दिया। वर-पक्ष के आने पर राम और सीता के महान् पूर्वजों की वंशावलियों का पाठ किया जाने लगा। महाराज दशरथ के प्रस्ताव पर पुरोहित वसिष्ठ ने इक्ष्वाकु-वंश की वंशावली पर प्रवचन किया और अंत में राम और लक्ष्मण की ओर से क्रमशः सीता और ऊर्मिला की मांग की। विदेह-वंशावली का पाठ स्वयं जनक ने किया, क्योंकि उनका यह अभिमत था कि कन्या के विवाह के समय उसीके पविवारवाले को वंशावली का पाठ करना चाहिए।[1]

वर-वधू-गुण-परीक्षा—वंशावली-कथन की समाप्ति पर विश्वामित्र ने इक्ष्वाकु और विदेह राजवंशों के बीच इस वैवाहिक संबंध की श्रेष्ठता तथा वर-वधू की अनुरूपता पर हर्ष प्रकट किया।

वाग्दान—तत्पश्चात् महाराज जनक ने दोनों पक्षों के पुरोहितों और संबंधियों की उपस्थिति में अपना यह संकल्प घोषित किया कि मैं राम के लिए सीता और लक्ष्मण के लिए ऊर्मिला प्रदान करता हूं—

> **सीतां रामाय भद्रं ते ऊर्मिलां लक्ष्मणाय वै।**
> **ददामि परमप्रीतो वध्वौ ते मुनिपुंगव॥** १।७१।२१-२

तदनंतर जनक ने दशरथ से निवेदन किया कि राम और लक्ष्मण के कल्याणार्थ

---

१. **प्रदाने हि मुनिश्रेष्ठ कुलं निरवशेषतः। वक्तव्यं कुलजातेन तन्निबोध महामते॥** १।७१।२

आप गो-दान तथा अन्य मांगलिक कार्य संपन्न करें।

वाग्दान के बाद वर-पक्ष के लोग वधू के पिता को धन्यवाद देकर अपने आवास पर लौट आये।

नांदी-श्राद्ध—महाराज दशरथ ने लौटकर अपने निवास-स्थान पर यथाविधि श्राद्ध-कर्म किया।

इस प्रकार विवाह-कार्य का दूसरा दिन समाप्त हुआ।

गो-दान—तीसरे दिन प्रातःकाल दशरथ ने एक वृहद् गो-दान-समारोह किया और अपने पुत्रों के हितार्थ ब्राह्मणों को हजारों गौओं का दान किया। इन गौओं के सींग सोने से मढ़े हुए थे तथा उनके साथ उनके बछड़े और कांसे के दुहने के पात्र भी थे। इनके अतिरिक्त, राजा ने ब्राह्मणों को कई मूल्यवान् उपहार भी दिये।

विवाह का मूलभूत संस्कार चौथे दिन संपन्न हुआ, जिसके अंतर्गत निम्न-लिखित कृत्य समाविष्ट थे—

वधू-निष्क्रमण (अपने निवास-स्थान से निकलकर वधू का मंडप में आगमन)—जनक की पुत्रियों ने सारे मांगलिक कार्य पूर्ण करके मंडप में प्रवेश किया।

वधू-गृह-आगमन—(वर का वधू के घर आगमन)—उधर प्रारंभिक औपचारिक कृत्यों के बाद जब विजय नामक शुभ घड़ी आई, तब राम और उनके भाई भी सुंदर वस्त्राभूषण धारण कर वधू के निवास पर आये और जनक द्वारा स्वागत किये जाने पर यज्ञ-मंडप में प्रविष्ट हुए।

वेदी-करण (यज्ञ-मंडप में वेदी का निर्माण)—महाराज जनक ने वर-पक्ष के पुरोहित मुनिवर वसिष्ठ से विवाह-संस्कार कराने की प्रार्थना की। वसिष्ठ ने कन्या-पक्ष के पुरोहित शतानंद की सहायता से मंडप के बीच विधिपूर्वक वेदी बनाई और उसे गंध-पुष्पों, अंकुरों से युक्त घड़ों, अक्षतों, दर्भों, होम करने के सुवर्ण-पात्रों आदि से सजाया।

अग्नि-स्थापन और होम—वेदी-अलंकरण के बाद वसिष्ठ ने मंत्रोच्चारण के साथ उस पर समान आकार के दर्भों का आस्तरण बिछाया, यथाविधि अग्नि की प्रतिष्ठा की और आहुतियां डालनी आरम्भ कीं।

वध्वागमन—(वेदी के निकट वधू का आगमन)—महाराज जनक ने 'सर्वाभरणभूषिता' सीता को लाकर अग्नि के पास राम के संमुख बैठा दिया

कन्या-दान—अग्नि की साक्षिता में जनक ने राम को संबोधित करते हुए कहा—

इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव।
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा ॥१।७३।२६-७

"यह मेरी पुत्री सीता है। धर्म-पालन में यह तुम्हारी सहचरी बनेगी। इसे स्वीकार करो। तुम्हारा कल्याण हो! स्वीकृति के रूप में इसका हाथ अपने हाथ में लो। यह पतिव्रता, शुद्ध आचरणवाली और छाया की भांति तुम्हारा अनुगमन करने वाली होगी।" यह कहकर जनक ने मंत्रपूत जल राम के हाथ पर छिड़क दिया। इसी प्रकार जनक ने राम के तीनों भाइयों को संबोधित किया, और उन्हें क्रमशः ऊर्मिला, मांडवी और श्रुतकीर्ति के हाथ सौंपे।

पाणिग्रहण (वर द्वारा वधू का हाथ पकड़ना)—जनक के कन्या-दान के पश्चात् चारों वरों ने अपनी-अपनी वधुओं के हाथ स्वीकृति-रूप पकड़ लिये।

अग्नि-परिणयन (वर-वधू द्वारा अग्नि की परिक्रमा)—चारों इक्ष्वाकु-राजकुमारों ने चारों वधुओं का हाथ पकड़कर यज्ञाग्नि, वेदी, जनक तथा ऋषियों की प्रदक्षिणा की और इस प्रकार वे अपनी-अपनी पत्नियों के साथ विवाह-सूत्र में आबद्ध हुए। फिर सभी वरों ने वधुओं के साथ अग्नि में हवन किया। इस अवसर पर महती पुष्प-वृष्टि की गई, अप्सराओं ने दिव्य दुंदुभि से ताल मिलाते हुए नृत्य किया और गंधर्वों ने सुमधुर गान। इसी घड़ी में तुरही के घोष के साथ रघु-कुमारों ने वधुओं के साथ अग्नि की तीन बार परिक्रमा करके विवाह-संस्कार की इतिश्री की। फिर विवाहित युगल जुलूस बनाकर जनवासे में गये और उनके पीछे महाराज दशरथ, ऋषि-मुनि तथा संबंधी चले।

यह विवाह-समारोह का चौथा दिन था।

पांचवे दिन नववधुओं ने पति-गृह को प्रयाण किया। महाराज जनक ने अपनी पुत्रियों को प्रचुर उपहार देकर विदा किया और कुछ दूर तक जाकर उन्हें पहुँचाया। नवविवाहित दंपतियों के स्वागतार्थ अयोध्या नगरी सुरुचिपूर्वक सजाई गई थी।

अयोध्या में निम्नलिखित मांगलिक कार्य संपन्न किये गए—

गृह-प्रवेश (पति के गृह में प्रवेश) और **वधू-प्रतिगृह** (वधू का स्वागत)—अयोध्या के राजप्रासाद में राजमाताओं ने अपनी पुत्रवधुओं का मंगल-गीतों और

अन्य आवश्यक उपचारों से सत्कार किया।

गृहप्रवेशनीय होम (पति-गृह-प्रवेश के अनंतर किया जाने वाला होम)—नववधुओं के आगमन के उपलक्ष्य में अग्नि में आहुतियां डाली गई और आशीर्वाद की याचना की गई।

देवकोत्थापन (उन देवताओं का विसर्जन, जिनका आह्वान विवाह से पूर्व किया गया था)—देवालयों में प्रणाम तथा अभिवादन-योग्य वृद्धजनों को नमस्कार करने के बाद नवविवाहित वधुएं अपने-अपने पतियों के साथ एकांत में विहार करने लगीं।

उपर्युक्त विवाह-प्रणाली का अध्ययन करने से, विशेषकर पाणिग्रहण और अग्नि-परिणयन संस्कारों के अवलोकन से, पति-पत्नी के पारस्परिक संबंधों के आदर्श पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। क्योंकि पति-पत्नी वैदिक विधि से अग्नि को साक्षी बनाकर परस्पर संयुक्त होते हैं, अतः उनका विवाह कोई समझौता न होकर एक धर्म-बंधन है, जो सभी परिस्थितियों में अटूट और अकाट्य है। रथ और उसके पहिये, वीणा और उसके तारों के समान उनका अन्योन्याश्रित संबंध है। एक बार पति-पत्नी बन जाने पर सदा सर्वदा पति-पत्नी बने रहेंगे, यही विवाह का प्राचीन आर्य-आदर्श है, जिसमें तलाक या पुनर्विवाह की गुंजाइश नहीं। कन्या-दान के अवसर पर वधू का पिता जहां एक ओर वर को यह आश्वासन देता था कि वधू तुम्हारे प्रति सभी परिस्थितियों में अनुरक्त रहेगी, वहां दूसरी ओर वर से यह वचन भी ले लेता था कि सभी संसारिक कार्यों के निर्वाह में वह वधू को अपनी सहधर्मिणी बनायेगा।[1] यह वैवाहिक बंधन की अविच्छिन्नता का सूचक था। लंका-विजय के बाद जब राम ने तथा कथित दूषित सीता को ग्रहण करने से इन्कार कर दिया, तब सीता ने उनपर वैवाहिक प्रतिज्ञा को तोड़ने का आरोप लगाया था—**न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये मम निपीडितः** (६।११६।१६)। मनु की तरह बाल्मीकि भी पति-पत्नी के संबंध को मृत्यु के बाद परलोक में भी अक्षुण्ण मानते थे—

इहलोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबल।
अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा॥ २।२९।१८

अर्थात् इस लोक में पिता आदि के द्वारा जो स्त्री जिस पुरुष को अपने धर्म के अनुसार

---

१. **संश्रुतं गृह्णता पाणिं चरिष्यामीति यत्त्वया॥** ६।३२।२१

जल से संकल्प करके दी जाती है, वह मरने के बाद परलोक में भी उसीकी पत्नी है। सीता की यह प्रबल श्रद्धा थी कि मरने के बाद भी मेरा आर्यपुत्र राम से ही शुभ संगम होगा—**प्रेत्यभावे हि कल्याणः संगमो मे सदा त्वया।** (२।२९।१७)

इस लोकोत्तर आदर्श के विपरीत वास्तविक जीवन में वैवाहिकसंबंधों की अस्थिरता, कटुता और विच्छिन्नता के भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं। पति द्वारा त्यागी गई स्त्री को वाल्मीकि ने एक स्थल पर उपमान के रूप में प्रस्तुत किया है, (**स्त्रीव भर्तृविवर्जिता**, २।६६।४४)। कौसल्या ने ऐसी पत्नियों का उल्लेख किया है जो पति पर विपत्ति आ पड़ने पर उसे छोड़ देती हैं।[1] एक ऐसे राज्य में, जहां कोई शासक नहीं और जहां अराजकता फैली हुई हो, स्त्रियों को वश में रखना कठिन हो जाता है और वे पति की आज्ञा का तिरस्कार कर देती हैं।[2] व्यभिचार के कारण अहल्या, निपट स्वार्थपरायणता के कारण कैकेयी, पति के भी जीवन को तुच्छ मानने के कारण कैकयी की माता तथा उत्तरकांड में लोकापवाद के कारण सीता के परित्याग-जैसी घटनाएं भी कवि ने अंकित की हैं।

रामायण के युग में बहुपत्नी-प्रथा का बोलबाला था। सभी राजाजन, चाहे वे आर्य हों, चाहे वानर या राक्षस, अनेक स्त्रियोंवाले विशाल अंतःपुरों के स्वामी होते थे। दशरथ की चार रानियों के अतिरिक्त उनकी साढ़े तीन सौ स्त्रियां और भी थीं (२।३४।१०-१४; ३९।३६)। रावण की भी अनेकानेक पत्नियां थीं—राजाओं, देवों और राक्षसों की कन्याओं से समृद्ध उसके अंतःपुर को वाल्मीकि ने **स्त्रीवनम्** की संज्ञा दे डाली है। सुग्रीव और वाली के भी भरे-पूरे अंतःपुर थे। मिथिलाधिपति जनक के भी संभवतः एक से अधिक रानियां थीं, बालिका सीता को लालन-पालन के लिए उन्होंने अपनी बड़ी रानी को सौंपा था।[3]

क्षत्रियों के अतिरिक्त ब्राह्मणों में भी कहीं-कहीं अनेक स्त्रियों से विवाह करने का रिवाज दृष्टिगोचर होता है। कश्यप ऋषि के आठ स्त्रियां थीं (३।१४।११)।

---

१. **एष स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम्। अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहन्त्यपि ॥** २।३९।२१

२. **नाराजके...भार्या वा वर्तते वशे। ...नास्ति भार्याऽप्यराजके ॥** २।६७।१०-११

३. **दत्ता चास्मीष्टवद्देव्यै ज्येष्ठायै पुण्यकर्मणे।** २।११८।३३

उत्तरकांड में ब्राह्मण मुनि विश्रवा ने पहले भरद्वाज की कन्या देववर्णिनी से और फिर सुमाली की पुत्री कैकेसी से विवाह किया था। यह बहुपत्नी-प्रथा समाज के वैभवशाली वर्गों में ही प्रचलित थी—मध्यम और दरिद्र वर्ग इससे अछूते थे। दरिद्र ब्राह्मण त्रिजट के एक ही पत्नी थी।

तत्कालीन आर्य-राजाओं के चार मुख्य रानियां हुआ करती थीं, जो महिषी, परिवृक्ति, वावाता और पालाकली कहलाती थीं (१।१४।३५)। इनमें से महिषी पटरानी-पद पर अभिषिक्त थी, परिवृक्ति राजा की उपेक्षित भार्या थी और वावाता उसकी विशेष प्रीति-पात्र थी। कुछ टीकाकारों ने महिषी को क्षत्रिया, परिवृक्ति को वैश्या और वावाता को शूद्रा रानी माना है। डा० एस० सी० सरकार के अनुसार, पालाकली कोई निम्नवर्णा की रानी होती थी और इससे यह संकेत मिलता है कि उच्च राजकीय कर्मचारी अपनी लड़कियों का, किसी राजनीतिक लाभ की दृष्टि से, राजा से विवाह कर देते थे।[1] इस वर्गीकरण को यदि दशरथ के अंतःपुर पर लागू करें, तो कौसल्या को महिषी, सुमित्रा को परिवृक्ति और कैकेयी को वावाता रानी मानना पड़ेगा। रामायण में दशरथ की पालाकली रानी का नामोल्लेख नहीं हुआ है और उसे मात्र 'अपरा' कहा गया है। ये सब नाम और पद अन्योन्याश्रित हैं और एक ऐसी सुनियोजित अंतःपुर-व्यवस्था के सूचक हैं, जिसके सदस्यों के प्रभाव में निरंतर वृद्धि या ह्रास होता रहता था।

अनेक पत्नियोंवाले पति के लिए यह स्वाभाविक था कि वह किसी एक पत्नी के विशिष्ट गुण अथवा सौंदर्य के कारण उसकी ओर अधिक आकृष्ट हो। दशरथ की रानियों में से एक, कैकेयी, उनके मन में बस गई थी और महाराज अपना अधिकांश समय उसीके प्रासाद में बिताया करते थे (२।७२।१२)। उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रदेश से आनेवाली इस छोटी रानी में बड़ी रानियों की अपेक्षा कहीं अधिक लावण्य और आकर्षण था। साथ ही, वह महाराज को उनके बुढ़ापे में प्राप्त हुई थी। अतः अपने रूप और तारुण्य के बल पर उसने शीघ्र ही राजा को अपनी मुट्ठी में कर लिया। "इसमें तनिक भी संदेह नहीं", मंथरा ने कैकेयी को उकसाते हुए कहा था, "कि तुम महाराज को बड़ी प्यारी हो। तुम्हारे लिए वह आग में भी कूद सकते

१. एस० सी० सरकार—'सम ऐस्पेक्ट्स ग्राफ़ द अर्लिएस्ट सोशल हिस्ट्री ग्राफ़ इंडिया', पृ० ८७

हैं। तुम्हें क्रुद्ध करने की उनमें सामर्थ्य नहीं। तुम्हारी रोष-भरी दृष्टि से वह अपनी दृष्टि मिला नहीं सकते। तुम्हारी प्रसन्नता के लिए वह प्राण भी छोड़ सकते हैं, पर तुम्हारी बात को नहीं टालेंगे (२।६।२४-६)।" ऐसी स्थिति में राजा की यह प्रिय रानी, अपने सौभाग्य-मद से मोहित हो, अन्य रानियों को कष्ट पहुंचाने में कुछ कसर नहीं रखती थी।

कैकेयी के प्रति राजा के पक्षपात के कारण उनकी उपेक्षित रानियों की स्थिति दयनीय हो जाती थी। कौसल्या के साथ भी ऐसा ही हुआ। दशरथ की रानियों में आयु और पद की दृष्टि से प्रमुख होने पर भी वह कैकेयी की तुलना में दीन-हीन बन गई थीं। सामान्यतः राजा की उपेक्षित पत्नी अपने कष्ट के दिनों को सहिष्णुता से झेलती थी, और उसमें प्रतिहिंसा की भावना शायद ही कभी उठती हो।

सपत्नियों में भी भरपूर पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष रहता था। एक-दूसरे की संतति इस कटुता का मुख्य स्रोत होती थी। राम के यौवराज्याभिषेक के प्रश्न को लेकर कौसल्या और कैकेयी के बीच ईर्ष्याग्नि भभक उठी थी। कैकेयी को बहकाते समय मंथरा ने कहा था कि सौत का बेटा शत्रु के समान होता है और उसकी समृद्धि साक्षात् मृत्यु के समान—**अरेः सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम्** (२।८।४)।

पति के लिए अपनी सभी पत्नियों को खुश रखना टेढ़ी खीर थी। किसी एक पत्नी का रूठ जाना और फिर राजा का उसे मनाना, अंतःपुरों की एक सामान्य घटना थी। अशोकवाटिका को एक अंतःपुर की उपमा देते हुए कवि ने कहीं पति की गोद छोड़कर जमीन पर लोट जानेवाली प्रियतमा का, कहीं सखियों द्वारा मनाई जानेवाली कुपित स्त्री का, और कहीं मान छोड़कर पति के अनुकूल बन जानेवाली मानिनी भार्या का रमणीय शब्द-चित्र उपस्थित किया है।[1] राजप्रासादों में एक अलग 'क्रोधागार' या कोप-भवन बना रहता था, जहां कोई रूठी रानी गहने फेंककर मैले वस्त्रों में दरवाजे के सामने जमीन पर लेट जाती। जब राजा उसे मनाने के लिए आता, तब वह न उसकी ओर देखती, न बात करती; केवल शोकमग्न हो धरती पर लोट-लोटकर रोती रहती। राजा के उसकी मांगें पूरी करने की शपथ खाने पर ही वह जबान खोलती थी (२।६।२२-८)।

---

१. **अंकादिव समुत्पत्य प्रियस्य पतितां प्रियाम्। वार्यमाणामिव क्रुद्धां प्रमदां प्रियबन्धुभिः॥ प्रसन्नामिव कान्तस्य कान्तां पुनरुपस्थिताम्॥ ५।१४।२६-३१**

अन्य दृष्टियों से अंतःपुर का वातावरण अत्यंत सुख-सुविधा-संपन्न तथा वैभव और विलासिता से परिपूर्ण रहता था। विभिन्न रानियां पृथक् प्रसादों में, अपनी दास-दासियों और पृथक् स्त्री-धन के साथ, अमीरी जीवन बिताया करती थीं। विविध पक्षियों के कलरव तथा मधुर संगीत से निनादित, कोमल शय्याओं और बहुमूल्य आसनों से सज्जित, रमणीय उद्यानों से सुशोभित, विविध अन्न, पान और भक्ष्य पदार्थों से युक्त, दास-दासियों एवं चाटुकारों से भरपूर तथा याचकों एवं भोजनार्थियों से सेवित ये अंतःपुर अपने युग के समस्त ठाठ-बाट के केंद्र होते थे। रावण के अंतः-पुर का विशद चित्रण कर वाल्मीकि ने वहां के वैषयिक जीवन का एक नग्न दृश्य उपस्थित कर दिया है।

यह बहुपत्नी-प्रथा आर्य-संस्कृति का एक दुर्बल अंग थी, और आये-दिन राज-परिवार में कलह का कारण बनती थी। राष्ट्र के जीवन पर उसकी विषैली प्रतिक्रिया होती थी। स्वस्थ राजनीतिक वातावरण के लिए वह अहितकर थी। अनेक पत्नियों की उपस्थिति से व्यक्तिगत स्वार्थों में घात-प्रतिघात होता रहता था, जिसकी स्वाभाविक परिणति गृह-युद्ध, उत्तराधिकारी-विषयक विवाद और संघर्ष, दरबारी षड्यंत्र तथा हत्या के प्रयत्नों में जाकर होती थी।[1]

दशरथ के परिवार में उनके उत्तराधिकारी के प्रश्न पर जो विवाद खड़ा हुआ था, उसके मूल में उनके कुल की पुरानी चली आती बहुपत्नी-प्रथा थी। इक्ष्वाकु-राजा विभिन्न परंपराओंवाले राज्यों की राजकुमारियों से विवाह करके अपने अंतःपुर में विरोधी तत्त्वों को एकत्र कर लेते थे, जिनके स्वार्थों और उद्देश्यों में संघर्ष होता रहता था। केकय देश के राजा एकपत्नी-व्रती थे, अतः ऐसे परिवार की राजकुमारी कैकेयी ने बहुपत्नियोंवाले इक्ष्वाकु-कुल में पहुँचकर राजा को एकमात्र अपना बनाकर रखने की चेष्टा की, तथा अन्य रानियों और उनकी संतान की उनसे उपेक्षा कराई। एक और बात यह थी कि विभिन्न रानियों ने अपने-अपने समर्थकों, संबंधियों और अनुचरों के गुट बना रखे थे, जो अपनी-अपनी संरक्षिका के हितों की

---

१. राम को यह आशंका थी कि कहीं कैकेयी द्वेषवश मेरी माता को जहर न दे दे—क्षुद्रकर्मा हि कैकयी द्वेषादन्याय्यमाचरेत्। परिदद्याद्धि धर्मज्ञ गरं ते मम मातरम्॥ २।५३।१८

रक्षा में तत्पर रहते थे। अयोध्या में दशरथ,[1] कौसल्या और सुमित्रा,[2] तथा कैकेयी[3] के समर्थकों के अपने अलग-अलग दल थे, जो अपनी स्वामिनी के स्वार्थों का सतत ध्यान रखते थे। इस प्रकार अंत:पुर की कुटिल चालों का दुष्प्रभाव राष्ट्र के राजनैतिक जीवन पर भी पड़ता था। इसी ईर्ष्यालु, वैयक्तिक कूटनीति से समूचे कोसल प्रदेश में राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक संकट ही नहीं उत्पन्न हो गया, अपितु स्वयं राजा का अन्तकाल भी सन्निकट आ गया।

ऐसे बहुपत्नी-प्रधान युग में भी एकपत्नी-व्रत का महान् आदर्श मनीषियों की दृष्टि से ओझल नहीं हुआ और कवि ने उस पर पर्याप्त प्रशंसा की वृष्टि की है। अंध-मुनि ने दशरथ के हाथों असमय मारे गए अपने पुत्र की पितृ-सेवा का पुरस्कार इस आशीर्वाद से दिया कि तुम उन दिव्य लोकों को प्राप्त करो, जहाँ एकपत्नी-व्रत का आचरण करनेवाले प्रयाण करते हैं।[4]

एकपत्नी-व्रत का युग-युग से प्रख्यात ज्वलंत आदर्श राम का वैवाहिक जीवन है, पर ऐसे भी शंकालु व्यक्ति हैं, जो रामायण के दो-एक स्थलों से राम की अनेक पत्नियाँ होने का अनुमान लगा लेते हैं। कैकेयी के कान भरते समय मंथरा ने राम की उन **परमाः स्त्रियः** (श्रेष्ठ स्त्रियों) का उल्लेख किया था, जो उनके यौवराज्याभिषेक से हर्ष-विभोर हो उठेंगी।[5] किन्तु राम के प्रस्तावित अभिषेक तक कवि ने उनके सीता के अतिरिक्त और किसी स्त्री से विवाह करने का कोई संकेत नहीं दिया है। राम के वन-गमन के समय सीता अपने को **कौमारी** अर्थात् ऐसे पुरुष की पत्नी बताती हैं, जिसने दूसरी स्त्री से विवाह नहीं किया है (२।३०।८)। इसलिए मंथरा का कथन सर्वथा अपुष्ट है। उसने संभवतः यह अपेक्षा की होगी कि अभिषेक होने पर राम युग-

---

१. पुरं च राष्ट्रं च निहत्य बान्धवान् ममाहितानां च भवाभिभाषिणी ॥ २।१२।१०६
२. वत्स राम चिरं जीव हतास्ते परिपन्थिनः। ज्ञातीन्मे त्वं श्रिया युक्तः सुमित्रायाश्च नन्दय ॥ २।४।३९
३. एवं ते ज्ञातिपक्षस्य श्रेयश्चैव भविष्यति। यदि चेद् भरतो धर्मात् पित्र्यं राज्यमवाप्स्यति ॥२।८।३४
४. या गतिः एकपत्नीव्रतस्य च। तां गतिं गच्छ पुत्रक ॥२।६४।४३-४
५. हृष्टाः खलु भविष्यन्ति रामस्य परमाः स्त्रियः ॥ २।८।१२

धर्मानुसार, अपने पिता की ही तरह, अनेक स्त्रियों से विवाह कर लेंगे। पर राम अपने समय के दास नहीं थे (न च कालवशानुगः, २।१।३१)। अथवा **परमाः स्त्रियः** का अर्थ, टीकाकारों के अनुसार, कौसल्या और सुमित्रा की तरह वे महिलाएं हैं जो राम के लिए वंदनीय थीं। **परमाः स्त्रियः** से अभिप्राय सीता की दासियों या सखियों से भी हो सकता है (क्योंकि जनक ने सीता के साथ कई सहचरी कन्याएं भेजी थीं)।

लंका में प्राणांत करते समय सीता ने सोचा था कि मेरे मर जाने पर राम अपना व्रत समाप्त करके (अयोध्या लौटकर) विशाल-नेत्रा स्त्रियों के साथ रमण किया करेंगे।[1] पर यहां 'रमण' का अर्थ दांपत्य प्रणय ही आवश्यक नहीं है, उसका तात्पर्य स्त्रियों के नृत्य-गान से मनोरंजन करना भी हो सकता है, जो उस समय सामान्यतः प्रचलित था। वास्तव में सीता का प्राणांत हुआ भी नहीं और अयोध्या लौटने पर राम ने अपना दांपत्य जीवन उन्हींके साथ बिताया।

उत्तरकांड के अनुसार सीता के अदृश्य होने पर भी राम ने दूसरा विवाह नहीं किया, यद्यपि राज्य-प्रथा उनके पक्ष में थी। अश्वमेध-जैसे यज्ञों में पत्नी की उपस्थिति अनिवार्य होने के कारण राम, सीता के स्थान पर, उनकी एक स्वर्ण-प्रतिमा रख लिया करते थे, पर उन्होंने दूसरी पत्नी कभी अंगीकार नहीं की।[2] इस प्रकार उन्होंने संपन्न वर्गों के वैवाहिक जीवन में एक सुसंस्कृत, क्रांतिकारी एवं अनुकरणीय आदर्श की प्रतिष्ठा की।

दक्षिण भारत में अनार्य-जातियों में बहुपति-प्रथा (**बहूनाम् एकपत्निता**) के भी संकेत मिलते हैं। किष्किंधा में तारा और रुमा ने सुग्रीव और वाली दोनों से पति का सम्बन्ध रखा था। राम ने वाली को रुमा से अनुचित संबंध रखने के कारण दंड का पात्र समझा। इससे यह सिद्ध है कि आर्यों में बहुपति-प्रथा निंदित थी। इस प्रथा का आभास पृथ्वी-पार्वती-प्रसंग से भी मिलता है, जिसमें पार्वती ने पृथ्वी को अनेकों की पत्नी (**बहुभार्या**) बनने का शाप दिया था (१।३६।२३)।

---

१. **पितुर्निदेशं नियमेन कृत्वा वनान्निवृत्तश्चरितव्रतश्च। स्त्रीभिस्तु मन्ये विपुलेक्षणाभिः संरंस्यसे वीतभयः कृतार्थः॥ ५।२८।१४**

२. **न सीतायाः परां भार्यां वव्रे स रघुनन्दनः। यज्ञे यज्ञे च पत्न्यर्थं जानकी कांचनी भवत्॥ ७।९९।७**

कुछ विद्वानों ने रामायण से ऐसे प्रमाण ढूंढ़ निकालने की चेष्टा की है, जिनसे यह ध्वनि निकलती है कि सीता, मूल परंपरानुसार, राम और लक्ष्मण की संयुक्त पत्नी थीं। इसकी पुष्टि, उनके अनुसार, इन तीन घटनाओं से होती है—(१) वन में मारीच-वध में संलग्न राम की कथित आर्त वाणी को सुनकर भी जब लक्ष्मण उनकी सहायतार्थ नहीं गये, तब सीता ने लक्ष्मण पर यह लांछन लगाया कि तुम्हारी नीयत राम को अपनी राह से हटाकर मुझे पा लेने की दीखती है।[1] (२) लंका-विजय के बाद राम ने यह सुझाव दिया था कि सीता चाहें तो लक्ष्मण अथवा भरत आदि के साथ रह लें।[2] (३) वन में राम-लक्ष्मण के साथ सीता को देखकर विराध राक्षस ने यह अनुमान लगाया था कि ये दोनों एक ही स्त्री के साथ (सह) वास करनेवाले पापी हैं।[3] किंतु ये तीनों तथ्य परिस्थिति-विशेष से संबंधित होने के कारण सामान्य वस्तुस्थिति का दिग्दर्शन नहीं कराते। सीता के बहुपतित्व को सिद्ध करने के लिए ये नितांत अस्पष्ट, आनुमानिक और अपर्याप्त हैं। एक आदर्श नारी के रूप में सीता की जो शाश्वत प्रतिष्ठा है, वह रामायण में चित्रित उनके पातिव्रत्य पर ही आधारित है। सीता का वन में लक्ष्मण को लांछित करना, उनके स्त्री-स्वभाव-मात्र का सूचक है; जैसा कि बाद में स्वयं लक्ष्मण ने कहा था—पति के प्रति आतुरता ने उनका विवेक हर लिया था।[4] यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि उक्त आरोप लगाने के तुरंत बाद ही सीता ने दृढ़ता से कहा था कि कमलनयन राम की भार्या होकर मैं दूसरे किसीको अपना पति बनाने की इच्छा कैसे कर सकती हूं।[5] लंका-विजय के बाद राम

१. सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छति। मम हेतोः प्रतिच्छन्नः...॥ ३।४५।२४

२. लक्ष्मणे वाथ भरते कुरु बुद्धिं यथासुखम्। ६।११५।२२

३. कथं तापसयोर्वां च वासः प्रमदया सह। अधर्मचारिणौ पापौ कौ युवां मुनिदूषकौ॥ ३।२।११-२

४. धिक्त्वामद्य विनश्यन्तीं यन्मामेवं विशंकसे। स्त्रीत्वाद्दुष्टस्वभावेन गुरुवाक्ये व्यवस्थितम्॥ ३।४५।३२-२

५. कथमिन्दीवरश्यामं रामं पद्मनिभेक्षणम्। उपसंश्रित्य भर्तारं कामयेयं पृथग्जनम्॥ ३।४५।२५-६

ने सीता को लक्ष्मण आदि के साथ रहने का सुझाव ऐसे समय में दिया था, जब उन्हें सीता के चरित्र पर घोर संदेह था। इसलिए उनका सुझाव, जैसाकि टीकाकारों ने बताया है, इस सामाजिक प्रथा के अनुसार था कि परित्यक्ता स्त्री को पति के मित्रों या संबंधियों की ही शरण लेनी चाहिए। विराध का अनुमान तो सर्वथा निराधार था—उसने एक प्रकार से बहुपति-प्रथा के प्रति अपना तीव्र रोष ही प्रकट किया। संपूर्ण रामायण में लक्ष्मण का सीता के प्रति जो अतिशय आदरपूर्ण व्यवहार दृष्टिगोचर होता है, वह उन्हें सीता का भक्त देवर सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। लंका में सीता अपने एकपत्नी-व्रत की शपथ खाकर हनुमान् की पूंछ की आग से शीतल होने को कहती हैं,[1] और एक दूसरे स्थल पर, शत्रु-गृह में अपनी कैद पर विलाप करते समय, अपने 'पतिव्रतात्व' की निष्फलता का रोना रोती हैं।[2] सच तो यह है कि समग्र रामायण सीता की एकमात्र राम के प्रति अनन्य अनुरक्ति के अनगिनत प्रमाणों से ओत-प्रोत है।

एक और भी विचित्र बात कुछ शोधकर्ताओं ने सुझाई है, वह यह कि दशरथ-कौसल्या का विवाह भाई-बहन का विवाह था। इसके पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि 'कौसल्या' यह दशरथ की पटरानी का निजी नाम नहीं है; वंशावलियों में इसका अर्थ कोसलराज की कन्या किया गया है, पत्नी नहीं; अतः यदि दशरथ कोसल के राजकुमार थे तो कौसल्या कोसल की राजकुमारी एवं दशरथ की सगी या चचेरी बहन थीं।[3] किंतु इस निष्कर्ष का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है; यह तो आर्य-महापुरुषों को नीचा दिखाने का बौद्धों का एक कुशल प्रयत्न-भर है। वस्तुस्थिति यह है कि रामायण-काल में दो कोसल प्रदेश थे—एक उत्तर कोसल या अवध और दूसरा दक्षिण कोसल या आधुनिक छत्तीसगढ़; और उनपर दो पृथक् राजा शासन करते थे।[4] इक्ष्वाकु द्वारा प्रवर्तित सूर्यवंश के राजा

---

१. यदि वा त्वेकपत्नीत्वं शीतो भव हनूमतः। ५।५३।२६
२. पतिव्रतात्वं विफलं ममेदम्। ५।२८।१२
३. एस० सी० सरकार—'सम एस्पेक्ट्स आफ द अर्लिएस्ट सोशल हिस्ट्री आफ इंडिया', पृ० १४९
४. इमौ कुशीलवौ राजन्नभिषिच्य नराधिप। कोसलेषु कुशं वीरं उत्तरेषु तथा लवम्॥ ७।१०७।७

उत्तर कोसल पर राज्य करते थे और अयोध्या उनकी राजधानी थी। दशरथ-कृत अश्वमेध-यज्ञ-समारोह में किन्हीं भानुमंत नामक कोसलराज को आमंत्रित किया गया था।[1] यह भानुमंत संभवतः दक्षिण कोसल अथवा महाकोसल के शासक और कौसल्या के पिता थे। इस प्रकार कौसल्या, कोसल-राजकुमारी होने पर भी, दशरथ की बहिन नहीं थीं और इन दोनों का विवाह सर्वथा वैध एवं शास्त्र-सम्मत था।

ऐसी ही तिरस्कार-भावना से प्रेरित होकर बौद्धों ने राम को सीता का पति और भाई दोनों सिद्ध करने की चेष्टा की। किंतु यदि सीता राम की बहिन होतीं तो उनका राम के साथ वन जाना किसी प्रकार आवश्यक या अपेक्षित नहीं था। साथ ही, यह भी अस्वाभाविक प्रतीत होता है कि एक क्षत्रिय अपनी ऐसी बहन के साथ अविवाहित रूप में चौदह वर्ष तक साथ रहा, जिसके साथ वह विवाह करने को स्वतंत्र था। कम-से-कम वाल्मीकि-रामायण में राम और सीता के भाई-बहिन होने का कोई आभास नहीं मिलता।

: ६ :

प्रेम

प्रेमीजनों के आकर्षण एवं अनुराग के अनेक मंजुल चित्र रामायण में उपलब्ध हैं। सुन्दरियों के प्रति पुरुष की उद्दाम वासना और प्रणय-क्रीड़ाओं में स्त्रियों की अपार रुचि—दोनों ही कवि-तूलिका का स्पर्श पाकर मुखरित हो उठे हैं। तारा के शब्दों में, 'काम का दुर्दमनीय प्रभाव किसे अभिभूत नहीं करता! प्रिय का सान्निध्य समस्त संकोच और शिष्टाचार को दूर भगा देता है। कामासक्त मनुष्य को देश-काल और अर्थ-धर्म का ज्ञान नहीं रह जाता। काम के असह्य बल को रोकना या दबाना अत्यन्त कठिन है, उसे मिटा देना तो दूर रहा। धर्म और तपस्या में निरंतर संलग्न रहनेवाले और माया-मोह से परे ऋषि-मुनि भी कभी-

---

१. तथा कोसलराजानं भानुमन्तं सुसत्कृतम्। १।१३।२६

कभी विषयाभिलाषी हो जाते हैं, फिर सामान्य मनुष्य की तो बात ही क्या !' (४।३३।५४-७)

स्वयं राम ने मानवों पर काम के प्रबल प्रभाव को स्वीकार किया है। अपने पिता दशरथ पर आई विपत्ति और उनके मति-भ्रम पर विचार करने के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुंचे थे कि धर्म और अर्थ की अपेक्षा काम ही अधिक बलवान् है—काम एवार्थधर्माभ्यां गरीयानिति मे मतिः (२।५३।९)। स्वयं अपने विषय में वह काम की वाम गति, कुटिल चाल से विस्मित थे—वह काम, जो उनकी कल्याणी पत्नी का स्मरण कराता रहता था, यद्यपि वह बहुत दूर जा चुकी थी और उसका पुनः प्राप्त होना भी कठिन है—

अहो कामस्य वामत्वं यो गतामपि दुर्लभाम्।
स्मारयिष्यति कल्याणीं कल्याणतरवादिनीम् ॥ ४।१।६८

कामासक्त होने पर मनुष्य क्रोध के पात्र को भी अपना प्रेमास्पद बना लेता है। रावण अपनी राक्षसी मनोवृत्ति के कारण शत्रु-पत्नी सीता की हत्या कर डालने के लिए बार-बार प्रेरित होता था, किंतु सीता के गुलाबी और चिकने तलवे और लाल-लाल नखोंवाले सुडौल पैर उसके काम-भाव को जागृत कर देते थे,[1] और उसका रोष स्नेह एवं करुणा में परिणत हो जाता था।[2]

लंका के भवनों में हनुमान् का राक्षसी रमणियों की उत्तप्त प्रणय-भावना तथा काम-क्रीड़ा से रुचिर परिचय हुआ था। प्रियतम और मद्य-पान में उन कामोन्मत्त प्रमदाओं का विशेष अनुराग था। जैसे पक्षी और पक्षिणी परस्पर विहार करते हैं, वैसे ही वे स्त्रियां निशीथ-काल में अपने रमणों द्वारा आलिंगित किये जाने पर एक साथ लज्जा और हर्ष से विभोर हो रही थीं। कोई स्त्री मदन-विद्ध हो कटाक्षपात कर रही थी, तो कोई प्रियतम के अंक में सुखपूर्वक आसीन थी। वे सभी अपने पतियों की प्राणवल्लभा थीं, अपने रमणीय सौंदर्य से उनका हृदय जीत चुकी थीं और अब उनके सहवास में परम प्रीति का अनुभव कर रही थीं (५।५)।

---

१. सुलोहिततलौ श्लक्ष्णौ चरणौ सुप्रतिष्ठितौ। दृष्ट्वा ताम्रनखं तस्या दीप्यते मे शरीरजः ॥ ६।१२।१५

२. वामः कामो मनुष्याणां यस्मिन् किल निबध्यते। जने तस्मिंस्त्वनुक्रोशः स्नेहश्च किल जायते ॥ ५।२२।४-६

रावण के रनवास में उसकी रानियों के प्रसुप्त एवं मद-विह्वल सौंदर्य का अपूर्व दृश्य प्रस्तुत था। रंग-बिरंगे वस्त्रों और पुष्पहारों से सज्जित अनेक सुंदरियां सुरा-पान, काम-क्रीड़ा और नृत्यादि-जन्य परिश्रम के कारण उस ढलती रात में नींद से अचेत हो रही थीं। तारों से सुशोभित शरत्कालीन आकाश के समान प्रतीत होती थी रमणी-रत्नों से जगमगाती रावण की वह नारी-शाला। अस्तव्यस्तता ने उनकी चारुता को द्विगुणित कर दिया था। किसीके केश बिखर गये थे, किसीके फूलों के गजरे टेढ़े-मेढ़े हो गये थे, तो किसीके आभूषण छितरा गये थे। किसीका वस्त्र खिसक गया था तो किसीकी करधनी। किसीका चंद्र-किरण के समान हार सिमटकर कुचों के बीच ऐसे पड़ा था मानो कोई हंस सोया हो। कोई किसीकी जांघ पर, कोई किसीकी बांह पर, कोई किसीकी गोद मे या कमर के सहारे तो कोई किसी की पीठ से लिपटी-लिपटाई, अंग-स्पर्श से पुलकित-गात, मद्य और मदन के वश में पड़ी सो रही थी। भुजाओं-रूपी धागों से गुंथी वह स्त्रियों की माला ऐसी सोह रही थी, मानो वृक्षों की कुसुमित शाखाएं वायु-वेग से लिपट गई हों। ऐसे रूप, ऐसे लावण्य को महल के स्वर्ण-दीप भी एकटक निहार रहे थे (५।९-१०)।

यदि प्रणय-क्रीड़ाओं में स्त्रियों की ऐसी स्वस्थ और स्वाभाविक अभिरुचि थी तो पुरुषों का तो कहना ही क्या! उस समृद्ध युग में नारी और नारी के प्रति प्रेम, पुरुषों के जीवन के अंगीभूत थे। युद्ध की तरह प्रेम भी रामायण के वीरों का उद्दाम व्यापार था; दोनों में कूद पड़ने को वे तत्पर रहते थे। भरद्वाज-आश्रम में रक्तचंदन से भूषित और सुंदरी अप्सराओं से संयुक्त होकर भारत के सैनिकों को अयोध्या लौटने की कोई चाह नहीं रह गई थी।[1] अनेक सुंदर एवं तरुण रमणियों के प्रणय का आस्वादन करना तत्कालीन योद्धाओं की दृष्टि में सुखी जीवन का एक मापदंड था।[2] यह मान्यता प्रचलित थी कि युद्ध में वीर-गति पानेवाले सैनिकों का स्वर्ग में अप्सराएं प्रेमपूर्वक स्वागत करती हैं। मृत वाली को संबोधित करते हुए तारा ने कहा था कि अब तो आप रूप और यौवन से इठलाती एवं काम-कला में प्रवीण

१. तर्पिताः सर्वकामैश्च रक्तचन्दनरूषिताः। अप्सरोगणसंयुक्ताः सैन्या वाच-मुदीरयन्। नैवायोध्यां गमिष्यामः...॥ २।९१।५८-९

२. तुलना कीजिये—स्त्रीभिस्तु मन्ये विपुलेक्षणाभिः संरंस्यसे वीतभयः कृतार्थः। ५।२८।१४

अप्सराओं के चित्त को लुभाया करेंगे—

रूपयौवनदृप्तानां दक्षिणानां च मानद ।
नूनमप्सरसामार्य चित्तानि प्रमथिष्यसि ।। ४।२०।१३

दांपत्य प्रणय के नियमानुसार पुरुष ही पत्नी के प्रति अनुराग-सूचक संबोधनों और स्नेह-चेष्टाओं द्वारा प्रणय-प्रदर्शन में अगवानी करता है। वयोवृद्ध महाराज दशरथ की अपनी छोटी रानी कैकेयी के प्रति प्रगाढ़ प्रीति का कवि ने मार्मिक चित्रण किया है। राम-यौवराज्याभिषेक के पहले दिन, राज्य-सभा को विसर्जित कर, जब महाराज दशरथ, काम-संतप्त और 'रत्यर्थी' होकर, स्वर्ग की शोभा को मात करनेवाले कैकेयी के प्रासाद में प्रविष्ट हुए, तब अपनी प्रियतमा रानी को शय्या पर न पाकर उनका रोम-रोम व्याकुल हो उठा। राजा की इस आगमन-वेला को कैकेयी कभी टालती नहीं थी; राजा ने पहले कभी कैकेयी से रहित उस गृह में प्रवेश नहीं किया था। प्रतीहारी से यह सुनकर कि रानी अत्यंत क्रोध में भरकर कोप-भवन की ओर दौड़ी गई हैं, उन्हें बड़ा विषाद हुआ। वहां जाने पर देखा कि वह प्राणाधिका तो 'कटी हुई लता, स्वर्ग से धकेली हुई किन्नरी, देवलोक से च्युत अप्सरा और फंदे में फंसी हरिणी की तरह' भूमि पर पड़ी थी। जैसे कोई महागज विषैले बाण से विंधी अपनी प्यारी हथिनी को दुलारता है, वैसे ही कामी कोसल-नरेश त्रस्त होकर कमलपत्राक्षी कैकेयी का स्पर्श करते हुए प्रणय-सिक्त स्वर में उससे बोले। उनके शब्द जहां पति के स्नेहातिशय्य के सूचक हैं, वहां नितांत सुष्ठु संबोधनों से भी ओत-प्रोत हैं (२।१०।१८-४०)।

वाल्मीकि ने इस तथ्य को छिपाने की कोई चेष्टा नहीं की है कि पति और पत्नी के प्रेम में शारीरिक आकर्षण और काम-चेतना का भी प्रमुख योग होता है। शरत्काल में जल के घट जाने पर धीरे-धीरे अपने रेतीले किनारे प्रकट करनेवाली नदी का वर्णन कर कवि उस नववधू का रमणीय चित्र अंकित कर देता है, जो प्रियतम से प्रथम संगम के समय अपने जघनों को अनावृत करने में संकोच करती है।[1] चंद्रमा की चमचमाती किरणों के स्पर्श से हर्षवश तारों को प्रकाशित करनेवाली और रागवश अंबर (आकाश) छोड़नेवाली संध्यारानी उस प्रेम-लवलीना तरुणी

१. दर्शयन्ति शरन्नद्यः पुलिनानि शनैः शनैः। नवसंगमव्रीडा च जघनानीव योषितः ।। ४।३०।५८

का ही तो प्रतिरूप है, प्रिय के प्रथम स्पर्श से रोमांचित होकर जिसकी आंखों की पुतलियां आनंद के मारे चमक उठती हैं और जो अपना अंबर (वस्त्र) अपने-आप खिसकने देती है।[1] मंद गतिवाली नदी-वधुएं कवि को उन कामिनियों की याद दिलाती हैं, जो अपने कांत से उपभुक्त होकर प्रातःकाल अलसाई चाल से चलती हैं।[2] हनुमान् द्वारा विध्वस्त किये जाने पर अशोक-वाटिका का स्वरूप उस युवती के समान लगता था, काम-क्रीड़ा के कारण जिसके केश बिखर गये हों, तिलक पुंछ गया हो तथा अधर में दंत-क्षत और अन्य अंगों में दंताघात और नखाघात लगे हों।[3]

राम के लिए भी सीता के शोभातिशायी अंग-प्रत्यंग का प्रबल आकर्षण था। लंका पर आक्रमण करने की घड़ी में वह लक्ष्मण से कह उठते हैं—"वह समय कब आयगा, जब शत्रुओं को परास्त करके मैं कमल-दल के समान विशाल नेत्रोंवाली तथा सुंदर नितंबों से युक्त सुंदरी सीता को समृद्ध राज्यलक्ष्मी के समान देख सकूंगा! जैसे रोगी रसायन पीता है, वैसे मैं कब उसके सुंदर दांतों और ओठोंवाले मुखकमल को कुछ ऊपर उठाकर पान करूंगा! उनके परस्पर सटे और ताल-फल के समान बड़े स्तन-युगल कांपते हुए कब मेरे शरीर का स्पर्श करेंगे? देव-कन्या के समान साध्वी सीता उत्कंठापूर्वक मेरे गले लगकर कब आनंद के आंसू बहायेगी!" (६।५।१३-१४-२०) नारी के यौन आकर्षण का एक और उन्मुक्त वर्णन कवि ने उत्तरकांड में रंभा के दर्शन से मोहित रावण के मुख से कराया है (७।२६।२१-४)।

प्रेम का आस्वादन, रति-सुख का उपभोग मनुष्य का मानो अपना अधिकार है। अनुत्सुक सीता को अनुकूल बनाने में विफल रावण को महापार्श्व ने यह राय

---

१. चंचच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका। अहो रागवती सन्ध्या जहातु स्वयमम्बरम्॥ ४।३०।४५

२. नदीवधूनां गतयोऽद्य मन्दाः। कान्तोपभुक्तालसगामिनीनां प्रभातकालेष्विव कामिनीनाम्॥ ४।३०।५४

३. विधूतकेशी युवतिर्यथा मृदितवर्णिका। निपीतशुभदन्तोष्ठी नखैर्दन्तैश्च विक्षता॥ ५।१४।१८

दी कि महाराज, आप तो महाबली हैं; क्यों नहीं मुर्गे की तरह बलपूर्वक उसे बार-बार आक्रांत करके आप उसका उपभोग करते और उससे रमण करते ?[1] प्रिय की प्रीति प्राप्त करने में मनुष्य हर संभव उपाय का आश्रय क्यों न ले ? 'मृगों और सांपों से भरे वन में प्रवेश करके जो मनुष्य मधु-पान नहीं करता, वह निरा मूर्ख है।'[2] दूसरे शब्दों में, दुःखों और चिताओं से व्याप्त इस संसार में ऐहिक सुखों के चरमोत्कर्ष प्रेम से वंचित रहना जीवन के विरल, सारभूत आनंद को खो देना है।

पुरुष और स्त्री का पारस्परिक आकर्षण और यौन संबंध एक सर्वथा स्वाभाविक एवं अपेक्षित कृत्य है और उसपर किसी प्रकार की कृत्रिम रोक लगा देना या उसे अस्वाभाविक संयम में बांध देना अवांछनीय माना जाता था। ऋषि विभांडक ने अपने आश्रम में स्त्रियों का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध कर रखा था। उनका पुत्र ऋष्यशृङ्ग पिता की कठोर निगरानी में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने को बाध्य था। युवक होने तक उसे किसी स्त्री के दर्शन-स्पर्शन का लेश-मात्र भी भान नहीं था। निकटवर्ती अंग राज्य के लोग इसे एक अप्राकृतिक कार्य मानते थे और यही, उनके अनुसार, अनावृष्टि और दुर्भिक्ष का कारण रहा होगा। इस स्थिति को दूर करने के लिए स्त्री-वर्जित विभांडक-आश्रम के कृत्रिम वातावरण में दरार डालने की योजना बनाई गई। यह कार्य अंग-राज्य की वीरांगनाओं को सौंपा गया। उनके हाव-भावों से ब्रह्मचारी ऋष्यशृंग डिग गये और फिर उनका विवाह अंग-देश की राजकुमारी शांता से कर दिया गया। इस प्रकार इस ऋषिकुमार के अंतर्मन की अस्फुट यौन-भावना को, जिसे संयम और अनुशासन के कृत्रिम उपायों द्वारा अंकुरित होने से रोका जा रहा था, विकसित और फलित होने का अवसर देकर अग-राज्य की भूमि भी उर्वरा बना दी गई (१।१०)।

तत्कालीन उद्यान और उपवन उन्मुक्त प्रणय की रंगस्थलियां बने हुए थे (यद्यपि बाद की स्मृतियों के अनुसार उद्यानों में काम-क्रीड़ा वर्जित है)। शीघ्र-

---

१. बलात्कुक्कुटवृत्तेन प्रवर्तस्व महाबल। आक्रम्याक्रम सीतां वै तां भुङ्क्ष्व च रमस्व च ॥ ६।१३।४

२. यः खल्वपि वनं प्राप्य मृगव्यालनिषेवितम्। न पिबेन्मधु सम्प्राप्य स नरो बालिशो भवेत् ॥ ६।१३।२

गामी रथों में सवार होकर प्रणयी युगल अरण्यों में विहार करने जाया करते थे।[1] वानर स्त्रियां, कामावेश में, वनों में क्रीड़ा करने को आतुर हो जाया करती थीं।[2] चित्रकूट पर राम ने सीता का ध्यान कामियों की उन शय्याओं की ओर आकर्षित किया था, जिनपर नरम-नरम कुश-दल बिछे हुए थे—कामिनां स्वास्तरान्पश्य कुशेशयदलायुतान् (२।९४।२४)। अपने वनवास-काल में राम और सीता ने, तन और मन को आह्लादित करनेवाले वातावरण में, पर्याप्त विहार किया था; सीता-हरण के बाद उसका स्मरण कर राम प्रायः उत्तप्त हो जाते थे। प्रेम के अलौकिक आदर्श से अनुप्राणित होते हुए भी वे दोनों प्रेमी और प्रेमिका की नाईं परस्पर अनुरक्त थे, उनके जीवन में रसिकत्व या सहृदयत्व की कमी नहीं थी।

चित्र-विचित्र वेश-भूषा में सजी नारी काम का एक अव्यर्थ उद्दीपन थी। मदिरा का मद उसे और भी लुभावना बना देता था। मतवाली नारियों को आदि काव्य में बारंबार उपमान बनाया गया है (लताः समनुवर्तन्ते मत्ता इव वरस्त्रियः, ४।१।८५) सुरा और सुन्दरी का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध कई स्थलों पर दृष्टिगोचर होता है। शर्करासव की गंध से मिली रावण की रानियों की सांसें उसे रस-विभोर कर रही थीं।[3] प्रेमीगण अपनी प्रेमिकाओं को मद्य-पान के लिए प्रेरित करते थे, क्योंकि इससे प्रेमिका की आंखें विह्वल अतएव अधिक सुंदर दिखाई देती थीं। कवि जहां कहीं नारी-सौन्दर्य का वर्णन करता है, वहां 'मदविह्वलाक्षी', 'मदिरेक्षणा' और 'मदिरलोचना'-जैसे संबोधनों का प्रयोग करना नहीं भूलता। रावण ने भी सीता से मदिरा पीकर भोग-विलास में रत होने और विहार करने का प्रस्ताव किया था—पिब विहर रमस्व भुङ्क्ष्व भोगान् (५।२०।३५)। मद्य-पान से अस्तव्यस्त तारा का वर्णन कर वाल्मीकि ने मदमाती नारी का एक चित्र उपस्थित कर दिया है (४।३३।३८-४०)।

पत्नी के प्रति अतिशय प्रगाढ़ प्रणय-भावनाओं के अपूर्व चित्रांकन पाठक के

---

१. वाहनैः शीघ्रवाहिभिः। नरा निर्यान्त्यरण्यानि नारीभिः सह कामिनः॥ २।६७।१६

२. ततः क्रीडामहे सर्वा वनेषु मदनोत्कटाः। ४।२५।१७

३. शर्करासवगन्धः स प्रकृत्या सुरभिः सुखः। तासां वदननिःश्वासः सिषेवे रावणं तदा॥ ५।६।५६

नेत्रों के सम्मुख घूम जाते हैं। विरही राम के उन्मादपूर्ण विलाप-प्रलाप का चित्रण कर कवि ने मानव की अपनी प्रियतमा के प्रति शाश्वत प्रीति को शब्दों के रमणीय चौखटे में कस दिया है।

रामायण की अनेकानेक काव्य-कल्पनाएं प्रणय-भावों से उद्भूत हुई हैं। वाल्मीकि की दृष्टि में हाथी-हथिनी का संपर्क स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण का प्रतीक है। अशोकवाटिका में सीता के दर्शनार्थ आते समय रावण अपनी स्त्रियों के बीच उसी प्रकार शोभित हो रहा था, जिस प्रकार अरण्य में हथिनियों से घिरा हुआ कोई हाथी सुशोभित हो।[1] दशरथ की मृत्यु हो जाने पर उनकी रानियां वैसे ही विलाप करने लगीं, जैसे किसी गजराज के वध पर उसकी वधुएं क्रंदन करती हैं।[2] राम से वियुक्त सीता अपने सहचर से बिछुड़ी हथिनी की भांति थी।[3] रावण ने सीता की राक्षसी पहरेदारनियों को आज्ञा दी कि जिस प्रकार किसी जंगली हथिनी को पालतू बनाया जाता है, उसी प्रकार तुम सब सीता को मेरे वश में ले आओ—आनयध्वं वशं सर्वा वन्यां गजवधूमिव (३।५६।३१)। कभी-कभी गौ और वृषभ का साहचर्य मानवों के यौन आकर्षण का सूचक माना जाता था। ननिहाल से लौटने पर भरत को अयोध्या ऐसी जान पड़ी मानों किसी गौ को उसके वृषभ ने त्याग दिया हो।[4] सिंह से मारे गये सांड़ पर आंसू बहानेवाली गौ की भांति तारा ने वाली की मृत्यु पर विलाप किया था।[5] रावण को अपनी रानियों के बीच सोते देखकर हनुमान् को प्रतीत हुआ मानो गौओं के बीच कोई सांड़ पड़ा हो (गवां मध्ये यथा वृषः, ५।११।११)। मेघ और विद्युत् भी पति और पत्नी के प्रतीक माने गये हैं। जैसे बादल के साथ बिजली लगी रहती है, वैसे ही रावण की

---

१. स राक्षसेन्द्रः शुशुभे ताभिः परिवृतः स्वयम्। करेणुभिर्यथारण्ये परिकीर्णो यथा द्विपः॥ ५।११।१२

२. ततः प्रचुक्रुशुर्दीनाः सस्वरं ता वरांगनाः। करेणव इवारण्ये स्थानप्रच्युतयूथपाः॥ २।६५।२०

३. यूथपेन विना कृतां...गजराजवधूमिव। ५।२६।२१

४. गोवृषेण परित्यक्तां गवां पत्नीमिवोत्सुकाम्। २।११४।६

५. सिंहेन पातितं सद्यो गौः सवत्सेव गोवृषम्। ४।२३।२६

स्त्रियां उसका अनुगमन कर रही थीं—अनुजग्मुः पतिं वीरं घनं विद्युल्लता इव (५।१८।१५)।

प्रणय का अधिक उदात्त एवं शालीन रूप कवि द्वारा चित्रित प्रेम के आदर्श में उपलब्ध होता है। रामायण का मुख्य प्रतिपाद्य सृष्टि के शाश्वत आदर्श युगल राम और सीता का दांपत्य प्रेम है। उनके पारस्परिक अनुराग की गंभीरता, उदात्तता, और अमरता को सूचित करने के लिए वाल्मीकि ने अनेक अलौकिक एवं आध्यात्मिक उत्प्रेक्षाओं का अवलम्बन लिया है। जिस प्रकार वेद-विद्या आत्म-ज्ञानी स्नातक ब्राह्मण की संपत्ति होती है, उस प्रकार सीता पृथ्वीपति राम की ही सुयोग्य पत्नी थीं।[1] दोनों का साहचर्य अटूट था, एक के विना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। जैसे सूर्य से उसकी प्रभा विलग नहीं की जा सकती, वैसे ही राम से सीता।[2] रोहिणी और चन्द्रमा अथवा लक्ष्मी और विष्णु का-सा कांत उनका संयोग था।[3] विवाह के पश्चात् उनका प्रेम पारस्परिक सहानुभूति और निरंतर साहचर्य के सहारे विकसित हुआ था—वह इस धार्मिक भावना की नींव पर संवर्धित एवं प्रगाढ़ हुआ था कि जीवन के उतार-चढ़ाव में, सुख-दुःख एवं हर्ष-शोक के द्वंद्वों में, हम एक-दूसरे के संगी-साथी हैं; राम के अकृत्रिम सौहार्द और स्नेह ने इस प्रेमिल संबंध को सुधा-रस से सींचा था (६।३२।२०-१; ११६।१५-६; २।२९।२०)। पिता के यहां के अभ्यस्त वातावरण को छोड़ एक अपरिचित घर में आनेवाली नवोढ़ा के लिए इससे वढ़कर सौख्य का विषय और क्या हो सकता है! फलतः दोनों का गार्हस्थ्य जीवन विवाह की लोकोत्तर कल्पना एवं प्रेम के सर्वोच्च आदर्शों से अनुप्राणित था।

रामायण में अन्य सुखी विवाहों के भी उदाहरण मिलते हैं। तारा और मंदोदरी के विलापों में जहां उनकी पति-भक्ति की प्रगाढ़ता अभिव्यक्त हुई है, वहां उनके पतियों का हार्दिक अनुराग भी। जहां तक तपस्या-रत ऋषि-मुनियों

---

१. अहमौपयिकी भार्या तस्यैव च धरापतेः। व्रतस्नातस्य विद्येव विप्रस्य विदितात्मनः॥ ५।२१।१७

२. अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा। ५।२१।१५

३. रोहिणीव शशांकेन रामसंयोगमाप या। २।१६।४२; अतीव रामः शुशुभे मुदान्वितो विभुः श्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः॥ १।७७।२९

या कर्मकांडी ब्राह्मणों के विवाहित जीवन का प्रश्न है, उसमें प्रणय-भावना अपेक्षाकृत गौण थी। उनके लिए विवाह स्वप्निल भावों की पुष्प-शय्या न होकर धर्माचरण की कठोर वेदी थी। पत्नी का अधिकांश समय पति की सेवा-शुश्रूषा करने में, यज्ञ की अग्नि को प्रज्वलित रखने में तथा व्रत-नियमों के अनुष्ठान में पति की सहयोगिनी बनने में ही बीतता था (७।२।२६, २८-९)। मुनि-पत्नी के लिए विवाह एक संस्कार था, एक कर्तव्य-पथ था, जिसका मुख्य लक्ष्य संयम और सदाचार द्वारा आध्यात्मिक सुख और पारलौकिक पुण्य का अर्जन करना था।

'सदृश' अथवा अनुरूप पति-पत्नी में ही प्रेम की प्रगाढ़ता होती है, जैसाकि राम और सीता के बारे में कहा गया है—"सीता ने अपने हृदय-मंदिर में राम को ही विराजमान कर रखा था—राम, जो स्थिरचित्त थे और जिनका मन भी सीता में ही लीन था। सीता के गुणों और रूप के कारण राम का यह अनुराग और भी अधिक होता जाता था। सीता के हृदय में राम द्विगुणित होकर निवास करते थे—अर्थात् राम के प्रति सीता का दुगुना प्रेम था। राम सीता के हृद्‌गत भावों को, न कहने पर भी, अपने हृदय से स्पष्टतया पढ़ लेते थे और सीता राम के भावों को उससे भी अधिक स्पष्टता से जान लेती थी (१।७७।२६-८)।"

अनुराग प्रायः दर्शन-जन्य होता है; अदृष्ट के प्रति प्रेम उत्पन्न नहीं होता।[1] पारस्परिक अनुराग विवाह का चरम लक्ष्य है, उसकी सच्ची आधार-शिला है। पत्नी के प्रति सहृदय और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार ही पति के प्रति उसकी आदर एवं भक्ति की भावना को जगा सकता है। सीता जहां राम के प्रति अत्यधिक अनुरक्त थीं, वहां राम भी उनकी सुख-सुविधाओं का बड़ा ध्यान रखते थे। दोनों एक-दूसरे के अनन्य प्रेमी थे।[2] एकांगी प्रणय वाल्मीकि की दृष्टि में अनुचित एवं वैरस्य-जनक होता है। रावण की स्त्री धान्यमालिनी ने सीता के साथ बलात्कार न करने की प्रार्थना करते हुए अपने स्वामी से कहा था कि अनिच्छुक स्त्री से प्रेम करने-वाले पुरुष को मनस्ताप का शिकार होना पड़ता है; इसके विपरीत किसी अनु-

१. दृश्यमाने भवेत्प्रीतिः सौहृदं नास्त्यदृश्यतः। ५।२६।३६
२. मयि भावो हि वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशितः। ममापि भावः सीतायां सर्वथा विनिवेशितः॥ ४।१।५२

रागिणी स्त्री से प्रेम करने पर प्रसन्नता की प्राप्ति होती है ।[1] इसीलिए रावण अकामा मैथिली का स्पर्श करने को प्रोत्साहित नहीं होता था (एवं चैवमकामां त्वां न च स्प्रक्ष्यामि मैथिलि, ५।२०।६) ।

विवाह की सफलता प्रणय एवं संतान-प्राप्ति में निहित मानी जाती थी (रतिपुत्रफला दाराः) । गृहस्थाश्रम को स्वीकार करनेवाला प्रत्येक स्नातक यह भली भांति जानता था कि विवाह तो वंश-प्रवर्तन के लिए सौंपी गई एक पवित्र धरोहर है । चित्रकूट पर राम ने भरत से पूछा था कि तुम्हारी पत्नी 'सफला' है ? अर्थात्, रति और संतति से युक्त है ?[2] संतानोत्पति ही दांपत्य प्रेम की चरम परिणति है । पुरुप के लिए इससे बढ़कर दुःखद बात और क्या हो सकती है कि वह अपने अनुरूप पत्नी प्राप्त किये विना अथवा उससे आयु-भर पुत्र उत्पन्न किये बिना ही संसार से चल बसे ![3] यौन आकर्षण अथवा काम-भाव की असह्य प्रवलता को अस्वीकार न करते हुए भी रामायण में 'धर्म-रति' (नैतिक नियमों के अनुसार संचालित यौन संबंध) को ही श्रेष्ठ माना गया है । विवाह-संस्कार की संपूर्ण विधि इस बात की पर्याप्त द्योतक है कि यौन समागम एक उदात्त कर्तव्य है, जिसमें स्वार्थपूर्ण भोग-लिप्सा या लंपटता के लिए स्थान नहीं । भारतीय काम-कला लंपटों के उच्छृंखल ऐंद्रिक व्यापार के स्तर पर अपनेको नहीं गिराती । यौन जीवन को मर्यादा में बांधने के लिए रामायण में सहवास के कतिपय नीति-नियम यत्र-तत्र निर्दिष्ट हैं ।[4] उसके अनुसार तन और मन की विशिष्ट परिस्थितियों में ही किया गया काम-संबंध उचित और धर्मसंगत है, और उनके विपरीत की गई यौन क्रिया व्यभिचार है, अनैतिक और मानवों के लिए अशोभनीय । गुरु-पत्नी, औरस पुत्री,

---

१. अकामां कामयानस्य शरीरमुपतप्यते । इच्छन्तीं कामयानस्य प्रीतिर्भवति शोभना ।। ५।२२।४२

२. कच्चित्ते सफला दाराः (दाराणां सफलत्वं धर्मरतिप्रजाभिः—तिलक-टीका) । २।१००।७२

३. तुलना कीजिये—मात्मनः सन्ततिं द्राक्षीत् स्वेषु दारेषु दुःखितः । आयुः समग्रमप्राप्य यस्यार्योऽनुमते गतः ।। २।७५।३६

४. देखिये २।६३।३०; २।७५।४५; ४।१८।२२-३; ४।५५।३; १।४८।१८; ७।६।२२-४; ७।८६।१५

भगिनी तथा भ्रातृ-भार्या के पास काम-बुद्धि से जाना, या उनका कामवश उपभोग करना धर्म और लोकाचार का घोर अतिक्रमण है। पुरुष को केवल अपनी पत्नी के साथ ऋतु-काल में गमन करना चाहिए, वह भी संतानोत्पादन की इच्छा से। संध्या के समय अथवा रजस्वला स्त्री के साथ संभोग वर्जित है। जो जितेंद्रिय गृहस्थ इन नियमों के अनुसार अपना यौन जीवन मर्यादा और संयम में बांधे रखता है, वह (गौण अर्थ में) ब्रह्मचारी ही कहलाने योग्य है।[1]

प्रेम मध्यम भाव से और यथासमय करना चाहिए। विशेषकर राजा को रात्रि का समय ही काम-सेवन के लिए नियत रखना चाहिए, प्रातःकाल या दिन का समय नहीं।[2] अतिप्रणय और अप्रणय दोनों ही अनुचित हैं, अतः मध्यम मार्ग का अनुसरण ही श्रेयस्कर है।[3] अपनी पत्नी के प्रति अंधानुराग का रामायण समर्थन नहीं करती। विरह-पीड़ित राम को सुग्रीव ने सांत्वना देते हुए कहा था— "मैं भी भार्या-हरण के महान् कष्ट से दुःखी हूं, पर मैं न शोक करता हूं, न धैर्य का ही परित्याग। एक तुच्छ वानर होते हुए भी मैं उसके लिए कोई पश्चात्ताप नहीं करता। आप तो महात्मा, शास्त्रज्ञ और धैर्यवान् हैं, इतना विलाप करना आपको शोभा नहीं देता (४।७।६-७)।" दशरथ के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि पत्नी के प्रति सीमातीत आसक्ति बुद्धि को भ्रष्ट कर देती है। लक्ष्मण के अनुसार, दशरथ काम के वशीभूत, वृद्धावस्था के कारण विपरीत-बुद्धि तथा कैकेयी के मोह-जाल में पड़कर असहाय थे (२।२१।२-३)। स्वयं राम ने वन में पहुंचने पर अपने पिता के बारे में ऐसे ही भाव व्यक्त किये थे। कामातमा कैकेय्या वशमागतः, काम-पाश-पर्यस्तः, कामभारावसन्नः आदि संबोधनों द्वारा उन्होंने पिता की काम-परायणता की आलोचना की थी। लक्ष्मण की तरह उनकी भी यही मान्यता थी कि महाराज

---

१. तुलना कीजिये—द्वैविध्यं ब्रह्मचर्यस्य (मेखलाजिनादिरूपं मुख्यं ब्रह्मचर्यम्, दारेषु ऋतुगमनरूपं परं गौणम्—तिलकटीका)। १।६।१५

२. कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतां वर। विभज्य काले कालज्ञ सर्वान्वरद सेवसे ॥ २।१००।६३ (प्रातर्दानादिधर्मकालः, तदनन्तरं आस्थान्यां राज्य-विचारेणार्थकालः, रात्रौ कामकाल इत्यर्थः—गोविन्दराजः)।

३. न चानिप्रणयः कार्यः कर्तव्योऽप्रणयश्च ते। उभयं हि महादोषं तस्मादन्त-रहग्भव ॥ ४।२२।२३

ने एक स्त्री की बातों में आकर अपने आज्ञाकारी पुत्र को राज्य से निर्वासित कर दिया ।[1] कैकेयी के प्रति दशरथ की यह आसक्ति अयोध्या की जनता में भी सुविदित थी और कटु चर्चा का विषय बनी हुई थी ।[2] कामपरायण होना कोई प्रशंसा की बात नहीं है; विशेषकर स्त्रियों के लिए तो 'कामवृत्त' सर्वथा अशोभनीय है ।[3]

वाल्मीकि ने सर्वत्र विवाहित प्रणय को ही श्रेष्ठ पद प्रदान किया है तथा अविवाहित और असंयत प्रेम को निंदा और दंड का पात्र घोषित किया है । अपने प्रकृत स्वभाव के कारण पुरुष नारी का उपभोग करना चाहता है, उससे विवाह करना नहीं, जैसाकि राजा दंड और मुनि-कन्या अरजा के आख्यान से प्रकट है । वाल्मीकि ने 'स्वदारनिरत'—अपनी पत्नी में ही अनुरक्त, होने का आग्रह किया है । उनके अनुसार प्रेम और विवाह दोनों परस्परावलंबी हैं । पर-स्त्री विष-मिश्रित भोजन के समान अग्राह्य है ।[4] सीता ने राम का, परस्त्री-संसर्ग से दूर रहने और अपनी ही स्त्री से प्रेम करने के उपलक्ष्य में, अभिनंदन किया था (३।६।५-६) । मारीच ने परस्त्री-संसर्ग से बढ़कर दूसरा कोई पाप नहीं माना था ।[5] 'जो चंचल-चित्त अजितेंद्रिय पुरुष अपनी ही स्त्री से संतुष्ट नहीं रहता, उस पापात्मा की पराई स्त्रियां बहुत फजीहत करती हैं ।[6] विवाहित स्त्री से प्रणय-प्रस्ताव करना सामाजिक मर्यादा के विपरीत था । सीता ने रावण से कहा था—"अपना मन मुझसे हटाकर तुम्हें अपनी ही स्त्रियों के साथ विहार करना चाहिए । मैं पराई

---

१. को ह्यविद्वानपि पुमान्प्रमदायाः कृते त्यजेत् । छन्दानुवर्तिनं पुत्रम्......।। २।५३।१०

२. राजानं धिग्दशरथं कामस्य वशमास्थितम् । २।४९।४; २।१२।८३ भी देखिये ।

३. कामात्मता खल्वति न प्रशस्ता । २।२१।५८; कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम् । ३।४३।२१

४. तव भार्या महाबाहो भक्ष्यं विषकृतं यथा । ४।६।८

५. परदाराभिमर्शात्तु नान्यत्पापतरं महत् । ३।३८।३०

६. अतुष्टं स्वेषु दारेषु चपलं चपलेन्द्रियम् । नयन्ति निकृतिप्रज्ञं परदाराः पराभवम् ।। ५।२१।८

स्त्री हूं, अतएव न्यायानुसार तुम्हारी भोग्या नहीं हो सकती। पतिव्रता कुलवधू के लिए यह दुष्कर्म है। जगदीश्वर राम की भुजा पर सिर रखकर अब मैं किसी दूसरे की बांह का तकिया कैसे लगा सकती हूं?"[1]

जीवन के धर्म, अर्थ और काम, इन तीन पुरुषार्थों में कौन श्रेष्ठ है? राम के अनुसार, 'जो व्यक्ति धर्म और अर्थ का परित्याग कर काम का ही अनुसरण करने लगता है, वह शीघ्र ही राजा दशरथ की तरह विपत्ति में पड़ जाता है।'[2] जो राजा अपने जीवन में धर्म और अर्थ की उपेक्षा करके काम को प्रधानता देता है, वह धर्मात्माओं की दृष्टि में निंदनीय और राजोचित मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है; वह वृक्ष की शाखा पर सोये हुए उस मनुष्य के समान है, गिरने पर ही जिसकी आंख खुलती है।[3] धर्म, अर्थ और काम, तीनों का यथासमय और यथोचित मात्रा में उपभोग करना ही बुद्धिमानों के लिए कल्याणकारी है।[4]

---

१. उपधाय भुजं तस्य लोकनाथस्य सत्कृतम्। कथं नामोपधास्यामि भुजमन्यस्य कस्यचित्॥ ५।२१।१६; ५।२१।३-४, ६-७ भी देखिये।

२. अर्थधर्मौ परित्यज्य यः काममनुवर्तते। एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा॥ २।५३।१३

३. तुलना कीजिये—त्वं च संक्लिष्टधर्मश्च कर्मणा च विगर्हितः। कामतन्त्र-प्रधानश्च च स्थितो राजवर्त्मनि। ४।१८।१२; हित्वा धर्मं तथार्थं च कामं यस्तु निषेवते। स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते॥ ४।३८।२१-२

४. धर्ममर्थं हि कामं वा सर्वान्वा रक्षसां पते। भजते पुरुषः काले त्रीणि द्वन्द्वानि वा पुनः॥ ६।६३।६; ४।३८।२०-२३ भी देखिये।

: १० :

नारी—घर में

नारी की स्थिति ही किसी समाज की सभ्यता का सच्चा मापदंड है। रामायण-काल की नारी-संस्कृति का यथार्थ स्वरूप जानने के लिए वाल्मीकि ने प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की है। अन्य अनेक महाकाव्यों और नाटकों की तरह रामायण में भी पाठक की अभिरुचि प्रायः उसके नारी-पात्रों पर ही केंद्रित रहती है। संस्कृत के साहित्य-शास्त्र की भाषा में, नारियां ही इस आदि-काव्य का प्रमुख आलंबन हैं—वे ही इसके कथानक को गति प्रदान करती हैं, उसका चरम विकास करती हैं। रामायण में कई प्रधान एवं आनुषंगिक नारी-पात्रों के विशद चित्र अंकित हैं, ऐसे नारी-पात्र, जिनके गुण और दुर्गुण, जिनकी महत्ता और दुर्बलता हमारे संमुख नारी-संस्कृति का एक मिला-जुला रूप उपस्थित कर देते हैं। हिंदू कन्याओं की प्रातःस्मरणीया पांच महानारियों (अहल्या, द्रौपदी, सीता, तारा और मंदोदरी) में से चार रामायण से ही प्रसूत हैं, केवल द्रौपदी महाभारत से संबद्ध है। रामायण में नारी-चित्रण इतना सजीव, इतना प्रमुख है कि वह उसे एक पुरुष-प्रधान काव्य के बजाय एक नारी-प्रधान रचना बना देता है। जहां महाभारत को 'द्यूत-प्रसंग' और भागवत को 'चोर-प्रसंग' की संज्ञा दी जाती है, वहां रामायण को 'स्त्री-प्रसंग' के नाम से यथार्थ ही संबोधित किया जाता है।

रामायण में नारी की स्थिति का कई दृष्टियों से अध्ययन किया जा सकता है। क्योंकि कन्यात्व, पत्नीत्व और मातृत्व उसके जीवन के प्रमुख अंग हैं, अतः समाज में उसकी स्थिति का विश्लेषण इन तीन दृष्टियों से करना समीचीन होगा।

उत्तरकांड में ऐसे कई स्थल हैं, जहाँ विवाह-योग्य कन्याओं की बढ़ती हुई आयु को देखकर माता-पिता के चिंता के उद्‌गार अभिव्यक्त हुए हैं।[1] रामायण के

---

१. कन्या का पिता बनना संमान चाहनेवाले लोगों के लिए दुःख का विषय है—कन्यापितृत्वं दुःखं हि सर्वेषां मानकांक्षिणाम् (७।६।१०)। इसका कारण यह था कि उन दिनों भी पिता को अपनी पुत्री के लिए योग्य वर ढूंढ़ने में

प्रामाणिक कांडों में ऐसे उदाहरण कम हैं, फिर भी हम सीता के उस कथन की उपेक्षा नहीं कर सकते, जिसमें वह कहती हैं कि मेरे विवाह-योग्य होने पर मेरे पिता जनक वैसे ही चिंताग्रस्त हो गए जैसे कोई निर्धन व्यक्ति अपनी स्वल्प संपत्ति नष्ट हो जाने पर चिंतातुर हो जाता है; क्योंकि कन्या के पिता को, चाहे वह इंद्र का ही समकक्ष क्यों न हो, समान और निम्न श्रेणीवाले लोगों से अनादर ही प्राप्त होता है।[1]

इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कन्या के जन्म पर परिवार में प्रसन्नता की लहर नहीं दौड़ती होगी, क्योंकि वह जन्म के साथ ही अपने भावी विवाह की चिंता भी माता-पिता पर लाद देती थी। प्रश्न होता है इस चिंता से मुक्त होने के लिए क्या लोग अपनी नवजात कन्याओं को त्याग तो नहीं दिया करते थे? इस संबंध में वाल्मीकि द्वारा प्रयुक्त एक उपमा विचारणीय है। रावण की कैद में अपने दुर्भाग्य पर विलाप करती हुई सीता की उपमा वाल्मीकि एक ऐसी बालिका से देते हैं, जो निर्जन वन में छोड़ दी जाने के कारण क्रंदन कर रही हो—

कान्तारमध्ये विजने विसृष्टा बालेव कन्या विललाप सीता (५।२८।२)।

क्या इस उक्ति को कोरी उपमा ही मान लेना चाहिए? क्या इससे यह ध्वनि नहीं निकलती कि वाल्मीकि के समय में नवजात कन्याओं के वन में त्याग दिये जाने की घटनाएं भी हो जाया करती थीं?

कठिनाई पड़ती थी। सबसे पहले तो इसी बात का निश्चय नहीं किया जा सकता कि कन्या का वरण कौन करेगा। दूसरे, कन्या की बढ़ती हुई आयु देखकर माता-पिता चिंतित हो जाते थे और वर लोग भी इस भय से विवाह का प्रस्ताव नहीं करते थे कि स्वयं निर्णय करने में समर्थ युवती पुत्री उन्हें कहीं अस्वीकार न कर दे। कन्या अपने चरित्र के विषय में माता, पिता और पति, इन तीनों के परिवारों को संशय में डाले रखती है, क्योंकि यह कोई नहीं कह सकता कि कन्या का भविष्य क्या होगा—वह सुखी एवं पतिव्रता पत्नी बन सकेगी अथवा नहीं (७।६।८-११)।

१. पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता। चिंतामभ्यगमद्दीनो वित्तनाशादिवाधनः। सदृशाच्चापकृष्टाच्च लोके कन्यापिता जनात्। प्रधर्षणमवाप्नोति शक्रेणापि समो भुवि॥ २।११८।३४-५

जिस परिस्थिति में सीता जनक को मिलीं, उससे भी इस प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है। जब जनक यज्ञ-क्षेत्र में हल चला रहे थे, तब उन्हें पृथ्वी पर एक शिशु-कन्या पड़ी हुई मिली, जिसके सारे अंग धूल में सने थे और जो मुट्ठी बांधे अपने हाथों को इधर-उधर फेंक रही थी। आसपास उसका कहीं कोई रक्षक या अभिभावक नहीं था (२।११८।२८-९)। क्या इससे यह संकेत नहीं मिलता कि सीता किसीकी परित्यक्ता कन्या थी, जो जनक को संयोगवश पड़ी हुई मिल गई ? पौराणिक मान्यतानुसार सीता पृथ्वी फोड़कर निकली थीं—**अहं किलोत्थिता भित्वा जगतीं नृपतेः सुता** (२।११८।२८), किंतु यह बात तर्कगम्य नहीं जान पड़ती।

दूसरी ओर यदि हम परिवार में कन्या की स्थिति और उसके प्रति किये जानेवाले व्यवहार की समीक्षा करें तो यह स्वीकार करना होगा कि कन्याओं से किसी प्रकार का द्वेष, द्रोह या घृणा नहीं की जाती थी। इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि कन्या का जन्म हो जाने के बाद उसका लालन-पालन मनोयोग से किया जाता था और उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए उदारता बरती जाती थी। संतान के प्रति स्नेह मानव-मनोवृत्ति का सामान्य लक्षण है और पुत्रियां भी इस स्नेह को भरपूर पाती थीं। पुत्री अपने पिता की 'दयिता' अर्थात् प्रीति-पात्र थी। गुणवती कन्या की प्राप्ति दीर्घ तपस्या से ही संभव है (१।२५।५-६)। सीता को खेत में पड़ी हुई पाकर जनक का संपूर्ण अपत्य-स्नेह उमड़ पड़ा। गोद में उठाकर उन्होंने उसे कन्या-रूप में स्वीकार किया और अपनी सारी ममता उसपर उंडेल दी। जनक की बड़ी रानी ने भी सच्ची माता के स्नेह से उसे पाला-पोसा (२।११८।३०-३३)।

इसपर भी यदि कन्या परिवार की चिंता का कारण होती थी, तो इसके मूल में माता-पिता की यह उद्विग्नता थी कि हमारी पुत्री का विवाहित जीवन कैसे सुखमय हो। कन्या का उपयुक्त ढंग से विवाह संपन्न कर देना बड़े महत्त्व का कार्य था, इसे माता-पिता ज्यों-त्यों नहीं निपटा दिया करते थे। किसी व्यक्तिगत धारणा या धुन के अनुसार नहीं, अपितु पूर्ण विचार-विमर्श के पश्चात्, नियत सिद्धांतों के आधार पर ही, कन्या के लिए वर का चुनाव किया जाता था। कुशनाभ-कन्याओं के विवाह-वृत्तांत से यह प्रकट है। राजा जनक ने भी सीता के विवाहार्थ विशाल स्वयंवर का आयोजन करके अनेक राजाओं से शत्रुता मोल ली, केवल इसलिए कि विश्व का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर उनकी पुत्री का पति बन सके। निश्चय ही

परिवार में कन्या उपेक्षा का पात्र नहीं थी। सीता-हरण के पश्चात् राम यह सोचकर बड़े दुःखी हुए थे कि यदि लोगों के समूह में राजा जनक मुझसे सीता की कुशल के विषय में कहीं पूछ दैठे तो मैं उन्हें क्या उत्तर दूंगा।[१] यह सच है कि कन्या के जन्म से पिता पर एक महान् उत्तरदायित्व आ पड़ता था, किंतु उसका निर्वाह वह स्नेह से प्रेरित होकर करता था; पुत्री का सुख या हित उसकी आंखों से कभी ओझल नहीं होता था।

यही नहीं, कुमारी कन्याओं को मांगलिक तथा उनकी उपस्थिति को शुभ शकुन माना जाता था। सुंदर और सुसज्जित कन्याओं का दिखाई पड़ना और उनके द्वारा स्वागत-सत्कार किया जाना सफलता और सौभाग्य का चिह्न था। इसीलिए जब राम ने वन से लौटकर अयोध्या में प्रवेश किया तब कुमारी कन्याएं उनके आगे-आगे चली थीं (**कन्याः...रामस्य पुरतो ययुः**, ६।१२८।३८)। धार्मिक एवं सार्वजनिक व्रत-उत्सवों में अविवाहित कन्याओं की उपस्थिति से अवसर की मांगलिकता में अभिवृद्धि होती थी। राम के यौवराज्याभिषेक के समारोह में आठ सुंदर कन्याएं भी समाविष्ट थीं (**अष्टौ च रुचिरा कन्याः**, २।१४।३६)। उनके राज्याभिषेक में कन्याओं ने उनपर जल छिड़का था (६।१२८।६२)। जिस घड़ी में जनक ने सीता को पुत्री के रूप में ग्रहण किया, तभी से उनके यहां सुख-समृद्धि की अतिशय वृद्धि होने लगी थी।[२] कन्या-दान पिता के लिए एक पुण्योत्पादक कर्म था; पुत्री के लिए वर प्राप्त करना पिता का धार्मिक एवं अनिवार्य कर्तव्य था (१।७२।१५)।

रामायण के प्रमुख स्त्री-पात्रों की समीक्षा से यह स्पष्ट है कि विवाह से पूर्व उन्हें अपने घरों में समुचित शिक्षा मिल चुकी होगी। क्योंकि उन्हें सभी धार्मिक कृत्यों में अकेले या पति के साथ संमिलित होना पड़ता था, अतः उन्हें विवाह से पहले ही वैदिक और स्मार्त क्रिया-कल्पों की तथा उनमें प्रयुक्त होनेवाले मंत्रों की शिक्षा दे दी जाती थी। राम के यौवराज्याभिषेक के दिन कौसल्या अग्नि में मंत्रों-

---

१. **किं नु वक्ष्यामि धर्मज्ञं राजानं सत्यवादिनम्। जनकं पृष्टसीतं तं कुशलं जनसंसदि॥** ४।१।१।१०६

२. **अवाप्तो विपुलामृद्धिं मामवाप्य नराधिपः॥** २।११८।३२

सहित आहुति दे रही थीं।[1] सीता को संध्योपासन में तत्पर बताया गया है (५।१४।४९), जबकि तारा मंत्रों की जानकार थी (मंत्रवित्, ४।१६।१२)।

कर्मकांड, की शिक्षा पाने के अतिरिक्त कन्याएं शास्त्रों, स्मृतियों और पुराणों का भी पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करती थीं। वह ज्ञान उन्हें अपने माता-पिता, ब्राह्मणों, अभ्यागतों तथा ऋषि-मुनियों से मिलता था। इस प्रकार मिलनेवाली उनकी शिक्षा सर्वांगीण होती थी। सीता अपने पिता के घर में ऋत्विजों, ब्राह्मणों, ज्योतिषियों और विद्वानों के संपर्क में आने के कारण पारंपरिक ज्ञान की अनेक शाखाओं में पारंगत थीं। अपने समय के पौराणिक ज्ञान में वह विचक्षण थीं।[2] कैकेयी और तारा ने भी शास्त्र-ज्ञान का विशद परिचय दिया है।

कन्याओं को व्यावहारिक और नैतिक शिक्षा भी दी जाती थी। उन्हें पत्नी-विषयक कर्तव्यों का सुचारु रूप से बोध कराया जाता था। सीता को, जैसाकि उन्होंने राम के साथ वन चलने का आग्रह करते समय कहा था, अपने माता-पिता से पत्नी के कर्तव्यों की समुचित शिक्षा मिल चुकी थी।[3] उन्होंने वहीं सदाचार और संयम का अभ्यास कर लिया था तथा सुख-दुःख को समान समझकर हर परिस्थिति में प्रसन्न रहने की शक्ति प्राप्त कर ली थी। राजकुमारियों को राजधर्म की भी शिक्षा दी जाती थी, जिससे वे अपने राजकीय पतियों की सच्ची सहयोगिनी बन सकें। युवराज-पत्नी होने के नाते सीता राजधर्म की जानकार थीं (अभिज्ञा राजधर्माणाम्, २।२६।४)। कई कन्याओं को संगीत, नृत्य आदि ललित कलाओं की भी शिक्षा दी जाती थी। रावण के अंतःपुर की रमणियां वाद्य यंत्रों के प्रयोग में प्रवीण थीं (५।१०।३७-४९)।

देवासुर-संग्राम में कैकेयी का अपने पति के साथ जाना यह सिद्ध करता है कि लड़कियां सैनिक-शिक्षा से भी वंचित नहीं रखी जाती थीं। घोर युद्ध में अस्त्र-

---

१. सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा। अग्निं जुहोति स्म तदा मंत्रवत्कृतमंगलम्॥ २।२०।१५

२. २।२९।८-९; ६।४८।२; २।२९।१७; २।३०।६; ५।२४।९-१२; ६।११३।४१; ३।६।१३-२३

३. अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्। नास्मि संप्रति वक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया॥ २।२७।१०

शस्त्रों से जब महाराज का शरीर जर्जर हो गया और उनकी चेतना लुप्त हो गई, तब कैकेयी ने युद्ध-भूमि से दूर ले जाकर उनके प्राण बचाये थे (२।६।१५-६)। इससे सूचित होता है कि वह रथ-संचालन तथा प्राथमिक चिकित्सा से भी अवगत थी। शरीर से बलिष्ठ स्त्रियों का उन दिनों अभाव नहीं था। दशरथ के अश्वमेध-यज्ञ में अश्व की बलि चढ़ाने का काम रानी कौसल्या के सुपुर्द था; उन्होंने तलवार के तीन वार करके घोड़े का शिरोच्छेदन किया था।[1] सचमुच वह एक शक्तिमती वीर क्षत्राणी रही होंगी। लंका में स्त्रियों से सशस्त्र पहरेदारों का काम लिया जाता था। सीता की राक्षसी पहरेदारिनें शस्त्रधारिणी महिला सैनिक थीं।

अपने कौमार्य-काल में कन्याएं पर्दे-जैसे नियंत्रण अथवा अतिशय औपचारिकता के बंधनों से मुक्त रहती थीं। नगर के उद्यानों में वे आभूषणों से सुसज्जित होकर सायंकाल के समय समूहों में क्रीड़ा करने जाया करती थीं।[2] कुशनाभ-कन्याओं के आख्यान से यह ज्ञात होता है कि उन्हें बाहर घूमने-फिरने की स्वच्छंदता प्राप्त थी। वस्त्राभूषणों से सजी हुई वे रूपवती युवती कन्याएं जब गाती-बजाती और नृत्य करती हुईं, शरत्कालीन विद्युत् के समान, वाटिका में पहुंचतीं, तब वायु-जैसे अलौकिक (उच्चपदस्थ) व्यक्ति भी मोहित हो उठते थे (१।३२)।

विवाह होने के बाद पितृ-गृह से पति-गृह आनेवाली कन्या 'वधू' का पद प्राप्त करती थी (उह्यते पितृगृहात् पतिगृहम् इति वधूः)। नवविवाहिता होने के कारण वह पति के परिवार में कुछ समय के लिए अजनबी बनी रहती थी। अतः नये वातावरण से अभ्यस्त होने में उसे सप्रयास तत्पर हो जाना पड़ता था। परिवार के अन्य सदस्यों का स्नेहपूर्ण व्यवहार इसमें उसका सहायक होता था। विशेष रूप से सास अपनी अनुभवहीन पुत्रवधू को इस विषय में भली भांति शिक्षित करती थी कि असाधारण परिस्थितियों में पति के साथ कैसा वर्ताव करना चाहिए। (२।११९।७)

---

१. कौसल्या तं हयं तत्र परिचर्य समन्ततः। कृपाणैर्विशशासैनं त्रिभिः परमया मुदा॥ १।१४।३३

२. उद्यानानि समागताः। सायाह्ने क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः॥ २।६७।१७; २।६०।९-१०, ७।२।१०-१ भी देखिये।

रामायण में सास-ससुर और पुत्र-वधू के बीच नितांत स्नेहसिक्त संबंध चित्रित हुए हैं। दशरथ और कौसल्या का अपनी पुत्र-वधू सीता के प्रति हार्दिक और निश्छल स्नेह था। यह स्नेह राम के साथ सीता के वन जाते समय अतिशय चारु एवं मार्मिक रूप में प्रकट हुआ है।

जहां तक पति के प्रति व्यवहार का प्रश्न है, वाल्मीकि ने पत्नी की ऐकांतिक निष्ठा और सेवा-भावना का ही बारंबार आग्रह किया है; और यह इसलिए कि 'पति ही पत्नी की एकमात्र शरण है (**गतिरेका पतिर्नार्याः**) उसके बिना वह जीवित रहने में भी समर्थ नहीं है। लोक और परलोक दोनों में पिता, पुत्र, माता, सखियां, आत्मा कोई भी नारी का अपना नहीं है, मात्र पति उसका एक सहारा है। जैसे बिना तार के वीणा नहीं बज सकती और पहिए के बिना रथ नहीं चल सकता, वैसे ही पति के बिना स्त्री को सुख नहीं मिल सकता, चाहे उसके सौ पुत्र भी क्यों न हों। पिता, माता, भाई, पुत्र-वधू, ये सब अपने पुण्य कर्मों का फल भोगते हुए अपने-अपने भाग्य को प्राप्त करते हैं, केवल पत्नी अपनी पति के भाग्य को प्राप्त करती है। पति आभूषणों से भी अधिक पत्नी की शोभा-वृद्धि करता है (२।६१।२४; २६।७; २७।४-६; ३६।२६; ५।१६।२६)।'

महाराज दशरथ को छोड़कर पुत्र के साथ वन चलने को उद्यत माता कौसल्या को राम ने जो उपदेश दिया था, उसमें तत्कालीन स्त्री-धर्म का आदर्श प्रस्फुटित हुआ है (२।२४)। पत्नी के लिए उसका पति ही देवता, गुरु, सुहृद्, गति, धर्म, प्रभु और सर्वस्व है। अतः उसकी सर्वतोभावेन भक्ति ही पत्नी का एकमात्र कर्तव्य है। सुख-दुःख में जीवन के उतार-चढ़ावों में पत्नी को पति की अनुगामिनी बनना चाहिए। ऊंचे-ऊंचे महलों में रहना, विमानों पर चढ़कर घूमना अथवा अणिमा आदि सिद्धियों द्वारा आकाश में विचरना, इन सबकी अपेक्षा स्त्री के लिए किसी भी अवस्था में पति के चरणों की छाया में रहना विशेष महत्त्व रखता है।...पिता, भाई और पुत्र—ये परिमित सुख प्रदान करते हैं, किंतु पति अपरिमित सुख का दाता है। अतः ऐसी कौन स्त्री है, जो अपने पति का सत्कार नहीं करेगी?... स्वामी का त्याग स्त्री के लिए बड़ा क्रूरतापूर्ण कार्य है, सती-साध्वी नारियों के लिए वह अकल्पनीय है। जाति और गुणों से उत्तम तथा व्रत-उपवास आदि में तत्पर होने पर भी जो नारी अपने पति की सेवा नहीं करती, उसे पापियों की ही गति मिलती है। देवताओं की पूजा और वंदना से दूर रहकर भी जो स्त्री अपने स्वामी की सेवा में

लगी रहती है, उसे उत्तम स्वर्गलोक की प्राप्ति होती है। अतः नारी को अपने पति के प्रिय और हित में संलग्न रहकर सदा उसीकी सेवा करनी चाहिए। यही स्त्री का लोक और वेद में प्रसिद्ध सनातन धर्म है, इसीका श्रुतियों और स्मृतियों में भी वर्णन है (२।२७।९; ३९।३०; २४।१२, २६-८)।

तत्कालीन समाज पत्नी से कठोर अनुशासन एवं आत्म-त्याग की अपेक्षा रखता था। उसे पति के अवगुणों को आंखों से सर्वथा ओझल करके उसकी निःस्वार्थ सेवा करनी होती थी। अनसूया के अनुसार, 'अपने स्वामी नगर में रहें या वन में, भले हों या बुरे, जिन स्त्रियों को वे प्रिय होते थे, उन्हें महान् अभ्युदयशाली लोकों की प्राप्ति होती है। पति बुरे स्वभाव का, मनमाना बर्ताव करनेवाला अथवा धनहीन ही क्यों न हो, उत्तम स्वभावशाली नारियों के लिए वह श्रेष्ठ देवता के समान है (२।११७।२३-४)।' सीता ने भी इस दृष्टिकोण को सर्वथा अंगीकार किया था—"मेरे पतिदेव यदि अनार्य और चरित्रहीन होते तो भी मैं विना किसी दुविधा के उनकी सेवा में लगी रहती। फिर जब वह अपने गुणों के कारण सबकी प्रशंसा के पात्र हैं, दयालु और जितेंद्रिय, स्थिर अनुरागवाले, धर्मात्मा तथा माता-पिता की तरह प्रिय हैं, तब तो उनकी सेवा में क्या दुविधा हो सकती है? स्त्री के लिए पति की सेवा से बढ़कर दूसरा कोई तप नहीं है (२।११८।२-९)।"

पतिव्रता एवं साध्वी नारियों की स्तुति से रामायण भरी पड़ी है। देवराज की पत्नी शची अपने पातिव्रत्य के लिए प्रख्यात है। इसी प्रकार एक मुहूर्त के लिए भी चंद्रमा से विलग न होनेवाली रोहिणी तथा सावित्री और दमयंती हैं, जिन्होंने विपत्ति के कड़े थपेड़ों में भी पति का त्याग नहीं किया। पतिव्रताओं में अग्रगण्य जिस नारी का रामायण में काव्यात्मक चमत्कार के साथ वर्णन हुआ है, वह तो रावण के चंगुल में पड़ी, सुवर्ण के समान दीप्तिमती, मलिन-वसना, दुःख-संतप्त, एकाग्र चित्त से राम के ध्यान में लगी हुई सीता हैं, जो पति-प्रेम के कारण ही सब प्रकार के भोगों को लात मारकर निर्जन वन में चली आई थीं और जिन्होंने राक्षस-राज के समस्त प्रलोभनों और प्रणय-प्रस्तावों को ठुकरा दिया था। यह दर्शनीय है कि सीता की पति-भक्ति विवाहोत्तर सुख-भोगों, वनवास के कष्टों, अपहरण के अपयश, राज्याभिषेक के गौरव और वैभव, तथा अंतिम परित्याग की मर्मांतक वेदना-जैसी उत्तरोत्तर विषम परिस्थितियों में भी अखंड और अविचल बनी रही। समस्त रामायण उस युग की इस आदर्शभूता महानारी का ही चरित्र-चित्रण है—

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत् (१।४।७)।

कुछ ऐसी स्त्रियों के भी उदाहरण मिलते हैं, जो पति के प्रति अनुरक्त रहने पर भी कभी-कभी आवेश में आकर खिन्नता या असंतोष प्रकट कर देती हैं। दशरथ की कैकेयी के प्रति पक्षपातपूर्ण प्रीति होने पर भी कौसल्या उनके प्रति पूर्ण भक्ति-समन्वित थीं, किंतु वह भी एक बार राम से दशरथ के क्रूर उपेक्षा-भाव की शिकायत कर बैठी थीं; राम के वन चले जाने के बाद कौसल्या ने पुत्र-शोक से पीड़ित होकर दशरथ पर, राम के प्रति अन्याय करने के कारण, आरोप-पर-आरोप लगाने आरंभ कर दिये थे, किंतु उनकी पातिव्रत्य की उदात्त भावना तब प्रकट होती है, जब दशरथ अंजलिबद्ध होकर उनसे क्षमा-याचना करते हैं। तब कौसल्या अपनी गलती अनुभव करती हैं और, अपने असमय दोषारोपण से लज्जित हो, विनयपूर्वक अपने अपराध के लिए क्षमा मांगती हैं, क्योंकि वह स्त्री, जिसके पति को उसकी अनुनय-विनय करनी पड़ती है, लोक-परलोक में कहीं प्रशंसा की पात्र नहीं बन सकती—

नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता।
उभयोर्लोकयोर्लोके पत्या या सम्प्रसाद्यते ॥ २।६२।१३

अडिग पति-भक्ति पत्नी में ऐसा आत्म-विश्वास उत्पन्न कर देती थी कि दुष्टों के चक्र में पड़कर भी वह अपने सतीत्व की रक्षा करने में समर्थ हो जाती थी। घर में अकेली छोड़ दिये जाने पर भी वह अपने 'चारित्र' के बल पर सुरक्षित रहती थी।[1] अपने चरित्र पर ज़रा-सा आक्रमण भी पतिव्रता नारी के समस्त आक्रोश, तेज, प्रतिरोध-शक्ति तथा अदम्य उत्साह के विस्फोटन के लिए पर्याप्त था। सीता सौम्य और सुकुमार थीं, ज्योत्स्ना-सी स्वप्निल और मृदुल, किंतु सतीत्व-रक्षा का प्रश्न आने पर वह भी एक निर्भीक वीरांगना का रूप धारण कर लेती थीं। पातिव्रत्य के प्रभाव से सुरक्षित सीता पर रावण को बलात्कार करने का साहस कभी नहीं होता था।[2] रावण के साथ सीता ने सदा घोर घृणा, उपेक्षा और तिरस्कार का व्यवहार किया (३।४७।३७, ४२-४)। उनका तेज ही रावण को हतप्रभ करने के लिए पर्याप्त था; केवल राम की आज्ञा के अभाव में और

---

१. वसन्त्यपि गृहेष्वेव दाराश्चारित्ररक्षिताः ॥ २।४५।२५
२. इमामपि विशालाक्षीं रक्षितां स्वेन तेजसा। रावणो नातिवर्तेत वेलामिव महोदधेः ॥ ६।११८।१६; ३।३७।१४ भी देखिये।

अपनी तपस्या को नष्ट करने के विचार से वह उसे भस्म नहीं कर रही थीं।[1]

पतिपरायणा स्त्रियों का अपहरण करनेवाले की दुर्गति निश्चित मानी जाती थी। मंदोदरी का विश्वास था कि पतिव्रता सीता की तपस्या ने ही रावण को नष्ट किया था; सीता का अपहरण करते समय ही वह जलकर खाक नहीं हो गया, यही आश्चर्य की बात थी। गुरुजनों की सेवा में लगी रहनेवाली, धर्मपरायणा तथा पतिव्रता कुल-ललनाओं को विधवा बनाकर और उन्हें अपमानित कर रावण ने अपने ही सर्वनाश को आमंत्रित किया था। सच है, पतिव्रताओं के आंसू पृथ्वी पर व्यर्थ नहीं गिरते—**पतिव्रतानां नाकस्मात्पतन्त्यश्रूणि भूतले** (६।१११।६७)।

जिस प्रकार पत्नी से पतिपरायणा होने की अपेक्षा की जाती थी, उसी प्रकार पति से भी यह आशा की जाती थी कि वह अपनी पत्नी का परित्याग न करे। सच्चरित्र, अनुरक्त, पतिप्राणा, सुख-दुःख में समान रूप से साथ देनेवाली पतिव्रता पत्नी का त्याग कैसे किया जा सकता है! वीरों के लिए, शास्त्र-वेत्ताओं के लिए पत्नी का त्याग अनुचित और अपयशकारी है। अन्याय से त्यागी गई पत्नी के लिए मृत्यु के अतिरिक्त अन्य क्या विकल्प हो सकता है! (२।२६।१६-२०; २७।३; ३०।२०)

किंतु रामायण में दुष्ट पत्नी के परित्याग की अनुमति दी गई है। ऐसी परित्यक्ता स्त्रियों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। पहला वर्ग उन स्त्रियों का है, जो अपनी दुश्चरित्रता के कारण पति द्वारा त्याग दी जाती हैं तथा एक निश्चित अवधि तक प्रायश्चित्त करने के बाद पुनः ग्रहण कर ली जाती हैं। ऐसा उदाहरण गौतम-पत्नी अहल्या का है (१।४८-९), जिसने देवराज इंद्र के साथ गुप्त रूप से रमण किया था। गौतम के वेश में आने पर भी इंद्र को अहल्या ने पहचान लिया था, पर 'दिव्य-रति' का लोभ-संवरण वह न कर सकी। इस प्रकार वह जान-बूझकर व्यभिचार करने की अपराधिनी थी। उसकी इस चंचलता को फटकारते हुए गौतम ने उसे आश्रम से निकल जाने को कहा। उसके अनुनय-विनय करने पर गौतम ने इस शर्त पर उसे पुनः ग्रहण करना स्वीकार कर लिया कि वह एकांत में रहकर दीर्घ काल तक प्रायश्चित्त-रूप तपस्या करे और कोसल-राजकुमार उसे

---

१. **असन्देशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात्। न त्वां कुर्मि दशग्रीव भस्म भस्मार्ह-तेजसा॥** ५।२२।२०

निष्कलंक मानकर उबार लें। तब अभिशप्ता अहल्या ने, लोगों की दृष्टि से दूर रहकर, अनुताप और तपस्या में अनेक वर्ष व्यतीत किये। विश्वामित्र के साथ राम के आने पर अहल्या ने उनका विधिवत् अतिथि-सत्कार किया। उसकी अभ्यर्चना को स्वीकार करके राम ने अहल्या की समाज में पुनः प्रतिष्ठा का मार्ग खोल दिया। शाप-मुक्त और तपःपूत होने पर अहल्या का अपने पति से पुनः समागम हुआ।

इसी वर्ग में सीता का उदाहरण भी रखा जा सकता है, जिनको राम ने लंका-विजय के बाद अंगीकार करने से इन्कार कर दिया था। यह परित्याग सीता के चरित्र में आशंका-मात्र से प्रेरित हुआ था और लोकापवाद का भय ही उसका जनक था। अग्नि-शुद्धि के बाद राम ने उनको मुक्त हृदय से स्वीकार कर लिया था।

इससे दूसरे और कहीं अधिक बड़े वर्ग में वे स्त्रियां आती हैं, जिनका उनके पति सदा के लिए परित्याग कर देते हैं और अंत समय तक जिनके साथ उनका समझौता नहीं हो पाता। सुमंत्र ने कैकेयी को उनकी माता की कहानी सुनाई थी, जिसने अपने पति केकयराज के प्रति निपट स्वार्थपरायण और पत्नी के लिए सर्वथा अशोभनीय व्यवहार किया था और इसी कारण जिसके पति ने निःशंक हो उसे छोड़ दिया था (२।३५)। ऐसा ही उदाहरण स्वयं कैकेयी का भी है, जिसके साथ दशरथ ने अपना विवाह-संबंध विच्छिन्न कर लिया था। जब कैकेयी ने दशरथ पर यह आरोप लगाकर कि आप अपने दिये वचनों से विमुख हो रहे हैं, राम को वन भेजने की अपनी मांग तीन बार दुहराई, तब दशरथ ने आगबबूला होकर उससे यह स्पष्ट कह दिया—"ओ पापिनी, मैंने अग्नि के समीप मंत्र-पाठ करके तेरे जिस हाथ को पकड़ा था, उसे आज छोड़ रहा हूं। साथ ही तेरा और अपने से जाये तेरे पुत्र का भी त्याग करता हूं।"[1] कहा जा सकता है कि यह घोषणा एकांत कोप-भवन में की गई थी, अतः वाल्मीकि ने इस आशय के अधिक व्यापक और दारुण शाप को एक सार्वजनिक स्थान और अवसर के लिए रख छोड़ा है। जब वन की ओर जाते हुए राम के रथ की धूल दशरथ को दिखाई देनी बंद हो गई, तब वह

---

१. यस्ते मन्त्रकृतः पाणिरग्नौ पापे मया धृतः। सन्त्यजामि स्वजं चैव तव पुत्रं सह त्वया॥ २।१४।१४

शोकार्त होकर धरती पर गिर पड़े। उस समय उन्हें सहारा देने के लिए कौसल्या के साथ कैकेयी भी आ पहुंची थी। उसे देखते ही राजा की समस्त इंद्रियां व्यथित हो उठीं और वह कहने लगे—"कैकेयी, तेरे विचार पापपूर्ण हैं, तू मेरे अङ्गों में हाथ न लगा, मैं तुझे देखना नहीं चाहता। तू न तो मेरी स्त्री है और न संगिनी ही। तूने धन में आसक्त होकर धर्म को त्यागा है, अतः मैं तेरा परित्याग करता हूं। अग्नि को साक्षी देकर मैंने तेरा जो पाणिग्रहण किया है, तेरे साथ अग्नि की जो प्रदक्षिणा की है, लौकिक सुख और पारलौकिक कल्याण के लिए उसका जो महत्त्व है, वह सब मैं त्याग देता हूं (२।४२।६-६)।" अपनी इस प्रतिज्ञा को संतप्त राजा ने एकनिष्ठ होकर मरते दम तक निभाया। अंतिम क्षण उन्होंने कौसल्या के साथ ही बिताये, अभागी कैकेयी का राजा से उनकी मृत्यु-पर्यंत समझौता न हो सका। रावण के वध पर जब दिवंगत महाराजा दशरथ, महेश्वर के अनुग्रह से, राम के समक्ष प्रकट हुए, तब राम ने उनसे कैकेयी के परित्यागवाली अपनी प्रतिज्ञा लौटा लेने के लिए कहा था और दशरथ ने 'एवमस्तु' कहकर उनकी बात मान ली।

इस प्रकार कवि चाहता है कि दशरथ और कैकेयी के संबंध-विच्छेद की घटना को पाठक गंभीरतापूर्वक ग्रहण करें, उसे क्षणिक आवेश में कह दी जानेवाली उक्ति-मात्र न मानें। दशरथ के शाप देने से पहले कवि ने जिन शब्दों[1] का प्रयोग किया है, उनसे भी यह स्पष्ट है कि कैकेयी-त्याग की इस घटना को वह उचित एवं न्याय-संगत मानता है।

नैतिक गुणों के अतिरिक्त आदर्श पत्नी में शारीरिक आकर्षण की भी अपेक्षा की जाती थी। पत्नी के मनोहर स्मित, हाव-भाव और कटाक्ष, तथा वाणी-माधुर्य उसे पति के समस्त अनुराग का भाजन बना देते हैं। वाल्मीकि का युग सुंदरियों का युग था। सीता, कैकेयी, अहल्या, रंभा, मेनका, हनुमान् की माता अंजना, तारा, मंदोदरी आदि उस युग की सुप्रसिद्ध सुंदरियां थीं, जिनका विस्तार से वर्णन कर वाल्मीकि ने आदर्श स्त्री-सौंदर्य का एक स्पष्ट चित्र उपस्थित कर दिया है।

---

१. तां नयेन च सम्पन्नो धर्मेण विनयेन च। उवाच राजा कैकेयीं समीक्ष्य व्यथितेन्द्रियः ॥ २।४२।५

एक सर्वांगसुंदर नारी-रूप जगत् की परम दुर्लभ वस्तु है (सर्वांगी सर्वरम्यो हि कश्चिल्लक्ष्ये प्रजायते)। यद्यपि सामान्यतः समस्त स्त्रियों के शरीर की बनावट में, उनके अंग-प्रत्यंग में, एकरूपता पाई जाती है, तथापि किसी भी एक नारी-रूप को सभी के लिए आदर्श या उपमान नहीं कहा जा सकता। सघन कुंतल, रोमहीन मुखमंडल, उरोज-युग्म तथा लचीली सुकुमारता, ये शारीरिक विशेषताएं लगभग सभी स्त्रियों में समान होने पर भी, सूक्ष्म एवं कलात्मक दृष्टि से देखने पर, उनमें न्यूनाधिक अंतर, आकर्षण या अनाकर्षण, सहज ही दीख पड़ेगा। इसी कारण कवि ने किसी विशिष्ट नारी के रूप को स्त्री-सौंदर्य की कसौटी नहीं माना है। इसके विपरीत प्रकृति या पशु-जगत् में इतनी विभिन्नता नहीं देखी जाती। पशुओं या पेड़-पौधों में आंगिक समानता के अधिक दर्शन होते हैं। एक ही नस्ल के दो पक्षियों या पशुओं अथवा एक ही पेड़ के दो पौधों में विशेष रूप-भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। एक मुर्गी के अंडों में वही स्निग्धता और वही व्यवस्थित गोलाई मिलेगी, जो किसी भी अन्य मुर्गी के अंडों में होगी। एक पीपल के पत्ते में वैसा ही त्रिकोण और लहरदार पैना छोर मिलेगा, जैसा किसी अन्य पीपल के पत्ते में। मानव स्त्री-पुरुषों में ऐसी एकरूपता का

चित्र ६—धनुष-जैसा मस्तक

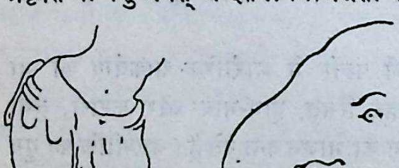

चित्र ७—गजनासोरु

प्राय: अभाव होता है। संभवतः इसी कारण वाल्मीकि ने एक नारी के अंग-प्रत्यंग की तुलना किसी अन्य नारी के अंग-उपांग से न कर पुष्पों-पल्लवों से पशु-पक्षियों के अंगों से अथवा प्रकृति की विविध छटाओं से की है। इसका साक्ष्य रामायण में निर्दिष्ट नारी का निम्नलिखित स्वरूप-वर्णन है।

आदर्श सुंदरी की आयु यौवन की दोपहरी में (श्यामा, ३।३१।२६) और सुकुमारता लिये हुए होनी चाहिए। उसकी शरीर-यष्टि इकहरी (तन्वी, ५।५।२३)

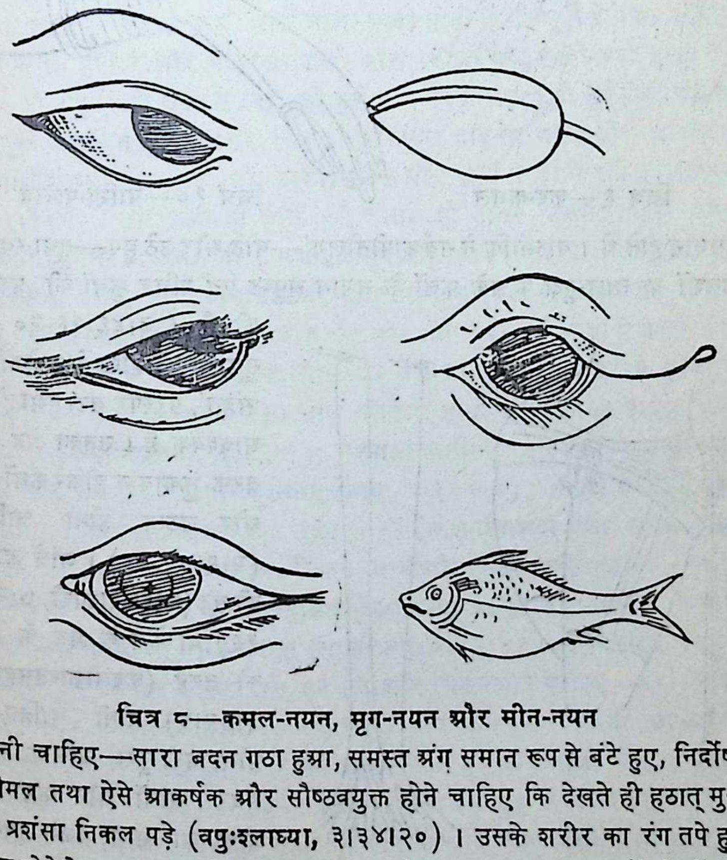

चित्र ८—कमल-नयन, मृग-नयन और मीन-नयन

होनी चाहिए—सारा बदन गठा हुआ, समस्त अंग समान रूप से बंटे हुए, निर्दोष, कोमल तथा ऐसे आकर्षक और सौष्ठवयुक्त होने चाहिए कि देखते ही हठात् मुख से प्रशंसा निकल पड़े (वपुःश्लाघ्या, ३।३४।२०)। उसके शरीर का रंग तपे हुए शुद्ध सोने के समान चमकदार (तप्तकांचनवर्णाभा, ३।३४।१७) या वृक्षों की कोंपलों

के समान हलकी लाली लिये (तरुप्रवालरक्ता, ३।५२।३०) होना चाहिए। सुंदरी की बांहें मांसल, गोलाकार और पत्तों के समान कोमल तथा पीठ रथ के कूबर (डंडे) के समान सुंदर होनी चाहिए (रथकूबरसंकाशैः, ७।२४।८)। मनोरम नाभि से सुशोभित पतला पेट सुंदरता की निशानी था। स्तन तो सौंदर्य के

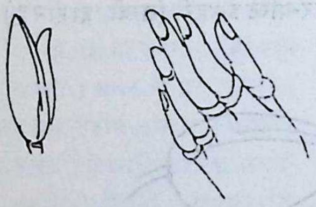

चित्र ९—कर-कमल

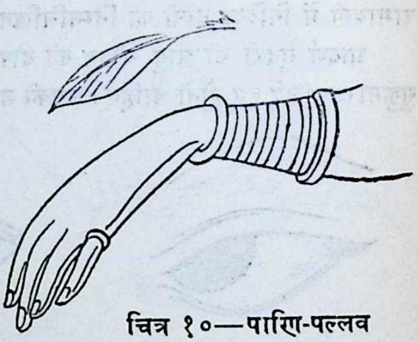

चित्र १०—पाणि-पल्लव

आधान होते थे। वाल्मीकि ने सर्वत्र 'पीनोत्तुंग'—मोटे और उठे हुए—तथा स्वर्ण-कलशों या ताल-वृक्ष के पके फलों के समान सुपुष्ट एवं रुचिर कुचों की प्रशंसा की है (३।४६।१९-२०)। सुंदरता की दृष्टि से उरोजों का 'संहत', परस्पर सटा हुआ होना आवश्यक है। उनका पेट की तरफ झुकाव न होकर कंधों की ओर उठाव होना चाहिए (२।६।४२,४४)। जांघें हाथी की सूंड (करिकराकारौ, ७।२६।१९) या केले के पेड़ के तने की तरह (कदलीकाण्डसदृशौ, ३।६२।४) होनी चाहिए—गोल, भरी-पूरी, बलिष्ठ और सुंदर। जांघों और कमर के बीच का भाग, जिसे नितंब कहते हैं, कड़ा, भरा, फूला,

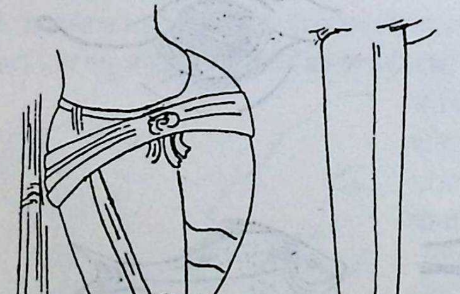

चित्र ११—कदली-प्रतिस्पर्धी जघन

चौड़ा, उठा हुआ, सुरूप, विस्तीर्ण और रोम-रहित होना चाहिए। मनोहर, मतवाली, स्वच्छ और विशाल आंखें सुंदरता सूचक मानी गई हैं। उनके कोने लाली लिये हुए (रक्तांत) तथा चितवनें लंबी हों। आंखों की पुतलियां काली ही अच्छी मानी गई हैं (कृष्णतारके, ३।४६।१८) जबकि पलकें सुंदर, काली, पतली और घनी होनी चाहिए। वाल्मीकि ने आंखों की तुलना कमल, हरिण, मछली और मदिरा से की है। कमलनयनी के नेत्रों में एक प्रकार की गंभीर शांति का भाव पाया जाता है, मृगनयनी की आंखें भोली-भाली होती हैं, मीनाक्षी के नयन मछली-जैसे चंचल होते हैं और मदिरेक्षणा की आंखें नशीली और मस्ती-भरी होती हैं। भौंहें दो धनुषों की तरह सुंदर, मुड़ी हुई और कानों तक फैली हुई होनी चाहिए (**भ्रुवौ चापनिभे शुभे**, ७।२६।१८)। मुख-मंडल चांद-सा सुंदर और चमकदार (**शशिनिभम्**, ७।२६।१८) हो, वेदाग, स्वच्छ और घावों-फोड़ों से रहित (**अव्रणम्** ४।१।१०९)। उसे देखते ही आंखें जैसे शीतल हो जायं—उसमें से जैसे कमल की-सी सुगंध निकलती हो (**पद्मोत्पलसुगंधिन्**, ७।२६।२३)। नाक उठी हुई (**उन्नसम्**, ६।१२।१६), ललाट केशों की लटों से अलंकृत (**सुकेशान्तम्** ३।५२।१९) तथा स्वर मधुर हो। सुंदर, सुडौल और कोमल पैर, जो पृथ्वी से अच्छी तरह सट जाते हों और जिनके तलवे लाल और नख तांबे-जैसे हों, सुंदरी के आकर्षण में वृद्धि करते हैं (६।१२।५५)। चाल मतवाले हाथी के समान अलसाई हुई होनी चाहिए (**अलसगामिनी**, ६।१२।१३; **मत्तमातंगगामिनी**, ७।९।२२)। बाल काले, लंबे और घुंघराले हों (**नीलकुंचितमूर्धजाम्**, ६।११८।३); उनकी बंधी हुई वेणी काले नाग के समान जघनों तक लटकती हो (**नीलनागाभया वेण्या जघनं गतयैकया**, ५।१५।२४)। होंठ गीले, चिकने, लाल और लुभावने होने चाहिए। उनकी उपमा बिंबाफल से दी गई है (**बिम्बफलोपमोष्ठम्**, ५।२९।७)। तांबे का वर्ण भी होंठों के लिए आदर्श माना गया है (**ताम्रौष्ठम्**, ३।५२।२१)। दांत सफेद, चमकते, निर्मल, पैने, समान आकारवाले, सटे हुए और चिकने होने चाहिए। हाथ पल्लवों-जैसे नरम (**पल्लवकोमलौ**, ७।२६।१९) और कमल-दल की-सी आभावाले, अंगुलियों के नख उठे हुए, आगे की ओर निकले हुए और लाली लिये हुए (**रक्ततुंगनखी**, ३।३४।१७) तथा कमर इतनी पतली कि मुट्ठी से भी पकड़ी जा सके (**करान्तमितमध्या**, ३।४६।२२)। गर्दन नरम और चंदन-जैसी पीली तथा कद मंझला हो।

किंतु पत्नी के रूप और यौवन का यह समस्त आकर्षण तभी पूर्ण और सार्थक हो सकता है, जब उसका हृदय उदार और स्वभाव भी सुंदर हो। सच तो यह है कि पत्नी का सारा शारीरिक संमोहन, उसके सारे शृंगार और प्रसाधन, उसके सर्वोत्कृष्ट भूषण पति के अभाव में निस्सार और निष्प्रभाव हो जाते हैं। पति-प्रेम ही स्त्री का एकमात्र शृंगार है। अतएव शारीरिक सौंदर्य के साथ-साथ अपनी गुणावली से भी पति के सुख-संतोष में अभिवृद्धि करना आदर्श पत्नी की कसौटी है। अपनी सुशीलता एवं मनस्विता के सहारे उसे पति का पूर्ण विश्वास-भाजन बनने का प्रयास करना चाहिए। पत्नी को 'प्रियंवदा' और 'मृदुभाषिणी' होना चाहिए—उसे सदा मुस्कराकर बोलना चाहिए (**सुस्मितभाषिणी**, ५।१६।२१)। पति-शुश्रूषा ही उसका सर्वोपरि धर्म है। पति के प्रति उसे किसी प्रकार के अनुचित या अप्रिय व्यवहार का दोषी नहीं बनना चाहिए। वाल्मीकि ने राम और सीता की झांकी चित्रित करते समय राम को तो स्वर्ण-शय्या पर आसीन और सीता को उनके पास खड़ी चंवर डुलाते हुए दिखाकर पत्नी की विनम्रता, सेवा-भावना एवं प्रगाढ़ अनुरक्ति को मानो साकार रूप प्रदान कर दिया है (२।१६।१०)।

पति के प्रवास में होने पर स्त्री को विशेष विधि-नियमों का पालन करना पड़ता था। पति द्वारा निर्दिष्ट आदेशों का पालन पत्नी से नितांत अभिप्रेत था। प्रातःकाल जल्दी उठकर, स्नानादि से निवृत्त हो, उसे देव-पूजा में संलग्न रहना चाहिए। व्रत, उपवास और सत्य का पालन करना उसका प्रधान कार्य होना चाहिए। उसे सादा और स्वल्प वेश धारण करना चाहिए; शृंगार, आमोद-प्रमोद या खान-पान में उसे कोई आसक्ति नहीं रखनी चाहिए।[1] 'प्रोषितभर्तृका' (पति से विलग) पत्नी केवल एक वेणी धारण करती, प्रार्थना और व्रत-नियमों से अपनेको बांधे रखती तथा एक तपस्विनी का जीवन व्यतीत करती थी। पति की स्मृति में ही उसके समस्त विचार केंद्रित रहते थे—उत्सुकता और व्यग्रता से वह पति के लौटने की अहर्निश बाट जोहती रहती थी। पति के अतिरिक्त उसका कोई परमेश्वर नहीं होता था। क्षमा का आचरण, पृथ्वी पर शयन, नियमों का पालन, स्वधर्म का अनुसरण तथा पतिव्रता के आदर्शों का अनुगमन करने में ही उसका जीवन-यापन होता था (५।२८।१२)।

---

१. तुलना कीजिये—न रामेण वियुक्ता सा स्वप्तुमर्हति भामिनी। न भोक्तुं नाप्यलंकर्तुं न पानमुपसेवितुम्॥ ५।११।२

किसी भी पर-पुरुष के संपर्क में, चाहे वह देवराज इंद्र ही क्यों न हो, उसे नहीं आना चाहिए। जब सीता से हनुमान् ने अपनी पीठ पर बैठाकर राम के पास तुरंत ले चलने का प्रस्ताव किया, तब सीता ने उसे अपने और राम के संमान के लिए अनुपयुक्त समझकर विनयपूर्वक अस्वीकृत कर दिया (५।३७।६२-४)।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि वाल्मीकि ने गृह-कार्य में रत गृहिणी का कहीं वर्णन नहीं किया है। वह केवल इतना कहते हैं कि नववधू को अपने सास-ससुर के अधीन रहना चाहिए, उनका नित्य पादाभिवंदन करना चाहिए (२।२६।३०-३२)। पति के भाइयों के साथ अपने ही भाइयों या पुत्रों-जैसा व्यवहार करना चाहिए। सभीको अपने सुशील, मृदु तथा सेवापरायण बर्ताव से प्रसन्न रखने की चेष्टा करनी चाहिए (**आराधिता हि शीलेन प्रयत्नैश्चोपसेविताः**, २।२६।३५)।

विवाहित स्त्रियां पति की कल्याण-कामना से व्रतों और नियमों का अनुष्ठान करतीं तथा ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा देती थीं। अपने प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक के दिन जब दशरथ ने राम को बुला भेजा, तब सीता अपने पतिदेव को द्वार तक पहुंचाने आईं और उन्होंने देवताओं से उनके हितार्थ मंगल-याचना की (२।१६।२१-५)। वन में भी सीता ने गंगा और कालिंदी नदियों तथा न्यग्रोध वृक्ष की स्तुति की थी, जिससे उनके पति का वनवास निरापद हो सके और उसकी समाप्ति पर वह सकुशल स्वदेश लौट सकें।

संक्षेप में, वाल्मीकि ने आदर्श पत्नी का यही चित्र उपस्थित किया है—शारीरिक आकर्षणों और नैतिक गुणावली से अलंकृत। ऐसी पत्नी ही पति की सुख-समृद्धि की मूल भित्ति है—जीवन-यात्रा के एकाकी मानव-पथिक को यही सेवा और सहानुभूति का पाथेय प्रदान करती है। सीता-जैसी आदर्श भार्या अपने पति के समस्त हृदय और मस्तिष्क को अपनेमें केंद्रीभूत कर लेती है।[1] दशरथ के कथनानुसार, कौसल्या-सी आदर्श नारी में दासी, सखी, पत्नी, बहन और माता सबके एकत्र दर्शन किये जा सकते हैं।[2] वशिष्ठ ने पत्नी को पति की आत्मा बताया था—**आत्मा हि**

---

१. **तस्याश्च भर्ता द्विगुणं हृदये परिवर्तते। अन्तर्गतमपि व्यक्तमाख्याति हृदयं हृदा ॥ १।७७।२७-८**

२. **यदा यदा च कौसल्या दासीव च सखीव च। भार्यावद्भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति ॥ २।१२।६८-९**

दाराः सर्वेषां दारासंग्रहवर्तिनाम् (२।३७।२४)। इसलिए जबतक मनुष्य के पत्नी नहीं होती और वह उससे संतानोत्पत्ति नहीं करता, तबतक वह अपूर्ण बना रहता है; पत्नी और पुत्र से युक्त होने पर ही वह पूर्णत्व प्राप्त करता है।[1] पति के वश में रहनेवाली पुत्रवती भार्या के रूप में जीवन के धर्म, अर्थ और काम, इन परस्पर-विरोधी पुरुषार्थों का मधुर समन्वय हो जाता है[2]—अतिथि-पूजन, यज्ञ आदि में सहचरी बनकर वह धर्म में, मनोनुकूल होकर काम में और सुपुत्रवती होकर अर्थ में सहायक होती है।

अबतक ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह धारणा बन सकती है कि रामायणकालीन नारी को मात्र कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था और उसके अपने कोई अधिकार नहीं थे। ऐसी धारणा बनाना सर्वथा अनुचित होगा, क्योंकि स्त्रियों के अपने कुछ सुनिर्धारित अधिकार भी थे, जैसे भरण-पोषण का अधिकार, संपत्ति का अधिकार और वैवाहिक अधिकार।

पत्नी का सबसे बड़ा अधिकार और पति का सबसे बड़ा कर्तव्य था उसके भरण-पोषण की समुचित व्यवस्था। भारतीय भावनाओं के लिए यह एक अकल्पनीय बात रही है कि पत्नी अपने पति का भरण-पोषण करे। सीता ने भर्त्सनापूर्वक उन नटों (शैलूषों) का उल्लेख किया था, जो अपनी स्त्रियों के दुराचार से अर्जित धन पर जीवन-निर्वाह करते हैं।[3] जहां 'पति' का अर्थ पत्नी का संरक्षक और 'भर्ता' का अर्थ पत्नी का भरण-पोषण करनेवाला है,[4] वहां 'भार्या' का अर्थ पति के साधनों की व्यवस्था करके उसका संवर्धन करनेवाली है। इसलिए पत्नी का संरक्षण करना, उसकी सुख-सुविधा का ध्यान रखना, उससे स्नेह और प्रीतिपूर्ण व्यवहार करना, उसे प्रसन्न रखने के लिए सचेष्ट रहना, कामोपभोग से उसे परितुष्ट रखना, पुरुष

---

१. तुलना कीजिये—अप्राप्य सदृशान्दारानपत्यः प्रमीयताम्। अनवाप्य क्रियां धर्म्यां यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २।७५।३५; यथा सदृशदारेषु पुत्रजन्माप्रजस्य च। १।१८।५१

२. धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके समीक्षिता धर्मफलोदयेषु। ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा॥ २।२१।५७

३. शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि॥ २।३०।८

४. भार्याया भरणाद् भर्ता पालनाच्च पतिः स्मृतः।

का नैतिक कर्तव्य है। राम के साथ वन चलने का आग्रह करते हुए भी सीता उनसे भोजनादि की व्यवस्था करने की अपेक्षा रखती ही हैं।[1] पति के लिए इससे बढ़कर अशोभनीय बात और क्या हो सकती है कि वह स्त्री-पुत्रों की उपेक्षा करके घर में अकेले ही सुस्वादु भोजन का आस्वादन करे ?[2] चित्रकूट पर राम ने भरत से पूछा था—कच्चित् स्त्रियः सांत्वयसे कच्चित्तास्ते सुरक्षिताः (२।१००।४९); "क्या तुम अपनी स्त्रियों को संतुष्ट रखते हो ? क्या वे तुम्हारे द्वारा भली-भांति सुरक्षित हैं ?"

पुत्री के विवाह पर माता-पिता उसे जो कन्या-धन दिया करते थे, वह आधुनिक शब्दावली में उसका स्त्री-धन बन जाता था। इस धन या संपत्ति पर पत्नी का ही एकाधिकार रहता होगा। इसके अतिरिक्त, राजागण समय-समय पर अपनी रानियों को उपहार दिया करते थे, जिनपर बाद में उन रानियों का ही स्वत्व स्थापित हो जाता था। अपने राज्याभिषेक पर राम ने सीता को उत्तम मणियों से जड़ी हुई एक मोतियों की माला दी थी और यह माला सीता ने हनुमान् को, उनकी अविस्मरणीय सेवाओं के बदले, अर्पित कर दी (६।१२८।७७-९)। अपनी संपत्ति से होनेवाली आय को रानियां दान-दक्षिणा देने में व्यय करती थीं, क्योंकि उनकी निजी आवश्यकताएं उनके पतिगण पूरी कर ही देते थे। कौसल्या को अपने आश्रितों का पालन करने के लिए एक हजार गांव मिले हुए थे।[3] कौसल्या के पास स्त्री-धन की प्रचुरता थी; ब्रह्मचारी छात्रों के समूह-के-समूह उनके पास सहायता की याचना करने आया करते थे।[4] पति के देहावसान के बाद भी पत्नी का अपनी संपत्ति पर अधिकार सुरक्षित रहता था। पुष्पक विमान में सीता के साथ अयोध्या आनेवाली वानर-रमणियां दशरथ-पत्नियों की समृद्धि देखने को उत्सुक थीं।[5]

---

१. पत्रं मूलं फलं यत्तु अल्पं वा यदि वा बहु। दास्यसे स्वयमाहृत्य तन्मेऽमृतरसोपमम् ॥ २।३०।१५, २।२७।१४ भी देखिये।

२. तुलना कीजिये—पुत्रदारैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः। स एको मृष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २।७५।३४

३. यस्याः सहस्रं ग्रामाणां सम्प्राप्तमुपजीविनाम् ॥ २।३१।२२

४. मेखलीनां महासंघः कौसल्यां समुपस्थितः ॥ २।३२।२१

५. विभूतिं चैव सर्वासां स्त्रीणां दशरथस्य च (पश्यामः इति शेषः) ॥ ६।१२३।३५

पत्नी के वैवाहिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए यह स्पष्ट विधान दिया गया था कि उसके ऋतु-काल में पति को उससे अवश्य सहवास करना चाहिए—उस समय पति का अपना वैवाहिक कर्तव्य न निभाना सरासर पाप है। भरत ने उस 'दुष्टात्मा' की तीव्र भर्त्सना की है, जो अपनी ऋतु-स्नाता, और इसलिए गर्भ-धारण के लिए अनुकूल, भार्या को उसके अधिकार से वंचित रखता है।[1] जिस प्रकार पातिव्रत्य पत्नी की सर्वश्रेष्ठ निधि है, उसी प्रकार पति को भी अपनी ही पत्नी के प्रति अनुरक्त (स्व-दार-निरत) रहना चाहिए। धर्म-मर्यादा के प्रतिकूल अपनी पत्नी को त्याग कर पर-स्त्री का सेवन करनेवाले व्यक्ति को जो पाप लगता है, वह भरत ने उस मूढ़ को लगाया था, जिसकी अनुमति से राम वन गए थे।[2]

पति और पत्नी का क्रमशः एक और कर्तव्य तथा अधिकार यह था कि समस्त धार्मिक क्रिया-कलापों में वे दोनों सहयोगी एवं पूरक बनें। पति को दो प्रमुख ऋणों से उऋण करने में पत्नी सहायता देती थी—यज्ञ-यागादिक में सहयोग देकर देव-ऋण से तथा संतानोत्पादन कर पितृ-ऋण से। 'सहधर्मचारिणी' के रूप में पत्नी की यह प्रतिष्ठा इस बात की स्वीकृति थी कि नारी धर्माचरण में पुरुष की समकक्ष है। यह मान्यता थी कि पति-पत्नी संयुक्त रूप से अपना कर्म-फल भोगते हैं (भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ, २।२७।५)। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, वह अपने पति की अर्धांगिनी, उसकी आत्मा ही थी। यज्ञानुष्ठान में उसके बिना दीक्षा लेना संभव न था। दशरथ की रानियों ने अश्वमेध-यज्ञ में सक्रिय योग दिया था। तारा ने मृत वाली पर यह आरोप लगाया था कि आपने संग्राम-रूपी यज्ञ का संपादन तो किया, पर राम के बाण-रूपी जल में मेरे बिना अकेले ही कैसे यज्ञांत का अवभृत स्नान कर लिया?[3]

---

१. ऋतुस्नातां सतीं भार्यामृतुकालानुरोधिनीम्। अतिवर्तेत दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २।७५।५२

२. धर्मदारान्परित्यज्य परदारान्निषेवताम्। त्यक्तधर्मरतिर्मूढो यस्यार्योऽनुमते गतः॥ २।७५।५५

३. इष्ट्वा संग्रामयज्ञेन रामप्रहरणाम्भसा। तस्मिन्नवभृते स्नातः कथं पत्न्या मया विना॥ ४।२३।२७

राज्याभिषेक-संस्कार में पत्नी का पति से संयुक्त किया जाना भी पत्नी के महत्त्व को प्रमाणित करता है। राम के राज्याभिषेक में वशिष्ठ ने उनके साथ सीता को भी रत्नजटित सिंहासन पर बैठाकर अभिषेक किया था।[1] विधवा पत्नी को अपने स्वर्गत पति की और्ध्वदैहिक क्रिया में योग देने का अधिकार था। कौसल्या आदि रानियों ने दशरथ की प्रज्वलित चिता की प्रदक्षिणा की थी।[2] वाली की श्मशान-यात्रा में उसकी पत्नियां शामिल हुई थीं।[3] ऐसे अवसरों पर स्त्रियां प्रायः आगे-आगे चला करती थीं।[4] वे दिवंगत पितरों का तर्पण करने की पात्र भी मानी जाती थीं।[5]

सामान्यतः यज्ञादिक धार्मिक कृत्य पति और पत्नी संयुक्त रूप से ही किया करते थे। यदि किसी कारणवश पति का सहयोग न मिल पाता तो पत्नी यज्ञादि कृत्यों को अकेली ही कर सकती थी। पति की अनुपस्थिति में पत्नी को दैनिक अग्निहोत्र करने का अधिकार था। तपस्या, वेदाध्ययन, देव-पूजा तथा संध्योपासना से वे वंचित नहीं रखी जाती थीं। राम के हितार्थ कौसल्या ने स्वयमेव एक स्वस्ति-याग किया था (२।२०।१५-९), क्योंकि दशरथ उस समय रुष्ट कैकेयी को मनाने में लगे थे। तारा ने भी अकेले ही वाली के मंगल के लिए स्वस्त्ययन किया था,[6] क्योंकि वाली तो उस समय सुग्रीव की ललकार सुनकर उससे मोर्चा लेने की तैयारी में लगा था और इस कारण तारा के स्वस्त्ययन में योग नहीं दे सकता था। ये उदाहरण सिद्ध करते हैं कि यज्ञ-यागादिक में स्त्रियों का योग मात्र सैद्धांतिक

---

१. रामं रत्नमये पीठे ससीतं संन्यवेशयत्। ६।१२८।५१-६१; ६।४८।६ भी देखिये।
२. प्रसव्यं चापि तं चक्रुः...अग्निचितं नृपम्। स्त्रियश्च शोकसंतप्ताः कौसल्याप्रमुखास्तदा॥ २।७६।२०
३. ताराप्रभृतयो सर्वा वानर्यो हतबांधवाः। अनुजग्मुश्च भर्तारं क्रोशंत्यः करुणस्वनाः॥ ४।२५।३५-६
४. सीता पुरस्ताद्व्रजतु त्वमेनामभितो व्रज। अहं पश्चाद्गमिष्यामि गतिर्ह्येषा सुदारुणा॥ २।१०३।२१
५. कृत्वोदकं ते भरतेन सार्धं नृपांगनाः...॥ २।७६।२३
६. ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद्विजयैषिणी। ४।१६।१२

न होकर वास्तविक था और प्रायः पतिगण व्यस्त होने पर उनका संचालन पत्नी के ही सुपुर्द कर देते थे।

विनम्रता की प्रतिमूर्ति होने पर भी हिंदू पत्नी अनुचित रूप से अपमानित, प्रताड़ित या लांछित किये जाने पर प्रज्वलित क्रोधाग्नि का रूप धारण कर लेती थी। जब दशरथ कैकेयी को दिये गए अपने वचनों से विमुख होने लगे, तब कैकेयी ने अपने समस्त नारी-बल का आश्रय लेकर आक्रोशपूर्वक उन्हें लताड़ा था। राम को दंडित करने में असफल खर राक्षस को शूर्पणखा ने बहुत बुरा-भला कहा था और बाद में उसने, राजकीय कर्तव्यों की उपेक्षा करके विषय-भोगों में लिप्त रहने के कारण, रावण की भी तीव्र आलोचना की थी। जब कौसल्या ने सीता को, वन-गमन के समय, दुष्टा स्त्रियों का-सा आचरण न करने का परामर्श दिया, तब सीता ने हाथ जोड़कर, किंतु एक गर्विता क्षत्राणी के ओज से, यह निवेदन किया था कि आप मुझे असती नारियों के समकक्ष कैसे रख रही हैं।[1] लंका-विजय के बाद सार्वजनिक रूप से अपना प्रत्याख्यान किये जाने के समय सीता ने संयत शब्दों में अपना रोष प्रकट किया था।

यह निर्विवाद है कि नारियां तत्कालीन युग की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों को अत्यधिक रूप से प्रभावित करती थीं। सीता और कैकेयी-जैसी नारियों ने राष्ट्रों का भाग्य-परिवर्तन कर दिया है। पत्नी के संमान की रक्षा-भावना ने पुरुषों को दुर्धर्ष शत्रुओं से वैर ठानने के लिए प्रेरित किया है। पत्नी का अपमान स्वयं अपना, अपने कुल का अपमान है, जिसकी उपेक्षा कोई भी अभिजात-वंशीय नहीं कर सकता। सीता का विराध द्वारा अपहरण किये जाने पर राम ने कहा था कि विदेहनंदिनी का कोई पर-पुरुष स्पर्श करे, इससे बढ़कर दुःख की बात मेरे लिए दूसरी कोई नहीं है; पिता का मरण और राजपाट से मेरा वंचित किया जाना भी उतना दुःखदायी नहीं है।[2] रामायण का मुख्य घटना-चक्र रावण द्वारा सीता के अपहरण के इर्द-गिर्द घूमता है। वाली और मायावी के बीच एक स्त्री के

---

१. अभिज्ञास्मि यथा भर्तुर्वर्तितव्यं श्रुतं च मे। न मामसज्जनेनार्या समानयितुमर्हति॥ २।३६।२७-८

२. परस्पर्शात्तु वैदेह्या न दुःखतरमस्ति मे। पितुर्विनाशात् सौमित्रे स्वराज्यहरणात्तथा॥ ३।२।२१

कारण ही शत्रुता के बीज बोये गए थे।[१] अपनी पत्नी रुमा के अपहरण ने सुग्रीव को वाली का कट्टर शत्रु बना दिया था। सीता को पाने में असफल होने पर अनेक निराश राजाओं ने जनक पर आक्रमण कर दिया था।[२]

राजनीतिक क्रांतियों के पीछे नारी की शक्ति, नारी का प्रभाव निहित था। इक्ष्वाकु-परिवार में उत्तराधिकार का झगड़ा रानियों के पारस्परिक वैमनस्य का ही परिणाम था। नारियों की शासन करने की योग्यता के भी संकेत मिलते हैं। उन्हें राजकीय अधिकारों का सौंपा जाना सर्वथा संभव और व्यावहारिक माना जाता था। रावण ने सीता का लंका के महाराज्य पर अभिषेक करने का प्रस्ताव किया था।[३] नारी की प्रशासनिक योग्यता का एक और प्रमाण वशिष्ठ ने दिया है, जिन्होंने कैकेयी को सुझाव दिया था कि राम की आत्मा होने के नाते सीता, उनके वन चले जाने पर, उनकी प्रतिनिधि के रूप में राज्य का शासन-संचालन करेंगी।[४] स्त्री को इस प्रकार का अधिकार प्रदान करना सर्वथा व्यवहार्य एवं समीचीन रहा होगा, अन्यथा अपने युग की प्रथाओं और परंपराओं के जानकार महात्मा वशिष्ठ ऐसा प्रस्ताव क्यों उपस्थित करते !

गृहस्थी की आंतरिक व्यवस्था में भी पत्नी का ही सर्वाधिक प्रभाव था। कोई लाडली रानी अपने राजकीय पति को कितना अभिभूत कर सकती है, यह कैकेयी-शासित दशरथ के उदाहरण से प्रकट है। इसी प्रकार राम भी कांचन मृग को पकड़ लाने के सीता के दुराग्रह को नहीं टाल सके, यद्यपि वह यह जानते थे कि स्वर्ण-मृग एक असंभव चीज है और संभव होने पर भी राक्षसों के किसी षड्यंत्र

---

१. मायावी नाम तेजस्वी पूर्वजो दुन्दुभेः सुतः। तेन तस्य महद्वैरं वालिनः स्त्रीकृतं पुरा॥ ४।६।४

२. अरुन्धन् (बलेन कन्यां ग्रहीष्यामः, इत्यर्थः) मिथिलां सर्वे (राजानः) वीर्यसन्देहमागताः॥ १।६६।२१

३. यदिहं राज्यतन्त्रं मे त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। ३।५५।१६; लंकायाः सुमहद्राज्यमिदं त्वमनुपालय। अभिषेकजलक्लिन्ना तुष्टा च रमयस्व च॥ ३।५५।२६-७

४. अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम्। आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम्॥ २।३७।२३-४

का ही द्योतक है। साधारण नागरिकों के यहां भी पत्नी का प्रभाव उपेक्षणीय नहीं था। पति की गलतियों का परिहार करना वे अपना उत्तरदायित्व समझती थीं। जब अयोध्या के नागरिक, राम के साथ वन जाने में असफल होने पर, लौट आये, तब उनकी पत्नियों ने उन्हें, राम का साथ छोड़ देने पर, उपालंभ दिया था। युद्ध-क्षेत्र में पीठ दिखाने पर सैनिकों को यह भय रहता था कि हमारी पत्नियां हमारा उपहास करेंगी।[1] जब भरत ने सेना-सहित चित्रकूट जाकर राम को लिवा लाने का अपना निश्चय घोषित किया, तब अयोध्या में घर-घर में योद्धांगनाएं हर्षित होकर अपने पतियों को इस शुभ यात्रा के लिए प्रेरित करने लगी थीं।[2]

पत्नी के जीवन की गौरवमय परिणति, उसके व्यक्तित्व का पूर्णतम विकास मातृत्व में जाकर होता था—वंश-प्रवर्तन ही उसके समस्त स्नेह और सौंदर्य की सफलता का सूचक था। भारत में अनुरूप पत्नी से पुत्र-प्राप्ति सदा से विवाहित आनंद का चरम रूप माना जाता रहा है। अपने अंगांग से, हृदय के सुकुमार तंतुओं से एक नूतन सप्राण पदार्थ की सृष्टि करके उसका जगतीतल पर नवोन्मेष करना—नारी के अस्तित्व की इससे बढ़कर और क्या प्रतिष्ठा हो सकती है! पुत्र-प्रसव करके पत्नी वास्तव में अपने पति को ही पुनर्जन्म देती है, इसलिए वह 'धात्री' और 'जननी' कहलाती है। संतान में इस प्रकार पत्नी का रूप और गौरव तथा पति का प्रेम ही मूर्त नहीं होता, वंश-वृद्धि की उच्चतर सामाजिक मांग भी पूर्णतया संतुष्ट हो जाती है।

मातृत्व के इस गौरव-गान के समक्ष वंध्या स्त्री की दयनीयता और भी अधिक विषादजनक हो जाती है। निःसंतान होने का दुःख उसे निरंतर सालता रहता है।[3] अतः प्रत्येक अनुरक्ता पत्नी का मातृ-पद पाने के लिए समुत्सुक रहना स्वाभाविक था। सच तो यह है कि पत्नी को पति के साथ पुत्र-प्राप्ति की इच्छा

---

१. निरायुधानां क्रमतामसंगगतिपौरुषाः। दारा ह्युपहसिष्यन्ति स वै घातः सुजीवताम्॥ ६।६६।२०

२. ततो योद्धांगनाः सर्वा भर्तॄन्सर्वान्गृहे गृहे। यात्रागमनमाज्ञाय त्वरयन्ति स्म हर्षिताः॥ २।८२।२५

३. एक एव हि वंध्यायाः शोको भवति मानसः। अप्रजास्मीति संतापः...॥ २।२०।३७

से ही सहवास करना चाहिए, यौन सुख की प्राप्ति के लिए नहीं। बालकांड में पार्वती का पुत्र की अभिलाषा से शिव से संयुक्त होने का आख्यान वर्णित है। जब देवों ने असमय विघ्न डालकर उन्हें अकृतकार्य कर दिया, तब पार्वती ने रुष्ट होकर उन्हें अपनी पत्नियों को गर्भित कर देने में असमर्थ हो जाने का शाप दिया था। इसी प्रकार पृथ्वी को भी पुत्र-सुख से वंचित रहने का शाप मिला, क्योंकि पृथ्वी ने भी पार्वती की पुत्रेच्छा को पूरा नहीं होने दिया था। निःसंतान हो जाने का शाप पाकर देवगण बड़े व्यथित हुए थे। पत्नी का वंध्यात्व पति के लिए अपार मनोवेदना का विषय था (१।३६)।

प्राचीन भारतीयों ने वैवाहिक संबंध को सदा मातृत्व और पितृत्व के महान् आदर्शों से गौरवान्वित किया था। वे वर और वधू का चुनाव दंपती के भावी सुख की दृष्टि से नहीं, वरन् ऐसे सुयोग्य पुत्र की प्राप्ति के उद्देश्य से किया करते थे, जो कुल-क्रम को अविच्छिन्न बनाये रख सके। कन्या के अखंड कौमार्य और वर के सच्चरित्र का आग्रह उनकी भावी संतान की श्रेष्ठता और शुद्धता के लिए ही किया जाता था। अभिजात राजकुमारियों का तपोनिरत, जितेंद्रिय एवं कीर्तिलब्ध महामुनियों की सेवा में उपस्थित होकर उन्हें आकर्षित करना और उनकी अर्धांगिनी बनने को लालायित होना भी यही सिद्ध करता है कि विवाह दंपती की तात्कालिक यौन भावना की परितृप्ति का नहीं, प्रत्युत ऐसी सबल, स्वस्थ एवं विशुद्ध संतति प्राप्त करने का साधन था, जो माता-पिता के सद्गुणों का कांत संमिश्रण हो। अनेकानेक मर्त्य कुमारिकाओं का अमर्त्य देवों से संपर्क स्थापित कर उन्हींके समान तेजस्वी पुत्रों को जन्म देना भी वंश-परंपरा को श्रेष्ठ बनाने की इच्छा से ही प्रेरित रहता था। प्रतीत होता है कि हमारे प्राचीनों को कुल-क्रम की अविच्छिन्नता और तेजस्विता बनाये रखना ही अधिक इष्ट था, चाहे इससे विवाह की संकुचित परिधि का उल्लंघन ही क्यों न होता हो।

कुछ उदाहरण देखिये। राक्षस सुमाली ने अपनी पुत्री कैकसी से कहा था—"बेटी, तुम स्वयं जाकर महर्षि पुलस्त्य के पुत्र मुनीश्वर विश्रवा को अपना पति बनाओ। इससे तुम्हारे धनेश्वर कुबेर-जैसे तेजस्वी पुत्र होंगे, जो राक्षस-जाति का संवर्धन करेंगे (७।९।१२-६)।" गंधर्वी सोमदा ने, जिसका 'न कोई पति था और जो न किसीकी पत्नी' थी, चूली ऋषि को अपनी सेवा से प्रसन्न कर ब्राह्म तेज से युक्त पुत्र-रत्न की याचना की थी (१।३३।१७)। कामातुर वायुदेव ने वानर-

राज केसरी की पत्नी अंजना का सतीत्व-भंग करना चाहा, उस वानर-सुंदरी का विरोध वायु के यह वचन देने पर शीघ्र ही शांत हो गया कि तुम्हारे मेरे ही समान तेजस्वी, बुद्धिमान् एवं शीघ्रगामी पुत्र होगा (४।६६।१८-९)। वर्तमान भारतीय समाज के विपरीत, रामायणकालीन समाज विवाह की परिधि से बाहर उत्पन्न होनेवाली संतान को घृणा या उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखता था; माताओं का पथभ्रष्ट होता पुत्रों की प्रगति में बाधक नहीं होता था। चूली ऋषि के 'मानस' पुत्र ब्रह्मदत्त, अपनी माता के अज्ञात-कुल-शीला होने पर भी, महाराज कुशनाभ की कन्याओं का पाणिग्रहण करने के योग्य समझे गए। इंद्र के साथ व्यभिचार करनेवाली अहल्या के पुत्र शतानंद महाराज जनक के राजपुरोहित बन गए।

मनोवांछित संतान पाने के लिए गर्भवती को आचार-विचार की आत्यंतिक शुद्धि रखनी आवश्यक थी। कश्यप ने अपनी पत्नी दिति से कहा था कि यदि तुम नियत समय तक आचार की पवित्रता भंग न करो तो तुम्हें इंद्रजयी पुत्र की उपलब्धि हो सकती है।[1] असमय समागम का संतति पर कुप्रभाव पड़ता था। कैकसी ने विश्रवा से पुत्र की अभ्यर्थना संध्या के अशुभ समय में की थी, अतः उसकी संतान क्रूरकर्मा एवं भयंकर-दर्शन राक्षस बनी।[2]

पत्नी में गर्भ के लक्षण देखकर पति की प्रसन्नता का पारावार न रहता था। भावी पिता प्रसव-काल में पत्नी के प्रत्येक मनोरथ को परिपूर्ण करने की चेष्टा करता था। गर्भवती की इच्छाओं की परितुष्टि करना पति का पावन कर्त्तव्य था।

अल्प वय में ही किसी बालक का मेधावी बन जाना, प्राचीनों के अनुसार, इस बात पर निर्भर करता है कि गर्भावस्था में माता कैसी परिस्थिति और कैसे वातावरण में रहती है। हमारे पुराण-साहित्य में वैदिक विद्वानों की ऐसी गर्भवती पत्नियों के आख्यान वर्णित हैं, जो अपने पतियों के साथ वेदाध्ययन करती थीं, जिसके परिणामस्वरूप उनके पुत्र समय से पहले ही बौद्धिक प्रतिभा का परिचय देने

---

१. पूर्णे वर्षसहस्रे तु शुचिर्यदि भविष्यसि। पुत्रं त्रैलोक्यहन्तारं मत्तस्त्वं जनयिष्यसि॥ १।४६।६

२. सुताभिलाषो मत्तस्ते मत्तमातंगगामिनी। दारुणायां तु वेलायां यस्मात्त्वं समुपस्थिता।...तस्मात्...प्रसविष्यसि सुश्रोणि राक्षसान् क्रूरकर्मणः॥ ७।९।२२-४

लगते थे और शीघ्र ही अपने पिताओं की तरह संत और शास्त्रज्ञ बन जाते थे। उत्तरकांड में कथा आती है कि पुलस्त्य मुनि की पत्नी गर्भ-काल में उनका वेद-पाठ श्रवण करती रहती थी, इस कारण उसका पुत्र 'विश्रवा' कहलाया। विश्रवा भी छोटी आयु में ही वैदिक अध्ययन में निरत हो गए और शीघ्र ही अपने पिता की तरह धर्मपरायण, व्रत-रत, पवित्र और शीलवान् बन गए (७।२।३१-३)।

एक सामान्य मान्यता यह प्रचलित थी कि नवजात शिशु और सद्यःप्रसूता माता को हानि पहुँचाने के लिए भूत-पिशाच ताक में रहते हैं। आचार में लेश-मात्र स्खलन भी इन अशुभ बाह्य तत्त्वों को अपना दुष्प्रभाव डालकर गर्भ को नष्ट कर डालने का अवसर दे देता है। इसके लिए कुछ विशेष प्रकार के टोटकों का प्रयोग प्रचलित था। कश्यप ने अपनी पत्नी को पुत्र-प्रसवा होने का वर देकर गर्भ-रक्षा के लिए जादू-टोना किया था। इच्छित संतान के जन्म में अवरोधक अशुभ तत्त्वों के निवारणार्थ उन्होंने पत्नी का हाथ से परिमार्जन किया, फिर उसका आलिंगन किया और 'स्वस्ति' शब्द का उच्चारण करके मंगल-कामना की।[1] इसी प्रकार सीता के गर्भ से लव-कुश के प्रसूत होने पर उनकी प्रेत-बाधा-निवृत्ति के लिए तुरंत महर्षि वाल्मीकि को बुलाया गया। महर्षि ने कुशाओं का एक मूठा और उनके लव (नीचे के भाग) लेकर उनके द्वारा उन दोनों बालकों की भूत-बाधा-निवारण करने के लिए रक्षा की व्यवस्था की (७।६६।५-६)।

गर्भपात या असमय प्रसव को 'गर्भ-परिस्रव' या 'गर्भ-स्कन्न' कहते थे। भ्रूण-हत्या एक निंदित पाप थी। कठिन प्रसव की दशा में गर्भाशय की शल्य-क्रिया की जाती थी (५।२८।६)। राम-राज्य के वर्णन में वाल्मीकि ने कहा है कि उस समय स्त्रियां बिना किसी खतरे के संतान-प्रसव किया करती थीं—**अरोगप्रसवा नार्यः** (७।४१।१९)। इससे तत्कालीन प्रसव-विज्ञान की प्रगति का आभास मिलता है।

संतान के व्यक्तित्व-निर्माण में माता का क्या योग होता है? एक लौकिक कहावत के अनुसार, पुत्र अपने पिता की तरह और कन्याएं अपनी माता की तरह होती हैं—**पितॄन्समनुजायन्ते नरा मातरमंगनाः** (२।३५।२८)। उदाहरण-स्वरूप सुमंत्र ने कैकेयी का दृष्टांत दिया, जिसने अपने दोनों वर मांगने का स्वार्थ-

---

१. **एवमुक्त्वा महातेजाः पाणिना संममार्ज ताम्। तामालभ्य ततः स्वस्ति इत्युक्त्वा तपसे ययौ॥ १।४६।७**

पूर्ण दुराग्रह करके जाने-अनजाने अपनी माता का ही अनुकरण किया था ।[1] एक और कहावत यह है कि मनुष्यों का चरित्र माता के ही अनुकरण पर निर्मित होता है, पिता के अनुकरण पर नहीं —**न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदा इति** (३।१६।३४)। शारीरिक दृष्टि से भी प्रजनन में माता ही प्रमुख योग देती है, पिता तो जीव के जन्म में निमित्त-मात्र होता है ।[2]

वाल्मीकि की दृष्टि में गौ का अपने वत्स के प्रति जो ममत्व है, वही मातृ-स्नेह का सच्चा आदर्श है । इसलिए वह मातृ-प्रेम की प्रगाढ़ता दिखाने के लिए उसकी उपमा गौ के वत्स-प्रेम से देते हैं । उदाहरणार्थ, राम को वन जाते देखकर कौसल्या उनका अनुगमन करने के लिए उसी प्रकार उद्यत हो गईं, जिस प्रकार गौ अधीर होकर अपने वछड़े के पीछे दौड़ी चली जाती है ।[3] पुत्र से विरहित अपनी दशा की समता वह वत्स-विहीना गौ से करती हैं ।[4] राम के लिए विलाप करती दशरथ के अंतःपुर की रानियां वत्सों से बिछड़ी हुई गौओं के समान थीं (**विवत्सा इव धेनवः**, २।४१।७) । जब राम रथ में बैठकर वन की ओर शीघ्रता से जाने लगे, तब धर्म के बंधन में बंधे होने के कारण वह रस्सी से बंधे बछड़े की भांति अपनी माता को न देख सके—

स बद्ध इव पाशेन किशोरो मातरं यथा ।
धर्मपाशेन संयुक्तः प्रकाशं नाभ्युदैक्षत ।। २।४०।४०

माताएं अपने पुत्रों को सौतेले भाइयों से बढ़ा-चढ़ा बनने को उकसाती रहती थीं । रावण के जोर-शोर-भरे जीवन की रूपरेखा उसकी महत्त्वाकांक्षिणी माता कैकेयी ने निर्धारित की थी । उसने रावण को अपने सौतेले भाई वैश्रवण से अधिक प्रतापी बनने की प्रेरणा दी थी । अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक कैकसी रावण को

---

१. **न हि निम्बात्स्रवेत्क्षौद्रं लोके निगदितं वचः । तव मातुरसद्ग्राहं विद्म पूर्वं यथाश्रुतम् ।।** २।३५।१७-७
२. **बीजमात्रं पिता जन्तोः शुक्रं शोणितमेव च । संयुक्तमृतुमन्मात्रा पुरुषस्येह जन्म तत् ।।** २।१०८।११
३. **अनुव्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः सुदुर्बला वत्समिवाभिकांक्षया ।** २।२०।५४; २।२४।६ भी देखिये ।
४. **गताहमद्यैव परेतसंसदं विना त्वया धेनुरिवात्मजेन वै ।** २।२०।५३

सत्परामर्श देती रही। राम को सीता लौटाकर उनसे संधि कर लेने का भी उसने उपदेश दिया था (६।३४।२०-३)।

माता के प्रति पुत्रों के स्नेह और आदरपूर्ण भाव थे। पारिवारिक जीवन का वह केंद्र-बिंदु थी। माता को अनजाने में भी दुःख पहुंचने पर पुत्र अपनेको निकृष्ट मानने लगता था, जैसाकि वन में राम के अपनी असहाय माता के लिए किये गए विलापों से प्रकट है। राम के रूप में हमें उस आदर्श पुत्र के दर्शन होते हैं जो अपनी सौतेली माताओं के प्रति सगी माता का-सा व्यवहार करता है। वन जाते समय उन्होंने सीता से कहा था कि तुम अयोध्या में ही रहकर मेरी सौतेली माताओं की समान भाव से सेवा करती रहना, क्योंकि स्नेह, प्रेम और सेवा, इन सभी दृष्टियों से सब माताएं मेरे लिए समान हैं—**स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः** (२।२६।३२)।

रामायण में एक रोचक प्रश्न यह उपस्थित किया गया है कि पति और पुत्र इन दोनों में से कौन पतिव्रता नारी के स्नेह का अपेक्षाकृत अधिक अधिकारी है। यों तो इस प्रश्न के उत्तर-स्वरूप कैकेयी का उदाहरण मौजूद है, जिसने अपने पति को मर्मान्तिक कष्ट पहुंचाकर भी अपने पुत्र के हितों को सर्वोपरि रखा। किंतु उसके आचरण की सर्वत्र कटु निंदा की गई है। अयोध्या के नागरिक उसे लोभ के कारण मूढ़-बुद्धि मानते थे—ऐसा लोभ, जिसने उसे अपने पति से भी विमुख कर दिया—और उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि कैकेयी के जीते-जी हम उसके राज्य में नहीं रहेंगे (२।३३।२१-६)। कौसल्या भी अपने प्रगाढ़ मातृ-स्नेह से प्रेरित हो दशरथ को छोड़कर राम के साथ वन जाने को उद्यत हो गई थीं; पर राम ने उन्हें रोकते हुए समझाया कि जबतक धर्मात्मा महाराज जीवित हैं और स्वधर्म में स्थित हैं, तुम किसी दीन विधवा की तरह मेरे साथ कैसे चल सकती हो ![1] सुमंत्र ने पति का अमंगल करनेवाली कैकेयी को खूब फटकारकर कहा था कि पत्नी के लिए पति की इच्छा करोड़ों पुत्रों से भी बढ़कर होनी चाहिए—**भर्तुरिच्छाहि नारीणां पुत्रकोट्या विशिष्यते** (२।३५।८)। विधवा तारा को अंगद-जैसे सौ पुत्रों की अपेक्षा अपने मृत पति के अंगों का आलिंगन अधिक सुखकर मालूम देता था।[2]

---

१. **तस्मिन् पुनर्जीवति धर्मराजे विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने। देवी मया सार्धमितोऽभिगच्छेत् कथंस्विदन्या विधवेव नारी ॥** २।२१।६१

१. **अंगदप्रतिरूपाणां पुत्राणामेकशः शतम्। हतस्याप्यस्य वीरस्य गात्रसंश्लेषणं वरम् ॥** ४।२१।१३

पुरुष और स्त्री के दांपत्य संबंधों के विषय में ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसको देखते हुए कुल-स्त्री के लिए वैधव्य से बढ़कर और कोई विपत्ति नहीं हो सकती थी (**भयानामपि सर्वेषां वैधव्यं व्यसनं महत्**, ७।२५।४३)। किंतु पति के शरीरांत पर पत्नी अपने जीवन का अंत नहीं कर लेती थी। पति की चिता पर विधवाओं के सती हो जाने की प्रथा का रामायण प्रायः समर्थन नहीं करती। दशरथ अथवा रावण की विधवा रानियों में से कोई भी अपने पति का सहगमन नहीं करती। हां, दशरथ की मृत्यु पर कौसल्या अपने विलापों में यह उद्गार अवश्य प्रकट करती हैं कि एक पतिव्रता के नाते मैं महाराज के शरीर का आलिंगन करके अग्नि में प्रवेश करूंगी—**इदं शरीरमालिग्य प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्** (२।६६।१२)। किंतु शीघ्र ही 'व्यावहारिक' अर्थात् लोकाचार जाननेवाले व्यक्ति उन्हें वहां से हटा देते हैं (**व्यपनिन्युः**, २।६६।१३)। इससे यह स्पष्ट है कि सती-प्रथा सर्वथा अनहोनी बात न होते हुए भी समाज में सामान्यतया प्रचलित नहीं थी और न विवेकशील लोगों में उसे मान्यता ही प्राप्त थी। जब दशरथ ने कैकेयी से यह कहा कि मेरे मरने और राम के वन चले जाने के बाद तू विधवा होकर अपने पुत्र के साथ राज्य करना (**सेदानीं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि**, २।१२।९३), तब स्पष्ट ही दशरथ ने कैकेयी के सती हो जाने की कल्पना नहीं की थी।

उत्तरकांड में सती होने की एक घटना का उल्लेख आता है। राजर्षि कुशध्वज को रात में सोते समय शंभु नामक दैत्य ने मार डाला था। इसपर कुशध्वज की पत्नी ने पति के शव का आलिंगन करके अपने को अग्नि में होम दिया था।[1] समस्त रामायण में सती-प्रथा का यही एक उदाहरण पाया जाता है। किंतु परवर्ती उत्तरकांड में पाये जाने के कारण, कुछ विद्वान् इस घटना की ऐतिहासिकता स्वीकार नहीं करते।[2] हो सकता है, उत्तरकांड के समय में सती-प्रथा का कुछ-कुछ प्रचार हो गया।

मौलिक रामायण में भी विधवाओं द्वारा पति-शोक में प्राण त्याग देने के कई

---

१. **ततो मे जननी दीना तच्छरीरं पितुर्मम। परिष्वज्य महाभागा प्रविष्टा हव्यवाहनम्**॥ ७।१७।१४

२. अनंत सदाशिव अलतेकर—'पोजीशन आफ वीमेन इन हिंदू सिविलिजेशन', पृ० १४२

उदगार पाये जाते हैं, पर ऐसी कोई वास्तविक घटना नहीं घटित हुई है। वाली की मृत्यु पर तारा अन्न-जल छोड़कर प्राण-त्याग करने का निश्चय करती है[1] और सीता भी राम की कथित मृत्यु पर पति का अनुगमन करने का संकल्प करती हैं।[2] इस प्रकार की उक्तियां पति-शोक की प्रारंभिक तीव्रता-मात्र सूचित करती हैं, प्राण-त्याग का कोई दृढ़ निश्चय नहीं।

आर्यों में विवाह-संबंध की अविच्छेद्यता के कारण विधवा स्त्री के पुनर्विवाह का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता था। अरण्यकांड में जब सीता के बार-बार आग्रह करने पर लक्ष्मण राम की सहायतार्थ जाने को तैयार नहीं हुए, तब सीता ने लक्ष्मण से कहा कि तुम चाहते हो कि राम मर जायं, जिससे तुम मुझे पा सको—**इच्छसि त्वं विनश्यन्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते** (३।४५।६)। जर्मन विद्वान् श्री जे० जे० मेयर[3] ने सीता की उक्ति से यह संकेत ग्रहण किया है कि आर्यों में विधवाएं अपने देवर का वरण कर लेती होंगी, अन्यथा राम की मृत्यु के बाद लक्ष्मण द्वारा ग्रहण किये जाने की आशंका सीता के मन में क्यों आती? इस अनुमान का रामायण में अन्यत्र कहीं समर्थन नहीं हुआ है। उक्त शंका सीता ने अत्यंत आवेश में आकर की है और उसे स्त्रियोचित अनर्गल उक्ति से अधिक महत्त्व देना ठीक नहीं। लंका-युद्ध में सीता ने राम को दो बार मरा हुआ मानकर विलाप किया है, किंतु देवर द्वारा ग्रहण किये जाने की कोई संभावना व्यक्त नहीं की है।

रामायण में आर्य-विधवाओं को सर्वत्र एकाकी विरहपूर्ण जीवन ही व्यतीत करते हुए चित्रित किया गया है। सच पूछिये तो वाल्मीकि जहां कहीं किसी वस्तु के असमय में नष्ट या क्षीण होने की बात कहना चाहते हैं, वहां उसकी तुलना विधवा नारी से करते हैं।[4]

वानरों में विधवा के पुनर्विवाह अथवा किसी संबंधी से यौन संबंध स्थापित कर लेने की प्रथा प्रचलित थी। वाली की मृत्यु पर तारा अपने वैधव्य पर विलाप

---

१. व्यवस्यत प्रायमनिन्द्यवर्णा उपोपवेष्टुं भुवि यत्र वाली ॥ ४।२०।२६
२. रावणानुगमिष्यामि गतिं भर्तुर्महात्मनः ॥ ६।३२।३२
३. 'सेक्सचुअल लाइफ इन एन्श्यंट इंडिया', भाग २, पृ० ४३६, पाद-टिप्पणी १
४. शोषमेष्यति दुर्धर्षा प्रमदा विधवा यथा। ५।२६।२५; भविष्यति पुरी लंका नष्टभर्त्री यथांगना ॥ ५।२६।२६

करती हैं, पर उसकी दाह-क्रिया समाप्त होते ही सुग्रीव विधवा तारा को अपनी प्रियतमा बना लेता है। तारा भी अपने पति के हत्यारे के प्रति अनुरक्त जान पड़ती है और उसके हितार्थ लक्ष्मण के क्रोध को शांत करने का बीड़ा भी उठाती है। हां, तारा का पुत्र अंगद अवश्य ही इस नवीन संबंध से प्रसन्न नहीं है, पर इसका दोष वह अपने चाचा (सुग्रीव) पर ही मढ़ता है। विजित (वाली) की पत्नी का इस प्रकार विजेता (सुग्रीव) को युद्ध की लूट के रूप में मिल जाना वानरों की एक असंस्कृत रूढ़ि का परिचायक माना जा सकता है।

सुग्रीव के संरक्षण में चले जाने पर तारा का अपने पुत्र अंगद पर कोई अधिकार नहीं रह गया, उसे सुग्रीव के ही अधीन रहना पड़ा। जैसाकि तारा ने स्वयं कहा—"मेरा न अपने पति के राज्य पर अधिकार है और न पुत्र अंगद पर ही। अब तो ये दोनों सुग्रीव के वश में हैं" (४।२१।१४)। इससे यह प्रकट होता है कि वानरों में विधवा का अपने पति की संपत्ति या संतान पर अधिकार नहीं होता था। इसके अतिरिक्त, विधवा से विवाह करने का अधिकार बड़े भाई को प्राप्त नहीं था। बड़े भाई का छोटे भाई की पत्नी से अनुचित संबंध रखना दंडनीय होता था। इसी अपराध के कारण वाली राम के हाथों मारा गया।

अनैतिकता के पुजारी राक्षसों में विधवाएं प्रायः अन्य पुरुष से संबंध स्थापित कर लेती थीं, चाहे वह विधिपूर्वक विवाह द्वारा हो अथवा अवैध संसर्ग द्वारा। रावण की बहन और विद्युज्जिह्व की विधवा शूर्पणखा ने कामासक्त हो राम से विवाह का प्रस्ताव किया था। स्वयं रावण ने अपने विरोधियों को मारकर उनकी सुंदरी विधवाओं को अपने अंतःपुर में इकट्ठा कर रखा था।[1]

प्राचीन भारत की आर्य-विधवाएं जहां पुनर्विवाह से वंचित होकर अपने समस्त जीवन को वैधव्य की ज्वाला में क्षीण करती रहती थीं, वहां अन्य दृष्टियों से वे परिवार में स्नेह और संमान की पात्र होती थीं। पुत्रवती विधवा के लिए पति के प्रयाण के बाद भी संसार में बने रहने का प्रलोभन विद्यमान रहता था—अपनी संतान के लालन-पालन के लिए वह स्वयं भी जीवित रहने को इच्छुक होती थी (६।४८।२१; ४।२१।४,११)। माता और संतान के बीच मधुर स्नेह-संबंधों

१. यास्त्वया विधवा राजन्कृता नैकाः कुलस्त्रियः। ६।१११।६४; ७।२।४; ७।२४।८-६ १६-२० आदि भी देखिये।

के रहते कुटुंब में विधवा के साथ आदरपूर्वक व्यवहार किया जाता था। दशरथ की विधवा रानियां संमानपूर्ण जीवन व्यतीत करती थीं। पुत्र और पुत्रवधुएं उनका यथोचित स्नेह-सत्कार करते थे। राजमहलों में वे सुखपूर्वक अपनी आयु के शेष दिन व्यतीत करतीं और दान-पुण्य में संलग्न रहती थीं।

मांगलिक अवसरों पर विधवाओं की उपस्थिति अशुभ नहीं मानी जाती थी। राम के वन से लौटने पर उनका जिन लोगों ने स्वागत किया, उनमें उनकी विधवा माताएं भी थीं। राम, सुग्रीव तथा अन्य वानर-वीरों ने उनका सादर अभिवादन किया था। राज्याभिषेक के लिए सीता का शृंगार उनकी विधवा सासों ने किया था।[१] उत्तरकांड में भी उत्सवादि में विधवाओं के आमांगलिक माने जाने का कोई संकेत नहीं मिलता। जब शत्रुघ्न मधुपुरी के राजा के रूप में प्रतिष्ठित किये गए, तब राजभवन में सारे मांगलिक और अनिष्टनाशक कृत्यों का संपादन कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी ने ही किया था (७।६३।१७)। पुत्र-पौत्रों से युक्त एवं धन-धान्य से समृद्ध होकर तथा पर्याप्त लौकिक संमान और पारलौकिक पुण्य का अर्जन करने के बाद दशरथ की रानियों का स्वर्गवास हुआ। अपनी दिवंगत माताओं के कल्याण के निमित्त राम समय-समय पर तपस्वियों और ब्राह्मणों को प्रचुर दान देते रहते थे—

तासां रामो महादानं काले काले प्रयच्छति।
मातृणामविशेषेण ब्राह्मणेषु तपस्विषु ॥ ७।९९।१७

प्रतीत होता है कि रामायण-काल में स्त्रियों को पुरुष-समाज से पृथक् रखने का रिवाज स्थिर हो चुका था। जब सीता अयोध्या के राज-मार्ग से अपने पति के साथ वन को प्रस्थान करती हैं, तब कवि खेदपूर्वक कह उठता है—

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः ॥

अर्थात् जिनको पहले आकाश में विचरण करनेवाले प्राणी भी नहीं देख पाते थे, उन्हीं सीता को आज सड़कों पर खड़े लोग देख रहे हैं। इससे यह सूचित होता है कि राज-परिवार की महिलाएं महलों से बाहर प्रायः नहीं निकलती थीं और सामान्य लोगों की दृष्टि से बची रहती थीं। विशेष परिस्थितियों में यह मर्यादा

१. प्रतिकर्म च सीतायाः सर्वा दशरथस्त्रियः चक्रुः। ६।१२८।१७

तोड़ी भी जा सकती थी। युद्धकांड में कहा गया है कि विपत्ति-काल में तथा युद्धों, स्वयंवरों, यज्ञों और विवाहों में स्त्रियों को देखना दोषावह नहीं है।[1] वस्तुतः रामायण में ऐसे ही अवसरों पर स्त्रियों का जन-समूह में आना वर्णित हुआ है।

इन अवसरों पर भी जब उन्हें महलों से बाहर आना पड़ता, तब वे पर्दे का प्रयोग नहीं करती थीं। जब भरत अपनी विशाल सेना और अयोध्या के नागरिकों के साथ राम को लौटा लाने के लिए चित्रकूट जाने लगे, तब कौसल्या, सुमित्रा और कैकेयी भी एक चमकदार रथ पर सवार होकर साथ गई थीं (ययुर्यानेन भास्वता, २।८३।६)। इस स्थल पर उनके द्वारा पर्दा करने या घूंघट निकालने का कोई उल्लेख नहीं है। सीता भी वन-गमन के समय साधारण प्राणियों की दृष्टि अपने ऊपर पड़ने पर घूंघट से अपना मुंह नहीं ढक लेतीं।

घर के भीतर भी युवतियां अपने ज्येष्ठ संबंधियों के सामने पर्दा नहीं करती थीं। ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता कि श्वसुर अपनी पुत्रवधू का मुख नहीं देख सकता था अथवा पुत्र अपनी पत्नी के साथ माता-पिता के दर्शन करने नहीं जा सकता था, जैसाकि आजकल भारत के कुछ प्रदेशों में प्रचलित है। वन जाने से पहले राम सपत्नीक अपने पिता से विदा लेने गये थे। संभाषण की जैसी स्वतंत्रता और पारस्परिक संबंधों की जैसी सरलता और स्पष्टता इक्ष्वाकु-परिवार के स्त्री-पुरुषों में थी, वैसी किसी पर्दाग्रस्त परिवार में क्वचित् ही संभव हो।

वानरों में भी पर्दे के प्रचलन का कोई प्रमाण नहीं मिलता। जब लक्ष्मण सुग्रीव को फटकारने के लिए उनके राजमहल में पहुंचे, तब तारा ने पर्दा किये बिना उनके सामने आकर अपने स्वामी के पक्ष का बड़ी योग्यता से समर्थन किया था। किंतु पर्दे का प्रचार न होने पर भी वानरों में स्त्रियों को पृथक् रखा जाता था और वे सबके सामने प्रायः नहीं आती थीं। किष्किंधा का राजकीय अंतःपुर स्त्रियों के लिए एक पृथक् और सुरक्षित निवास-स्थान था, जिसमें जब जो चाहे प्रवेश नहीं कर सकता था। अपनी स्त्रियों के बीच बैठे हुए सुग्रीव ने जब अपने अनुचरों को आने का आदेश दिया, तब वे ही सेवक भीतर जा सके, जिन्हें स्त्रियों के सामने आने की अनुमति प्राप्त थी ये स्युः स्त्रीदर्शनक्षमाः (४।३८।८)।

---

१. व्यसनेषु च कृच्छ्रेषु न युद्धेषु स्वयंवरे। न क्रतौ नो विवाहे वा दर्शनं दूष्यते स्त्रियः॥ ६।११४।२८

राक्षसों में अवगुंठन या पर्दे की प्रथा निस्संदेह प्रचलित थी। इसकी पुष्टि रावण की रानी मंदोदरी के कथन से होती है। रावण की मृत्यु के पश्चात् मंदोदरी अपनी अन्य सपत्नियों साथ युद्ध-स्थल पर आकर इस प्रकार विलाप करने लगीं—"देखिये, नाथ, मैं पर्दा छोड़कर नगर-द्वार से पैदल ही चलकर आपके पास आई हूं। मुझे देखकर आप क्रुद्ध क्यों नहीं होते ? आपकी अन्य प्रिय भार्याएं भी घूंघट हटाकर यहां आई हुई हैं। इन्हें इस तरह नगर से बाहर आया हुआ देखकर आप अप्रसन्न क्यों नहीं होते ?" (६।१११।६१-३)

इससे यह स्पष्ट है कि राक्षस-समाज में पुरुष अपनी स्त्रियों से पर्दे के व्यवहार की अपेक्षा करते थे और उनके ऐसा न करने पर क्रुद्ध होते थे। मंदोदरी के कथन से यह भी ज्ञात होता है कि उच्च वर्ग की राक्षस महिलाएं साधारण स्त्रियों की भांति पैदल चलकर रनवास से बाहर प्रायः नहीं निकलती थीं। इसी कारण विभीषण ने, अपने समाज में प्रचलित पर्दा-प्रथा के अनुसार, लंका-विजय के बाद वैदेही को राम के संमुख पहुंचाने में उपयुक्त सावधानी और शिष्टाचार का पालन किया था। उन्होंने पहले परिचारिकाओं द्वारा सीता के पास अपने आने की सूचना भिजवाई और तत्पश्चात् वह स्वयं उपस्थित हुए। यह उल्लेखनीय है कि सीता ने विभीषण से कोई पर्दा नहीं किया और मुक्त भाव से उनसे बातें कीं। विभीषण सीता को एक सुंदर पालकी में बैठाकर राम के पास ले आये। पालकी ढोने में समर्थ राक्षस और बहुत-से निशाचर सीता की रक्षार्थ उन्हें चारों ओर से घेरकर चल रहे थे। जब सीता की पालकी राम के निकट पहुंची, तब उस स्थल को निर्जन बनाने के लिए विभीषण वहां खड़े हुए लोगों को दूर हटाने लगे। पगड़ी बांधे और अंगा पहने हुए बहुत-से सिपाही हाथ में छड़ी लेकर सबको हटाते हुए चारों ओर घूमने लगे। ऋक्षों, वानरों, और राक्षसों के समुदाय हटाये जाने पर दूर जाकर खड़े हो गए (६।११४।८-२३)। यह कार्य राक्षसों के रिवाज के अनुसार था, क्योंकि उनमें स्त्रियों को पर्दे में रखा जाता था, जिससे सर्वसाधारण की दृष्टि उनपर न पड़े।

परंतु राम एक समाज-सुधारक थे। उन्होंने इस बात को लक्ष्य किया कि जिन लोगों को हटाया जाता था, उन्हें बड़ा उद्वेग होता था। अपनी सहज उदारता के कारण उन्होंने हटानेवालों को रोषपूर्वक रोका और विभीषण से कहा—"तुम किसलिए इन सब लोगों को तंग कर रहे हो ? रोक दो इस उद्वेगजनक कार्य को। यहां जितने लोग हैं, सब मेरे स्वजन ही तो हैं। स्त्रियों के लिए न घर, न वस्त्र, न

दीवारें और न राज-सत्कार ही वैसी आड़ करनेवाला है, जैसाकि उनका अपना सदाचरण। विपत्ति में, कष्ट में, स्वयंवर में, यज्ञ में और विवाह में स्त्रियों को देखने में कोई पाप नहीं लगता। सीता विपत्ति में हैं और विशेषकर मेरे निकट उन्हें देखने में कोई दोष नहीं है। वह पालकी से उतरकर पैदल ही मेरे पास आयें और ये सभी वानर उनके दर्शन करें (६।११४।२४-३०)।"

राम के उपर्युक्त कथन से चार प्रकार के निष्कर्ष निकलते हैं—(१) अपरिचितों के सामने स्त्री का घूंघट निकालना उनके प्रति संदेह का द्योतक है; (२) अपने पति के निकट-परिचितों के समक्ष पत्नी पर्दे का त्याग कर सकती है; (३) पति की उपस्थिति में पत्नी को देखा जा सकता है तथा (४) विशेष परिस्थितियों में स्त्रियों के उन्मुक्त विचरण पर पर्दे का बंधन नहीं लगना चाहिए।

पर्दा-प्रथा का मुख्य उद्देश्य प्राकृत मनुष्यों के 'दुष्ट चक्षुओं' से शिष्ट महिलाओं की रक्षा करना माना जाता है। किंतु राम ने स्त्री के चरित्र-बल को ही उसका सच्चा रक्षक बताकर पर्दे की निस्सारता और अनावश्यकता सिद्ध की। अयोध्या के नागरिक अपनी पत्नियों की ओर से सर्वथा निश्चिंत होकर राम के साथ वन जाने को तैयार हो गए थे, क्योंकि उनकी मान्यता थी कि हमारी स्त्रियां अपने चरित्र-बल से पूर्णतया सुरक्षित रहेंगी—**दाराश्चारित्ररक्षिताः** (२-४५।२५)। इससे भी यह ध्वनि निकलती है कि वे पर्दे को स्त्रियों की रक्षा करने में अनुपयुक्त और अनावश्यक समझते थे। इस कथन की सत्यता सीता के उदाहरण से स्वतः प्रकट है, जो शत्रु-गृह में भी अपने पातिव्रत्य-तेज के प्रभाव से निष्कलंक बनी रहीं (**रक्षितां स्वेन तेजसा**, ३।३७।१४)।

भारतीय सभ्यता के इतिहास में रामायण ही संभवतः पहली रचना है, जिसमें वेश्याओं के वर्ग को राजकीय स्वीकृति मिली है, और उनका राज-काज में उपयोग किया गया है। रोमपाद के राज्य में अकाल पड़ने पर उनके मंत्रियों ने यह हल सुझाया कि विभांडक-सुत ऋष्यशृंग को लुभाकर राज्य में बुलाया जाय। ऋष्यशृंग स्त्री-संसर्ग-जन्य सुख से अनभिज्ञ एक सरलचित्त ऋषिकुमार थे। अतः यह सोचा गया कि उन्हें ऐसे पदार्थों से लुभाया जाय, जो उनकी इंद्रियों को उत्तेजित कर सकें। रोमपाद के पुरोहित ने यह सुझाव दिया दिया कि सुंदर वेश्याओं को वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर ऋषिकुमार को प्रलोभित करने से लिए भेजा जाय। वेश्याओं के चुनाव और उन्हें भेजने का काम मंत्रियों के ही सुपुर्द था (१।१०)। इससे ज्ञात होता है कि मंत्रिगण वेश्याओं से सुपरिचित थे और वे राजकीय मामलों से

अधिकृत रूप से संवद्ध रहती थीं।

वेश्याओं और नर्तकियों की उपस्थिति राजकीय शिष्टाचार के निर्वाह के लिए आवश्यक थी। शान-शौकत के प्रति भारतीयों की नैसर्गिक अभिरुचि भी उनके उपयोग को प्रोत्साहित करती थी। ये वेश्याएं साधारण वारवनिताओं से भिन्न थीं। सभी राजकीय समारोहों में इनकी सेवाएं स्वीकार की जाती थीं। राम के यौवराज्याभिषेक की तैयारी कराते समय वशिष्ठ ने यह आदेश दिया था कि अलंकृत वेश्याएं राजमहल की दूसरी कक्ष्या में मौजूद रहें।[1] वेश्याएं निश्चय ही अशुभ नहीं मानी जाती थीं, तभी तो राम के वनवास से लौटने पर भरत ने उनका स्वागत करने के लिए गणिकाओं का समूह तैयार रखा था।[2] ये स्त्रियां किसी भी सैनिक अभियान का अनिवार्य अंग हुआ करती थीं; शाही फौजें इन्हें अपने साथ रखती थीं। दशरथ ने सुमंत्र को यह आज्ञा दी थी कि राम के साथ वन में एक चतुरंगिणी सेना भेजने की व्यवस्था की जाय, जिसमें मधुरभाषिणी वेश्याएं भी हों।[3] इस प्रकार वेश्याएं राजाओं की छत्रछाया में रहती थीं, और राजकीय मनोरंजन का एक साधन मानी जाती थीं।

सैन्य-व्यवस्था का ही नहीं, नागरिक जीवन का भी वेश्याएं एक अभिन्न अंग थीं। अयोध्या नगरी गणिकावरशोभिता थी (२।५१।२१)। सामान्य वेश्याएं 'रूपाजीवाः' रूप से आजीविका चलानेवाली कहलाती थीं (२।३६।३)। यद्यपि रामायण में यह नहीं बताया गया है कि वे अपना पेशा किस तरह करती थीं, तथापि ऋष्यश्रृंग पर अपना जादू चलाने के लिए उन्होंने जिन उपायों का आश्रय लिया, उनसे उनकी गति-विधि का पर्याप्त आभास मिल जाता है (१।१०)।

१. सर्वे च तालाचरा गणिकाश्च स्वलंकृताः। कक्ष्यां द्वितीयमासाद्य तिष्ठन्तु नृपवेश्मनः॥ २।३।१८; २।१४।३९ भी देखिये।

२. गणिकाश्चैव सर्वशः। अभिनिर्यान्तु रामस्य द्रष्टुं शशिनिभं मुखम्॥ ६।१२७।५

३. रूपाजीवाश्च वादिन्यो...शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनीः सुप्रसारिताः।२।३६।३

: ११ :

नारी—समाज में

पिछले अध्याय में रामायण-काल में नारी की स्थिति का, विशेषकर घर की, दृष्टि से मूल्यांकन किया गया था। इस अध्याय में नारी की सामाजिक स्थिति का अवलोकन करके उसके प्रति आर्यों के सामान्य दृष्टिकोण का विवेचन किया गया है, जिससे पाठकों के समक्ष तत्कालीन नारी-समाज की समग्र परिस्थिति का एक सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत हो सके।

सिद्धांततः नारी को अपने-आपकी रक्षा करने में असमर्थ माना जाता था, अतः वह पति, पुत्र या बंधु-बांधवों के ही अधीन रहने के योग्य थी।[1] किंतु व्यवहार में इसका अर्थ यह नहीं था कि वह सदा घर की चहारदीवारी में कैद रहती थी। जीवन कहीं नीरस न बन जाय, अतः वह सामूहिक भोजों, धार्मिक समारोहों, प्रदर्शनों और क्रीड़ा-विनोद में मुक्त भाव से संमिलित होती थी। सामूहिक अवसरों पर वह अपने समस्त अलंकरणों में पूरी सजधज के साथ उपस्थित होकर वातावरण में उल्लास और चमक-दमक का संचार कर देती थी। सार्वजनिक उत्सवों में—जबकि राजधानी एक अलंकृत रमणी-जैसे सुंदर वेश में सज्जित होती थी, कहीं मंद और कहीं उच्च स्वर में संगीत-ध्वनि सुनाई पड़ती थी तथा सूत और मागधगण जन-संकुल मार्गों को और भी कोलाहलमय बना देते थे। नर्तकियां और सुंदर नारियां अवसर की चित्र-विचित्रता में अभिवृद्धि करने के लिए मौजूद रहती थीं।

राम के यौवराज्याभिषेक के दिन अयोध्या के नर-नारी और बालक उत्कंठित होकर राजमार्गों पर खड़े थे—उन्हें सूर्योदय की इतनी आकांक्षा नहीं थी, जितनी उस महोत्सव के आरंभ होने की।[2] राम का राजप्रासाद उनका अभिनंदन करने के लिए

---

१. गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः। तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नैव विद्यते॥ २।६१।२४

२. ततो ह्ययोध्यानिलयः सस्त्रीबालाकुलो जनः। रामाभिषेकमाकांक्षन्नाकांक्षन्नुदयं रवेः॥ २।५।१६

आये हर्ष-मग्न नर-नारियों से परिपूर्ण था (हृष्टनारीनरयुतम्, २।५।१४)। सारा नगर मानो अपने प्रिय युवराज की जयजयकार करने उमड़ पड़ा, और इसमें स्त्रियों ने भी उल्लेखनीय योग दिया था। जब राम रथ पर विराजमान होकर पताकाओं से सुसज्जित एवं सुगंधित द्रव्यों से सुवासित राजमार्ग के बीच से जा रहे थे, तब महलों की अटारियों और झरोखों में बैठी वस्त्राभूषणों से विभूषित वनिताएं सब ओर से उनपर फूलों की वर्षा कर रही थीं। मार्गों पर भी स्त्रियां बड़ी संख्या में खड़ी थीं और ये तथा महलों पर स्थित नारियां दोनों राम की तथा उनकी माता और पत्नी की प्रशस्तियां गा रही थीं (२।१६।३७-४१)।

राम के वनवास से लौटने पर उनका जो अभूतपूर्व स्वागत किया गया, उसमें स्त्रियों का योग और भी अधिक दर्शनीय था। सारी अयोध्या नगरी उनके स्वागतार्थ नंदिग्राम को उमड़ चली। सैनिक और उनकी पत्नियां, सूत और मागध, वारवनिताएं, राजकुल की नारियां, सभी उनके सत्कारार्थ चल पड़े। कौसल्या और सुमित्रा को आगे करके दशरथ की सब पत्नियां सवारियों पर बैठकर चलीं। नंदिग्राम से अयोध्या तक के सारे राजमार्ग की सजावट की गई। राम के आगमन पर सब पुरवासियों की हर्ष-ध्वनि से आकाश गूंज उठा। दशरथ की रानियों ने सीता और वानर-स्त्रियों का अपने हाथों से शृंगार किया। श्रेष्ठ आभूषणों से विभूषित तथा शुभ कुंडलों से अलंकृत वे अन्य रथों में चढ़कर राम के रथ के पीछे-पीछे नगर की शोभा देखते-देखते चलने लगीं। राम के आगे कन्याएं चल रही थीं। प्रसन्नमन ब्राह्मण-कुमारिकाएं स्थान-स्थान पर उन्हें फल अर्पित करके प्रदक्षिणा कर रही थीं।[1] उनके अभिषेचन में भी कन्याओं ने भाग लिया था (६।१२७।८)।

इनके अतिरिक्त, राजागण बड़े-बड़े यज्ञ-समारोह किया करते थे, जिनमें सभी तरह के अभ्यागत आते और आनंद मनाते थे। महिलाएं भी इन समारोहों में बड़ी संख्या में भाग लेतीं और पुरुषों की तरह विभिन्न भोज्य-पदार्थों का आस्वादन करती थीं। महाराज दशरथ के यज्ञ-समारोह में भिन्न-भिन्न देशों से आये स्त्री-पुरुषों को अन्न-पान से परितृप्त किया गया था (१।१४।१६,१३)। गोमती-तट पर होनेवाले राम के अश्वमेध यज्ञ में देश-देशांतर से द्विजगणों को सपत्नीक आमंत्रित किया

---

१. तुलना कीजिये—कदा सुमनसः कन्या द्विजातीनां फलानि च। प्रदिशन्तः पुरीं हृष्टाः करिष्यन्ति प्रदक्षिणम्॥ २।४३।१५

गया था। ऋषियों को भी उनकी पत्नियों-सहित बुलवाया गया था। नट-नर्तकों और अन्य लोगों के साथ यौवनशाली नारियां, राजमाताएं तथा राजकुमारों के अंतःपुर की स्त्रियां भी नैमिषारण्य में संपन्न होनेवाले उस अविस्मरणीय यज्ञ में भाग लेने गई थीं। वहां अनेक स्त्रियों के साथ विभीषण ने महर्षियों का आतिथ्य किया था (७।९१)।

अन्य दृष्टियों से भी नारी-वर्ग संसार और उसके विविध अनुभवों से अलग-थलग नहीं रहता था; पुरुष-वर्ग के साथ ही वह सभी प्रवृत्तियों में भाग लेता था। सेना के अनुगामी दलों में स्त्रियां भी संमिलित रहती थीं। चेटियां अथवा दासियां, वेश्याएं (रूपाजीवाः, २।३६।३), सैनिकों की स्त्रियां (वध्वः, २।९१।६४) तथा सस्त्रीक नट लोग सैनिकों के मनोरंजन के लिए फौज के साथ रहते थे। सैन्य-शिविर में कैसा उन्मुक्त खान-पान और आमोद-प्रमोद चलता था, तथा उनमें स्त्रियां भी कैसे निर्द्वंद्व भाव से बह जाती थीं, इसका विशद परिचय भरद्वाज-आश्रम में भरत की सेना के पड़ाव के वर्णन से प्राप्त होता है (२।९१)।

पुरुषगण यात्रा और विहार में या मित्रों-संबंधियों के यहां जाते समय अपनी स्त्रियों को अवश्य साथ रखते थे। पति को प्रभावित करनेवाली समस्याओं में पत्नी को भुला नहीं दिया जाता था। पर्वतों, घाटियों, वनों-उपवनों आदि में पति के विहार करते समय पत्नी उसकी 'क्रीड़ा-सहाय' बनती थी। नर्मदा की कल-कल ध्वनि से निनादित विंध्य पर्वत की रमणीय उपत्यकाओं में रावण ने सभी प्रकार के लौकिक-अलौकिक प्राणियों को अपनी प्रेमिकाओं के साथ क्रीड़ा-विनोद में मग्न देखा था (७।३१।१५-७)।

स्त्रियों को अकेले या अपनी सखियों के साहचर्य में आमोद-प्रमोद करने के साधन और अवसर प्राप्त थे। प्रकाश और वायु, प्रकृति के इन दो वरदानों से वे निश्चय ही वंचित नहीं रखी जाती थीं। सुमंत्र को तो वैदेही प्रवास के लिए ही बनी जान पड़ती थीं—**उचितेव प्रवासानां वैदेही प्रतिभाति मे** (२-६०।८)।

उत्तरकांड के अनुसार, स्त्रियों को पुरुषों की ही तरह न्यायालय में जाकर धर्मासन पर आसीन राजा के समक्ष शिकायत पेश करने का अधिकार प्राप्त था (७।५३।५)।

सारी रामायण में ऐसा संकेत कहीं नहीं मिलता कि आश्रमों में सीता-जैसी युवती स्त्री की उपस्थिति आश्रमवासियों के लिए या स्वयं राम और सीता के लिए संकोच-

जनक मानी गई हो। जिन-जिन आश्रमों में राम और सीता गये, सर्वत्र उनका परिचितों की तरह आदरपूर्वक स्वागत किया गया। जब राम महर्षि भरद्वाज के आश्रम में पहुंचे, तब उन्होंने मुनिवर से अपनी पत्नी का यह कहकर परिचय कराया कि यह विदेहराज की पुत्री और मेरी कल्याणमयी पत्नी सीता हैं, जो निर्जन तपोवन में भी मेरा साथ देने के लिए आई हैं। शिष्यों और मुनियों के समूह में बैठे हुए महर्षि ने सीता-सहित राम का आतिथ्य किया और अपने ही आश्रम में निवास करने का आग्रह किया (२।५४)। कहीं भी सीता को अनावश्यक लाज-संकोच नहीं हुआ और न कहीं उनकी स्वाभाविक विशेषताओं ने उनका साथ छोड़ा। ऋषि शरभंग के आश्रम में सीता ने पति के साथ उनकी यज्ञशाला में जाकर उन्हें प्रणाम किया और उनका आतिथ्य ग्रहण किया। अगस्त्य मुनि के आश्रम में पहुंचने पर लक्ष्मण ने उनके पास यह सूचना भिजवाई कि महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र महाबली राम अपनी पत्नी सीता के साथ आपके दर्शन करने आये हैं। अगस्त्य ने स्वयं अपने शिष्यों-सहित बाहर आकर सीता का स्वागत किया और कहा कि यह परम प्रशंसनीय और पतिव्रताओं में अरुन्धती के समान अग्रगण्य हैं। आज से इस देश की शोभा बढ़ गई, जहां सीता के साथ राम और लक्ष्मण निवास करेंगे—

अलंकृतोऽयं देशश्च यत्र सौमित्रिणा सह।
वैदेह्या चानया राम वत्स्यसि त्वमरिन्दम॥ ३।१३।८

इन आश्रमों के प्राकृतिक वातावरण में निवास करने से सीता के सबल स्त्री-पक्ष का भी विकास हुआ। चित्रकूट में रहते समय सीता भी राम के साथ प्रकृति-पर्यवेक्षण, वन-पर्यटन और नदी-विहार के लिए जाया करती थीं (२।९४-६)। अयोध्या के दरबारी शिष्टाचार ने यदि उनके मन में भीरुता या कोमलता उत्पन्न कर दी हो तो वह एक वर्ष के वनवास से ही दूर हो चुकी थी। चित्रकूट में राम ने राक्षसों को कुपित कर दिया था और इनके आतंक से वहां के निवासी अन्यत्र चले गये थे। ऐसे स्थान में एक युवती स्त्री का वास करना बड़े साहस की बात थी (२।११६)। बारह वर्ष के वनवास के बाद सीता एक कोमलांगी और असहाय पत्नी न होकर एक वीर और साहसी रमणी बन चुकी थीं। पंचवटी में वह, राम-लक्ष्मण की अनुपस्थिति में, अपने श्वसुर के मित्र जटायु के संरक्षण में रहती थीं। रावण के हाथों उनके घायल

हो जाने पर सीता ने उनका आलिंगन करके विलाप किया था।[1] अपरिचितों के समक्ष उन्हें कोई झिझक नहीं रही। भिक्षु-वेशधारी रावण का उन्होंने अकेले ही निस्संकोच अतिथि-सत्कार किया था। उसके अनुचित और अश्लील संकेतों से हतप्रभ न होकर उन्होंने सत्कारक की मर्यादा का पालन करते हुए उससे सहज वार्तालाप भी किया (३।४६-७)। जान पड़ता है, सीता ने सबल मन के साथ सबल शरीर भी बना लिया था। तभी तो दुर्धर्ष रावण को भी उन्हें बलपूर्वक ले जाने में और अपने पंजे से निकलकर न भागने देने में पर्याप्त शारीरिक बल का प्रयोग करना पड़ा था।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उच्च वर्ग, विशेषकर क्षत्रिय-वर्ग की महिलाओं को (जिनकी स्थिति का रामायण में मुख्य रूप से विवेचन है) इतनी स्वतंत्रता मिली हुई थी, जितनी पश्चिम के समुन्नत सामंती युग की नारियों को भी शायद प्राप्त न रही हो।

इस प्रसंग में अंतःपुर के अस्तित्व और उसके दुष्परिणामों को भी आंखों से ओझल नहीं किया जा सकता। बहु-विवाह-प्रथा की व्यापकता के कारण अंतःपुर उस युग की संपन्न गृह-व्यवस्था के अंग बन चुके थे। इन अंतःपुरों में बीसियों स्त्रियां एक ही पुरुष के साथ विवाह-बंधन से जकड़ी रहती थीं। यह परिस्थिति उनकी स्वतंत्रता को बहुत सीमित कर देती थी। अंतःपुर या रनवास महल की सबसे भीतरी ड्योढ़ी होता था और उसकी रक्षा में स्त्री-द्वारपाल (प्रतीहारी), कुबड़ी और नाटी स्त्रियां तथा हिंजड़े (वर्षंवर) तत्पर रहते थे। इन सबके ऊपर वयोवृद्ध 'स्त्र्यध्यक्षों' का निरीक्षण रहता था, जिनको सुमंत्र ने गेरुआ वस्त्र पहने और हाथ में छड़ी लिये हुए राम के अंतःपुर के दरवाजे पर सावधानी से बैठे देखा था।[3] किंतु अंतःपुर को इस प्रकार सुरक्षित रखने की प्रथा का धनी एवं अभिजात

१. आलिंग्य गृध्रं निहतं रावणेन बलीयसा। विललाप सुदुःखार्ता सीता शशिनिभानना॥ ३।५२।१

२. जहार पापस्तरुणीं विचेष्टतीं नृपात्मजामागतगात्रवेपथुः। ३।५३।२६; तामकामां स कामार्तः पन्नगेन्द्रवधूमिव। विचेष्टमानामादाय उत्पपाताथ रावणः॥ ३।४९।२२; ३।५२।६-९ भी देखिये।

३. अत्र काषायिणो वृद्धान्वेत्रपाणीन् स्वलंकृतान्। ददर्श विष्ठितान् द्वारि स्त्र्यध्यक्षान् सुसमाहितान्॥ २।१६।३

वर्गों में सामान्यतः प्रचलन था; सामाजिक प्रतिष्ठा, संमान एवं कुलीनत्व की सूचक होने के साथ-साथ वह शत्रु-पक्ष के कुचक्रियों और अनधिकृत लोगों का प्रवेश रोकने के लिए भी आवश्यक मानी जाती थी। बहुविवाह की प्रथा भी तत्कालीन समाज-व्यवस्था में सर्वथा अनिंदित थी। सुरक्षित और पृथक् ड्योढ़ी में स्थित होने पर भी रनवास में महिलाओं के लिए सुविधा के समस्त उपकरण प्रस्तुत रहते थे। उद्यानों और क्रीड़ा के विविध साधनों से युक्त अलग-अलग प्रासादों में राजा की रानियां सुख-वैभव से परिपूर्ण, अभाव और असुविधा से पूरे, मनोनुकूल जीवन बिताया करती थीं

सुंदर स्त्रियों को उपहार में देने की प्रथा रामायण में अनेक वार पाई जाती है। राम को कर-रूप सुंदर दासियां भेंट की गई थीं (७।३९।११)। दशरथ का श्राद्ध करते समय भरत ने दिवंगत आत्मा की शांति के लिए ब्राह्मणों को दासियां दान में दी थीं।[1] वन-प्रस्थान करने से पहले राम ने तैत्तिरीय शाखा के एक आचार्य को कई दासियां भेंट की थीं (२।६२।१५-६)। पत्नी का दान पुण्योत्पादक कर्म समझा जाता था। वाली की मृत्यु पर तारा ने राम से यह प्रार्थना की थी कि जिस बाण से आपने मेरे पति का वध किया है, उसीसे मुझे भी मार डालिये, मैं मरकर उनके समीप चली जाऊंगी; संसार में ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में स्त्री-दान से बढ़कर दूसरा कोई दान नहीं है—**दारप्रदानाद्धि न दानमन्यत्प्रदृश्यते ज्ञानवतां हि लोके** (४।२४।६८)। तभी जब हनुमान ने भरत को राम के अयोध्या लौटने का सुसंवाद सुनाया, तब भरत ने प्रसन्न हो उन्हें सोलह कन्याएं पत्नीरूप में प्रदान कीं—ऐसी कन्याएं जो कुंडल पहने हुई थीं, जो शुभ आचरणवाली थीं, जिनका रंग सोने के समान था, जिनकी सुन्दर नाक और जांघें थीं, जिनका मुखमंडल चंद्रमा के समान सौम्य था, जो सभी प्रकार के आभूषणों से सज्जित थीं तथा जिनका जन्म अच्छे कुलों में हुआ था।[2] वाल्मीकि ने यह नहीं बताया है कि हनुमान् ने इन कन्याओं के उपहार को स्वीकार करके उनसे विधिपूर्वक विवाह किया या नहीं, फिर भी इतना स्पष्ट है कि स्त्रियों को उपहार में देना गौरव एवं प्रसन्नता का सूचक था।

---

१. दासीर्दासाँश्च...ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राज्ञस्तस्यौर्ध्वदेहिकम्। २।७७।३
२. सकुण्डलाः शुभाचारा भार्याः कन्यास्तु षोडश। हेमवर्णाः सुनासोरूः शशिसौम्याननाः स्त्रियः॥ सर्वाभरणसम्पन्नाः सम्पन्नाः कुलजातिभिः। ६।१२५।४४-५

रामायण का युग वैभव और विलास का समय था जब पुरुषों को स्नान कराने का कार्य तरुण और सुंदर दासियां किया करती थीं। लंका-विजय के बाद विभीषण ने राम से निवेदन किया कि शृंगार-क्रिया में निपुण कमलनयना स्त्रियां उपस्थित हैं, जो आपको विधिपूर्वक स्नान करा देंगी।[1] भरद्वाज के आश्रम में भरत के प्रत्येक सैनिक की सेवा में सात-आठ स्त्रियां नियुक्त थीं, जो तैल-मर्दन करके उसे नदी के सुंदर घाटों पर नहलातीं, फिर पोंछकर और पैर दबाकर मदिरा पिलाती थीं (२।६१।५३-४)। राम की बांहों का वर्णन करते हुए वाल्मीकि कहते हैं कि उत्तम सैरंध्रियां उबटन लगाते या अलंकार पहनाते समय उनका स्पर्श किया करती थीं।[2] राम चंदन लगाकर बहुमूल्य शय्याओं पर विश्राम किया करते थे और रूपवती अलंकृत स्त्रियां उनपर पंखा डुलाया करती थीं—

> यः सुखेनोपधानेषु शेते चन्दनरूषितः।
> वीज्यमानो महार्हाभिः स्त्रीभिर्मम सुतोत्तमः॥ २।४२।१५

तत्कालीन अश्वमेध-यज्ञों में राजागण अपनी रानियों को दक्षिणा के रूप में पुरोहितों को भेंट कर देते थे, यद्यपि इस भेंट के बदले धन भी दिया जा सकता था। दशरथ की चारों रानियां दक्षिणा के रूप में चारों पुरोहितों को प्रदान कर दी गई थीं।[3] तत्पश्चात् दशरथ ने रानियों के स्थान पर पुरोहितों को धन-धान्य देकर संतुष्ट किया (१।१३।४३-६)। इससे जान पड़ता है कि पुरोहितों को रानियां दान में दे देने की यह प्रथा एक औपचारिकता-मात्र रह गई थी, फिर भी इस औपचारिकता की स्वीकृति एवं उसका निर्वाह यह ध्वनित करता है कि स्त्री को निजी संपत्ति मानने की धारणा विद्यमान थी।

नारी की स्थिति और सत्ता को गिरानेवाले अन्य कारणों में तत्कालीन बहु-पत्नी-प्रथा प्रमुख थी। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, यह प्रथा अनेक स्त्रियों का भाग्य और जीवन एक ही पुरुष से जोड़ देती थी और उन्हें उसीके भोग-विलास का

---

१. अलंकारविदश्चैता नार्यः पद्मनिभेक्षणाः। उपस्थितास्त्वां विधिवत् स्नापयिष्यन्ति राघव॥ ६।१२१।३

२. भुजैः परमनारीणामभिमृष्टमनेकधा (बाहु)। ६।२१।३

३. होताध्वर्युस्तथोद्गाता हयेन समयोजयन्। महिष्या परिवृत्याथ वावातामपरां तथा॥ १।१४।३५, टीका देखिये।

साधन बना देती थी। दासियों का उपहार-रूप में भेंट किया जाना, गणिकाओं का मनोरंजन के साधनों के रूप में उपयोग तथा अप्सराओं के बारे में यह धारणा कि वे युद्ध में वीर-गति पानेवाले का स्वर्ग में प्रणय-क्रीडाओं से स्वागत करती हैं, ये सब नारी के 'इंद्रियार्थ' (विलास की सामग्री) मान लिये जाने के सूचक हैं। स्त्री-लंपट राक्षसों द्वारा आये दिन अनगिनत नारियों की खुलेआम लाज लूटी जाना, स्वर्ग के देवताओं का मर्त्यलोक की सुंदरियों की ओर आकृष्ट होना और उनका उपभोग करने के अवसर की ताक में रहना, दंड-जैसे राजा का मुनि-कन्या अरजा के पिता से उसकी पत्नी-रूप में याचना करने के बजाय उसपर बलात्कार ही कर डालना, आदि दृष्टांतों से प्रमाणित होता है कि समाज के लंपट और दुराचारी वर्गों के हाथों स्त्री का गौरव और संमान कितना खतरे में पड़ा हुआ था।

स्वयं राम भी कभी-कभी अपनी उक्तियों में ऐसा आभास देते हैं कि असाधारण परिस्थितियों में स्त्री की स्वतंत्र सत्ता या इच्छा का कोई स्थान नहीं है तथा उसके प्रति एक सर्वथा महत्त्वहीन एवं उपेक्षणीय प्राणी का-सा व्यवहार किया जा सकता है। उन्होंने कैकेयी से कहा था कि पिता की आज्ञा से मैं भरत को राज्य ही नहीं, अपनी पत्नी सीता भी दे सकता हूं।[1] एक अन्य स्थल पर संकेत करते हैं कि पत्नी इंद्रियों के विलास की एक सामान्य वस्तु है, जो जहां चाहे सुलभ हो सकती है। लंका की युद्धभूमि पर लक्ष्मण के मूर्च्छित हो जाने पर राम ने विलाप करते हुए कहा था—"प्रत्येक देश में स्त्रियां मिल सकती हैं, हर देश में जाति-भाई प्राप्त हो सकते हैं, परंतु ऐसा कोई देश नहीं दिखाई देता, जहां सहोदर भाई मिल सकता हो।"—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥ ६।१०१।१४

दूसरे शब्दों में राम भाई की तुलना में पत्नी को तुच्छ समझते थे। उनकी दृष्टि में जहां आत्म-सम्मान का प्रश्न उपस्थित हो, वहां पत्नी की भी बलि दी जा सकती थी। इसी कारण वह लोकापवाद के भय से लंका-विजय के बाद सीता का परित्याग करने को तैयार हो गए थे।

---

१. अहं हि सीतां राज्यं च...हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः। २।१९।७

इस प्रकार स्त्री एक वस्तु थी, एक तरह की निजी संपत्ति थी, जो स्वामी की इच्छानुसार ली-दी जा सकती थी। रावण ने राज्य, नगर और अन्न-वस्त्र-जैसी अपनी उपभोग्य संपत्ति के साथ-साथ अपनी स्त्रियों का भी उल्लेख किया था और वाली के साथ मैत्री स्थापित करते हुए कहा था कि आज से ये सब वस्तुएं हम दोनों की समान (अविभक्त) रहेंगी।[1] सीता ने ऐसे अभिनेताओं (शैलूषों) का वर्णन किया था, जो अपनी स्त्रियों को दूसरों के उपयोग के लिए दे देते हैं (**शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि,** २।३०।८)। इससे भी यह सूचित होता है कि पति पत्नी का स्वतंत्र और निरंकुश स्वामी है। निजी संपत्ति की भांति ही स्त्री की निरंतर रक्षा और देखभाल करनी चाहिए; उसे पूर्ण स्वतंत्र होने का अधिकार नहीं है। स्त्री की पहली शरण उसका पति, दूसरी उसके पुत्र और तीसरी उसके संबंधी हैं, चौथी शरण स्त्री की कोई है ही नहीं (२।६१।२४)। राम के अनुसार पत्नी और पुत्र गृह-जनों के नियंत्रण में होते हैं।[2] स्त्री का योगक्षेम (संरक्षण एवं भरण-पोषण) पुरुष की शक्ति और उसके श्रम पर निर्भर करता है।[3] क्योंकि विवाह करने का मुख्य उद्देश्य वंश की अविच्छिन्नता बनाये रखना था, अतः पति का यह कर्त्तव्य माना गया कि वह पत्नी की सावधानी से देखभाल करे (**दारा रक्ष्या विमर्शनात्,** ३।५०।८), क्योंकि यदि उसे स्वच्छंद छोड़ा गया, तो वह परिवार पर अपयश का टीका लगा सकती है।[4]

स्त्री को संपत्ति की नाईं समझने की उक्त भावना के बावजूद उसका प्रचुर संमान रामायणकालीन संस्कृति की विशेषता थी। महिलाओं के प्रति समाज शालीन व्यवहार एवं उच्च शिष्टाचार का पालन करता था। रथों, नावों और अन्य वाहनों पर चढ़ते समय उन्हें प्रथम स्थान दिया जाता था। जब राम, लक्ष्मण और सीता

---

१. **दाराः पुत्राः पुरं राष्ट्रं भोगाच्छादनभोजनम्। सर्वमेवाविभक्तं नौ भविष्यति हरीश्वर॥** ७।३४।४१

२, **कामकारो महाप्राज्ञ गुरूणां सर्वदानघ। उपपन्नेषु दारेषु पुत्रेषु च विधीयते॥**२।१०१।१८

३. **योगक्षेमो हि सीताया वर्तते लक्ष्मणावयोः।** २।५३।३

४. **तुलना कीजिये—मातुः कुलं पितृकुलं यत्र चैव च दीयते। कुलत्रयं सदा कन्या संशये स्थाप्य तिष्ठति॥** ७।९।११

सीता, राम, लक्ष्मण
और हनुमान
(वडक्कुपणयूर, तंजोर, से
प्राप्त कांस्य-मूर्तियां, चोल-
काल ८५०-११०० ई०,
राजकीय संग्रहालय, मद्रास)

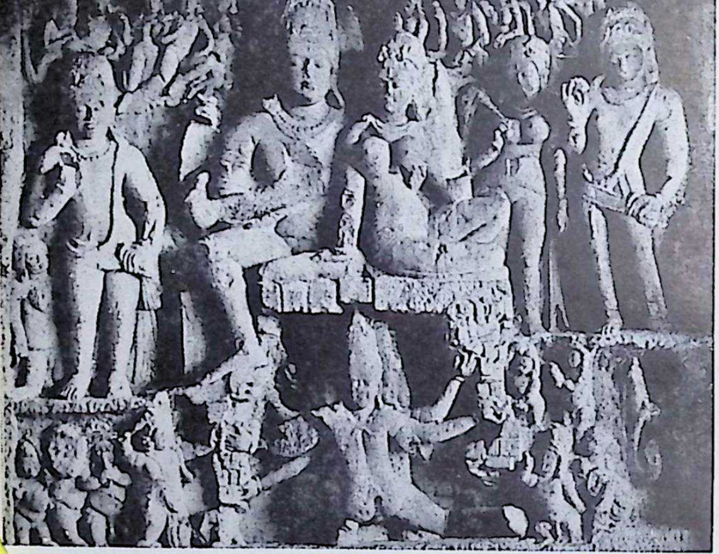

कैलास हिलाने का प्रयत्न करते हुए रावण (एलोरा, कैलास-मंदिर, आठवीं शताब्दी ई०, पुरातत्व-विभाग, भारत सरकार)

पुत्र-प्राप्ति के लिए यज्ञ करते हुए दशरथ
(शिव-मंदिर, प्रांबनन, जावा, नवीं शताब्दी ई०)

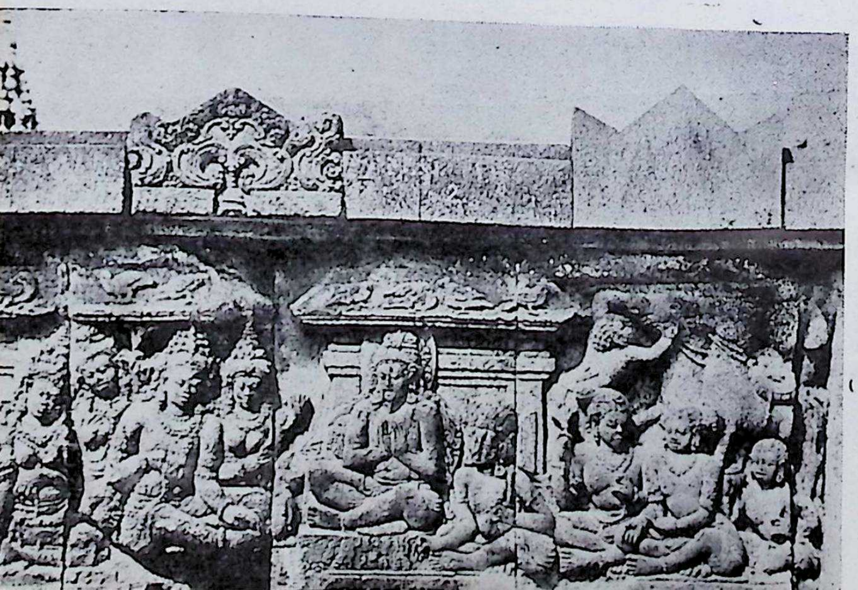

अहल्योद्धार
(देवगढ़, झांसी, पांचवीं शताब्दी ई०, पुरातत्व-विभाग, भारत सरकार)

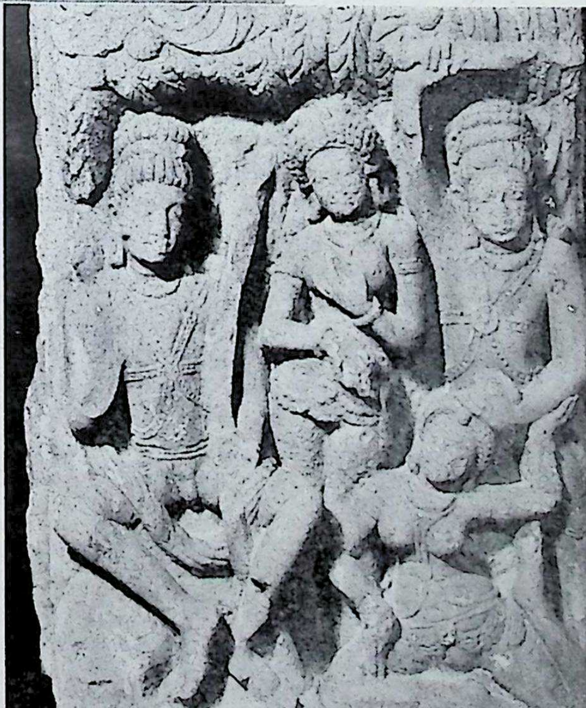

लक्ष्मण द्वारा शूर्पणखा का विरूपीकरण
(देवगढ़, झांसी, पांचवीं शताब्दी ई०, पुरातत्व-विभाग, भारत सरकार)

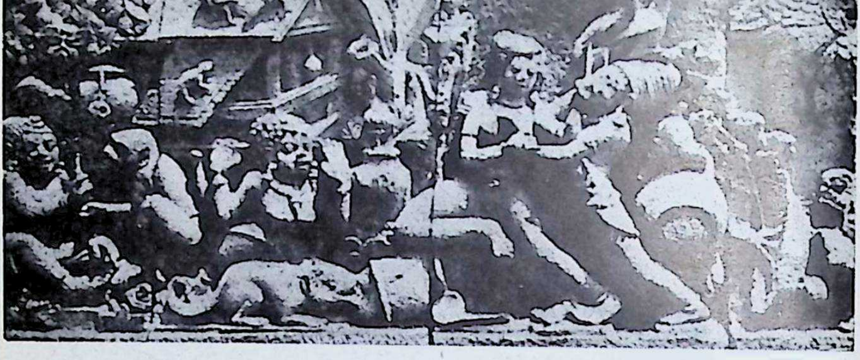

रावण द्वारा सीता का अपहरण (प्रांबनन, जावा, नवीं शताब्दी ई०)

रावण-जटायु-युद्ध (प्रांबनन, जावा, नवीं शताब्दी ई०)

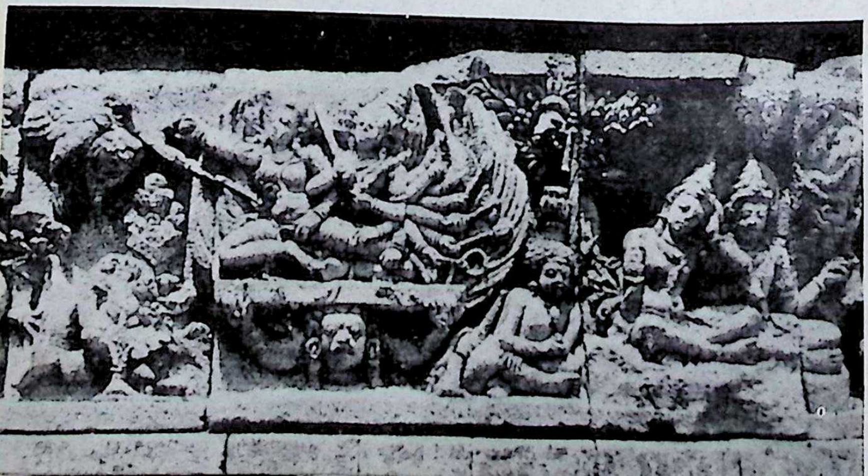

राम-लक्ष्मण का कवंध के साथ युद्ध (प्रांवनन, जावा, नवीं शताब्दी ई०)

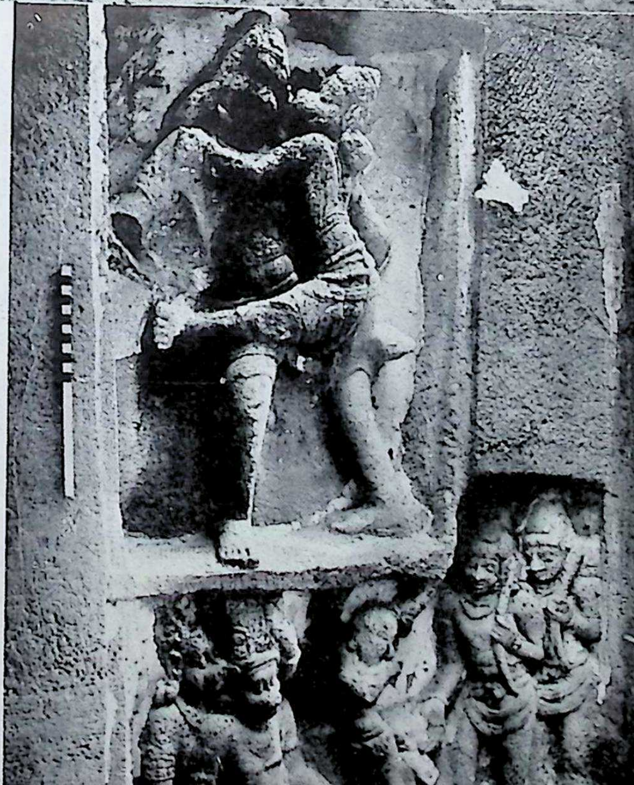

वाली-सुग्रीव-युद्ध (एलोरा, आठवीं शताब्दी ई० पुरातत्व-विभाग, भारत सरकार)

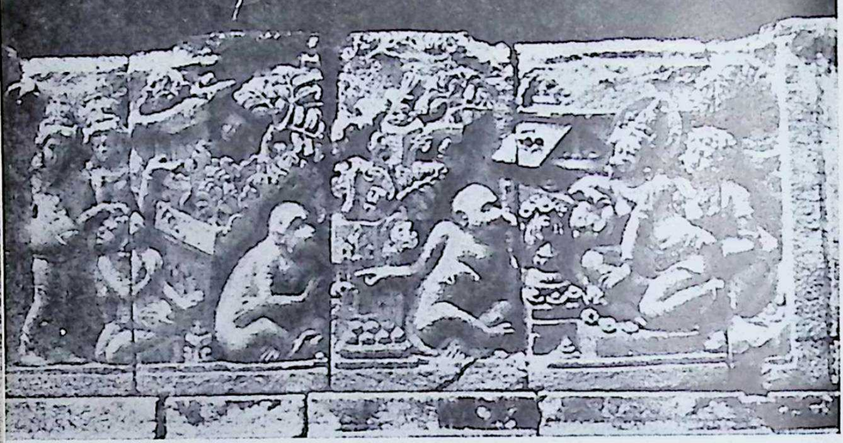

अशोकवाटिका में सीता के समक्ष हनुमान
(प्रांबनन, जावा, नवीं शताब्दी ई०)

हनुमान की पूंछ में आग
लगाते हुए राक्षस

जलती पूंछ से रावण के महल
पर कूदते हुए हनुमान

(प्रांबनन, जावा, नवीं शताब्दी ई०)

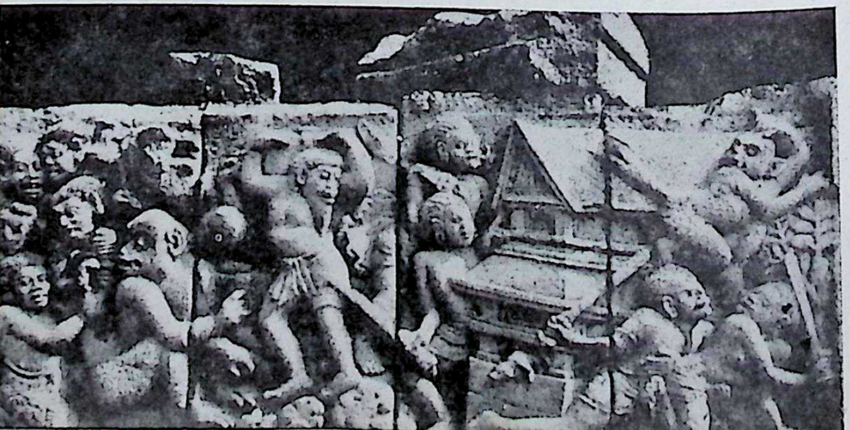

समुद्र पर सेतु-निर्माण के लिए पत्थर ले जाते हुए वानर
(प्रांबनन, जावा, नवीं शताब्दी ई०)

बानर-सेना के साथ नल-सतु पार करत हुए राम, लक्ष्मण और सुग्रीव
(प्रांबनन, जावा, नवीं शताब्दी ई०)

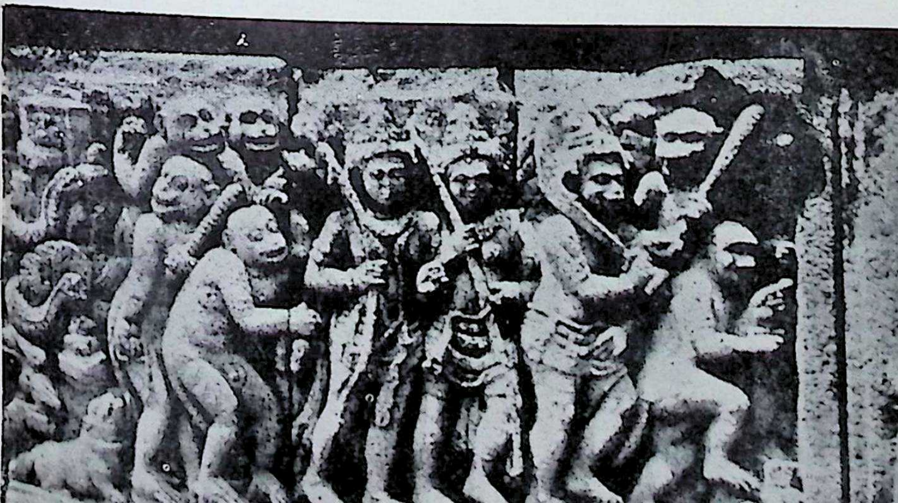

कोदंड राम
(कांस्य-मूर्ति, अठारहवीं शताब्दी ई०, पुरातत्व-विभाग, भारत सरकार)

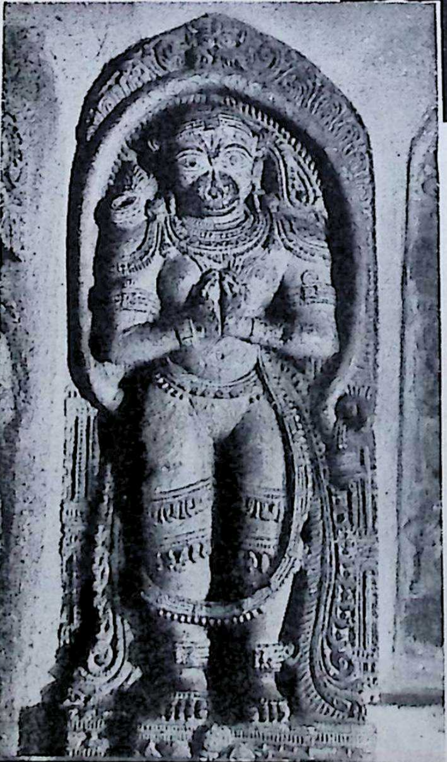

हनुमान
(वेलूर, मैसूर, बारहवीं शताब्दी ई०, पुरातत्व-विभाग, भारत सरकार)

ने वन की ओर प्रस्थान किया, तब सर्वप्रथम सीता ने रथ में अपना आसन ग्रहण किया, तत्पश्चात् दोनों भाई सवार हुए (२।४०।१३-७)। इसी प्रकार जब इन लोगों ने गंगा को पार किया, तब लक्ष्मण ने राम के आदेश से पहले सीता को नाव पर चढ़ाया और उसके बाद वह स्वयं चढ़े।[1] रथों में स्त्रियां आगे की ओर बैठाई जाती थीं। माता कौसल्या बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करती रहती थीं कि सीता को रथ में आगे बैठाकर राम वन से अयोध्या कब लौटेंगे—

कदायोध्यां महाबाहुः पुरीं वीरः प्रवेक्ष्यति।
पुरस्कृत्य रथे सीतां वृषभो गोवधूमिव॥ २।४३।२२

राजरानी के प्रति प्रजाजन और अनुचर प्रणाम द्वारा आदर-भाव प्रकट करते थे। अशोकवाटिका में हनुमान् ने सीता को सर्वप्रथम प्रणाम किया और फिर हाथ जोड़कर उन्हें संबोधित किया। कैकेयी ने दशरथ से कहा था कि राम-माता कौसल्या को राज-माता के रूप में प्रजाजनों की अंजलियां प्राप्त हों, इससे पहले मैं मर जाना ही श्रेयस्कर समझती हूं।[2] सीता को संबोधित करने से पूर्व विभीषण ने विनयपूर्वक सिर पर अंजलि उठाकर उन्हें नमस्कार किया था (**मूर्ध्नि बद्धांजलिः**, ६।११४।६)। परित्यक्ता सीता के प्रति वाल्मीकि का व्यवहार इस बात का सूचक है कि वनवासी मुनि लोग भी स्त्रियों के प्रति उचित शिष्टाचार का पालन करने में त्रुटि नहीं होने देते थे (७।४६)।

बड़े भाई की पत्नी माता के समान मानी जाती थी। लक्ष्मण नित्य सीता के चरणों में प्रणाम करते थे (**नित्यं पादाभिवंदनात्**, ४।६।२३)। मारीच-वध में संलग्न राम की सहायता के लिए न जाने पर लक्ष्मण को जब सीता ने किसी दुष्ट भाव से प्रेरित बताया, तब जितेंद्रिय लक्ष्मण ने हाथ जोड़कर उनसे कहा कि आप मेरे लिए साक्षात् देवता हैं, आपको प्रत्युत्तर देने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है (**उत्तरं नोत्सहे वक्तुं दैवतं भवती मम**, ६।४५।२८)।

कुलीन स्त्रियों के समक्ष अपने-आपको अकस्मात् उपस्थित कर देना असभ्यता थी। इसीलिए लंका-विजय के बाद विभीषण ने, जो राम का संदेश सीता को

---

१. **आरोप्य मैथिलीपूर्वमारुरोहात्मवांस्ततः।** २।५२।७६
२. **एकाहमपि पश्येयं यद्यहं राममातरम्। अंजलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मतिर्मम॥** २।१२।४८

देने जा रहे थे, पहले स्त्री-परिचारिकाओं द्वारा सीता को सूचना भिजवाई और फिर वह स्वयं उनके सामने उपस्थित हुए (६।११४।८)।

सुग्रीव के अंतःपुर में स्त्रियों के नूपुरों की झंकार सुनकर लक्ष्मण लज्जित हो गए; अपने धनुष की टंकार करके उन्होंने अपने आगमन की सूचना दी और अपनी कुलीनता का परिचय देते हुए वह एकांत में जाकर खड़े हो गए (४।३३।२५-७)।

रामायण में स्त्रियों की रक्षा करने का बार-बार आग्रह करने पर भी उनको वश में रखने के लिए किसी प्रकार के बल का प्रयोग अनुचित और हेय बताया गया है। स्त्रियों के सामने उत्तेजित अथवा क्रोधित होना मर्यादा के विपरीत है। तारा की उपस्थिति में लक्ष्मण ने अपने कोप का निवारण कर लिया था। महात्मा लोग स्त्रियों के प्रति कोई क्रूर व्यवहार नहीं करते थे (नहि स्त्रीषु महात्मानः क्वचित् कुर्वन्ति दारुणम्, ४।३३।३६)।

स्त्रियों की ओर घूरना असभ्यता थी। सुसंस्कृत व्यक्ति ऐसा कभी नहीं करते थे। मदविह्वलांगी वानरराज-पत्नी तारा को अस्त-व्यस्त रूप में देखते ही महात्मा लक्ष्मण सिर नीचा करके उदासीन भाव से खड़े हो गए (तस्थावुदासीनतया महात्मा, ४।३३।३९)। स्त्रियों के साथ चलते समय पुरुष आगे की ओर चलते थे और स्त्रियां उनका अनुसरण करती थीं। परित्यक्ता सीता को अपने आश्रम में ले जाते समय वाल्मीकि उनके आगे-आगे चले थे।[1] इस प्रथा के दो उद्देश्य थे— एक तो स्त्रियों की ओर घूरने का अवसर न देना, और दूसरे, उन्हें मार्ग दिखाना। लक्ष्मण ने सीता को घूरकर देखने की धृष्टता कभी नहीं की थी। जब वह राम की आज्ञा से सीता को वन में छोड़ने गये, तब सीता ने उन्हें अपनी असहाय-अवस्था का भान कराया और कहा कि मेरी ओर देखो, मैं पूर्ण गर्भावस्था में हूं, मेरे आसन्न-प्रसव के चिह्न क्या तुम्हें नहीं दिखाई देते (निरीक्ष्य माद्य गच्छ त्वमृतुकालानुवर्तिनीम्, ७।४८।१९)?

इसपर लक्ष्मण ने उत्तर दिया—

...किं मां वक्ष्यसि शोभने।
दृष्टपूर्वं न ते रूपं पादौ दृष्टौ तवानघे।
कथमत्र हि पश्यामि रामेण रहिता वने॥ ७।४८।२१-२

---

१. तं प्रयान्तं मुनिं सीता प्रांजलिः पृष्ठतोऽन्वगात्। ७।४९।१४

"आप यह क्या कह रही हैं ! आज तक मैंने चरणों के अतिरिक्त आपके रूप को कभी नहीं निहारा । यह तो निर्जन वन है और आर्य राम भी यहां नहीं हैं । ऐसी स्थिति में मैं अपनी दृष्टि आप पर कैसे डाल सकता हूं !"

स्त्रियों का अपहरण—नारी-चौर्य—एक घृणित अपराध था । विभीषण ने रावण से कहा था कि पराई स्त्री से संसर्ग रखना धर्म और अर्थ का नाशक तथा अपयश का दाता होता है (६।९।१३-२२)। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह बलात्कार से पराई स्त्रियों की अपनी ही स्त्री की भांति रक्षा करे ।[1] सीता ने रावण से कहा कि तुम अपने को उदाहरण-योग्य बनाओ और केवल अपनी स्त्रियों से रमण करो ।[2] पराई स्त्रियों का लोभी राजकुमार भी देश से निर्वासित कर दिया जाता था । राम के वनवास के कारण से अनभिज्ञ भरत ने कैकेयी से पूछा था कि कहीं राम पराई स्त्रियों पर तो आसक्त नहीं थे, जिसके फलस्वरूप उन्हें दंडकारण्य में निर्वासित कर दिया गया हो ?[3] किसी 'अकामा' (अनिच्छुक) स्त्री का बलात् उपभोग कठोर रूप से दंडनीय होता था ।[4]

स्त्रियों को 'अवध्या' अर्थात् न मारे जाने योग्य घोषित किया गया था । स्त्री का वध करनेवाला राजा, बालक या वृद्ध का वध करनेवाले के समान घृणित था ।[5] स्त्री का वध एक अनार्योचित कृत्य था—एक जघन्य कार्य, जो अपनी आयु का नाशक था तथा जिसके लिए परलोक में कठोर यातना भुगतनी पड़ती थी । जब इंद्रजित् (माया)-सीता का वध करने पर उतारू हो गया, तब हनुमान् ने

---

१. यथात्मनस्तथान्येषां दारा रक्ष्या विमर्शनात् । ३।५०।८; ७।२६।२९; ५।२१।८ भी देखिये ।

२. आत्मानमुपमां कृत्वा स्वेषु दारेषु रम्यताम् । ५।२१।८

३. कच्चिन्न परदारान्वा राजपुत्रोऽभिमन्यते । कस्मात्स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः ॥ २।७२।४५

४. तुलना कीजिये—यदा ह्यकामां कामार्तो धर्षयिष्यति योषितम् । मूर्धा तु सप्तधा तस्य शकली भविता तदा ॥ ७।२६।५५-६

५. राजस्त्रीबालवृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते । २।७५।३७

उसे चेतावनी दी कि स्त्री-हत्यारे मृत्यु के बाद उन लोकों को ले जाये जाते हैं, जहां कुत्सित अपराधी भी जाने में हिचकते हैं।[1]

समाज-विरोधी कार्यों के कारण जहां दुष्टा स्त्रियों का वध अनिवार्य हो जाता था, वहां भी मार डालने की अपेक्षा उन्हें विकृत या कुरूप कर देना अधिक उचित समझा जाता था, जैसाकि शूर्पणखा और अयोमुखी के उदाहरण से प्रकट है। शूर्पणखा ने रावण से कहा था कि राम ने मेरे प्राण इसलिए छोड़ दिये कि वह स्त्री-हत्या का पाप नहीं करना चाहते थे।[2] लक्ष्मण ने राक्षसी अयोमुखी के कान, नाक तथा स्तन काट डाले थे। राम ने ताटका-वध तभी किया जबकि समाज-हित की दृष्टि से उसे मार डालने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह गया। मानवता की रक्षार्थ दो स्त्रियों की हत्याओं का दृष्टांत-रूप में उल्लेख विश्वामित्र ने राम से किया था—एक तो विष्णु द्वारा भृगु-पत्नी का वध और दूसरा इंद्र द्वारा विरोचन की पुत्री मंथरा का वध (१।२५।२०-१)।

जब लंका की अधिष्ठात्री राक्षसी लंकिनी ने हनुमान् को प्रवेश करने से रोका, तब हनुमान् ने केवल अपने बाएं हाथ से उसे एक घूंसा जमाया और स्त्री जानकर उसपर अधिक क्रोध नहीं किया—**स्त्री चेति मन्यमानेन नातिक्रोधः स्वयं कृतः** (५।३।४१)। शत्रुघ्न चाहते थे कि कैकेयी की बुद्धि भ्रष्ट करनेवाली दासी मंथरा का काम तमाम कर दिया जाय; किंतु भरत ने उन्हें रोका और कहा कि स्त्रियों को सभी प्राणियों के हाथों वध से मुक्ति मिली हुई है; यदि तुम यह घृणित कार्य कर बैठोगे तो राम तुमसे बोलना छोड़ देंगे (२।७८।२१-३)। स्वयं रावण ने सीता द्वारा कई बार अपमानित होने पर भी उनका वध नहीं किया, क्योंकि ऐसा कार्य वीरोचित नहीं था।

इस प्रसंग में अपहृत नारियों के प्रति तत्कालीन समाज के दृष्टिकोण की समीक्षा करना आवश्यक है। जो स्त्रियां एक बार शत्रुओं या दुष्टों के फेर में अनिच्छा से पड़ जाती हैं और जिन्हें फिर किसी प्रकार उनसे छुटकारा पाकर अपना पूर्व पारि-

---

१. **ये च स्त्रीघातिनां लोका लोकवध्यैश्च कुत्सिताः। इह जीवितमुत्सृज्य प्रेत्य तान्प्रतिलप्स्यसे॥** ६।८१।२२

२. **एका कथंचिन्मुक्ताहं परिभूय महात्मना। स्त्रीवधं शंकमानेन रामेण विदितात्मना॥** ३।३४।१२

वारिक जीवन व्यतीत करने का सुयोग मिल जाता है, क्या ऐसी स्त्रियों को समाज अपने अंक में पुन: स्थान देने को तैयार है ? इस प्रश्न का उत्तर ही स्त्रियों के प्रति किसी समाज के सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार की खरी कसौटी माना जायगा।

रामायण में ऐसी कई स्त्रियों के उदाहरण आये हैं, जिनका बलात्कार से सतीत्व-भंग किया गया हो, अथवा जो बलपूर्वक अपहृत होकर शत्रु-गृह में रही हों। राक्षसराज रावण ने राजाओं, ऋषियों, देवताओं और दानवों की अनेक विवाहित-अविवाहित कन्याओं का अपहरण करके उन्हें अपने अंत:पुर में भर रखा था। उनकी दशा सिंह के पंजे में पड़ी हरिणियों की-सी थी—उन्हें अपने दु:ख का कोई छोर नहीं दिखाई देता था। रावण की मृत्यु हो जाने पर इन स्त्रियों की क्या दशा हुई, उन्हें समाज में पुन: संमानपूर्ण स्थान मिला या नहीं, इस विषय पर वाल्मीकि ने कोई प्रकाश नहीं डाला है।

उत्तरकांड (७।८०-१) में भार्गव-ऋषि की कन्या अरजा की कथा विस्तार से वर्णित है। एक बार विंध्यप्रदेश का राजा दंड भार्गव ऋषि के आश्रम में जा पहुंचा, जहां उसने मुनि की अपूर्व सुंदरी कन्या अरजा को विचरण करते देखा। राजा उसपर मोहित हो गया और उसने उससे प्रेम की भिक्षा मांगी। किंतु अरजा ने अपनेको पिता के सर्वथा अधीन बताते हुए असमर्थता प्रकट की और कहा कि आप मेरे पिता से मेरी याचना कर लें। आपकी प्रार्थना पर वह मुझे आपको समर्पित कर देंगे। किंतु कामोन्मत्त राजा दंड ने मस्तक पर अंजलि उठाकर समागम के लिए पुन: प्रार्थना की और अंत में विह्वल हो बलपूर्वक उस मुनि-कन्या का उपभोग कर लिया। इस दुष्कृत्य के बाद राजा तो शीघ्रता से अपनी राजधानी मधुमंत लौट गया और बेचारी अरजा भयभीत हो रोती हुई आश्रम के समीप पिता की प्रतीक्षा करने लगी।

जब भार्गव ऋषि ने अपने शिष्यों से अरजा का सारा वृत्तांत सुना, तब उनकी क्रोधाग्नि भभक उठी और उन्होंने सात दिन में दंड के राज्य का सर्वनाश कर देने की प्रतिज्ञा की। इसपर सारे आश्रमवासी आश्रम खाली करके दंड के राज्य से बाहर चले गये। ऋषि ने अपनी पुत्री को भी सर्वथा निर्दोष नहीं माना और 'दुर्मेधा' (दुर्बुद्धि) कहकर उसकी भर्त्सना की, क्योंकि कामातुर राजा के बलात्कार को स्वीकार और सहन कर उसने भी तो इस पापाचरण में सहयोग दिया था। आश्रम से जाने से पहले मुनि ने अपनी पुत्री को वहीं रहकर तपस्या में निरत रहने

की आज्ञा दी। स्पष्टतः अरजा के लिए विवाह का प्रश्न ही समाप्त हो गया और पिता के आदेशानुसार उसने निर्जन आश्रम में जीवनपर्यंत तपस्या करने का ही संकल्प कर लिया। भार्गव ऋषि का व्यवहार यह सूचित करता है कि वह अपनी बलपूर्वक दूषित की गई पुत्री को स्वीकार करने को प्रस्तुत नहीं थे और उन्होंने उसका सदा के लिए परित्याग कर दिया।

अपहृत नारियों का इतिहास-प्रसिद्ध उदाहरण सीता का है, जिनको रावण ने पंचवटी से हरकर अपने यहां एक वर्ष तक बंदी-रूप में रखा था। रावण के वध के पश्चात् राम सीता को अंगीकार करने को तैयार नहीं हुए, क्योंकि उन्हें अपनी पत्नी की सच्चरित्रता में संदेह हो गया था। उन्होंने सीता से कहा, "अपने तिरस्कार का बदला चुकाने के लिए मनुष्य का जो कर्तव्य है, वह सब मैंने किया। अपने संमान की रक्षा के लिए मैंने रावण का नाश कर डाला। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि मैंने जो यह युद्ध का परिश्रम उठाया है तथा इन मित्रों के पराक्रम से इसमें विजय पाई है, वह सब तुम्हें पाने के लिए नहीं, अपितु सदाचार की रक्षा करने, अपनेको अपवाद से मुक्त करने तथा अपने विख्यात वंश का कलंक मिटाने के लिए ही किया है। तुम्हारे चरित्र में संदेह का अवसर उपस्थित है, फिर भी तुम मेरे सामने खड़ी हो। जैसे आंख के रोगी को दीपक की ज्योति नहीं सुहाती, वैसे ही आज तुम अत्यन्त अप्रिय जान पड़ती हो। इसलिए जानकी, तुम्हारी जहां इच्छा हो चली जाओ; मैं अपनी ओर से तुम्हें अनुमति देता हूं। दसों दिशाएं तुम्हारे लिए खुली हैं। मुझे अब तुमसे कोई मतलब नहीं। कौन ऐसा कुलीन पुरुष होगा, जो तेजस्वी होकर भी दूसरे के घर में रही हुई अपनी स्त्री को ग्रहण करेगा? रावण की गोद में बैठकर तुम अपवित्र हो चुकी हो और उसने कामातुर नेत्रों से तुम्हें देखा है। अपने ही घर में तुम-जैसी अद्वितीय सुंदरी को पाकर क्या उसने तुम्हें छोड़ दिया होगा? इसलिए अपने कुल-गौरव का अभिमान करनेवाला मैं तुम्हें कैसे स्वीकार कर सकता हूं? अतः अब तुम जहां जाना चाहो, जा सकती हो। मेरा तुमसे कोई अनुराग नहीं (६।११५।१३-२४)।"

इसपर सीता ने सदाचार की शपथ खाकर कहा—"आप मुझे जैसी समझ रहे हैं, वैसी मैं नहीं हूं। रावण के शरीर से मेरे शरीर का जो स्पर्श हो गया है, उसमें मेरी विवशता ही कारण है। मैंने स्वेच्छा से ऐसा नहीं किया था, इसमें मेरे दुर्भाग्य का दोष है। परंतु मेरा हृदय मेरे अधीन है, और वह सदा आप ही में लगा रहता है (६।११६।८-९)।" राम को सीता के इस स्पष्टीकरण से संतोष नहीं

हुआ और उन्होंने उनको तभी स्वीकार किया, जब एक दिव्य साक्षी ने उनकी सच्चरित्रता का प्रमाण दिया।

राम के उपर्युक्त कथन के विपरीत रामायण में ऐसे अनेक कथन हैं, जिनसे यह स्पष्ट आभास मिलता है कि वह सीता को रावण के चुंगल से इसलिए छुड़ाना नहीं चाहते थे कि उनके यश पर लगा कलंक धुल जाय, वरन् इसलिए कि वह अपनी उस प्राणप्रिय भार्या को पुनः सुखी और प्रसन्न कर सकें, जिसने शारीरिक कष्टों की परवा न करते हुए स्वेच्छा से उनका वनवास में साथ दिया था (४।१।१०३-६)। लंका पर आक्रमण करने के लिए जब राम समुद्र पार करने की तैयारी करते हैं, तब उन्हें यह स्मरण कर अत्यंत क्लेश होता है कि वह पंचवटी में सीता की कातर वाणी नहीं सुन पाये और समय पर उनकी रक्षा करने न पहुंच सके। यही नहीं, वह बड़ी व्यग्रता, आतुरता और विह्वलता के साथ उस घड़ी की प्रतीक्षा करते हुए जान पड़ते हैं, जब सीता उत्कंठावश उनके गले से लिपटकर आनंद के आंसू बहायेगी (६।५।७,२०)। वाल्मीकि ने ऐसा संकेत कहीं नहीं दिया है कि लंका-विजय के बाद राम सीता को, पर-घर में रहने के कारण, त्याग देना चाहते थे। ऐसी स्थिति में रावण-वध के पश्चात् सीता के प्रति राम का उपर्युक्त कथन अस्वाभाविक एवं विस्मयकारक जान पड़ता है। किंतु इसका वास्तविक कारण हमें सीता की अग्नि-शुद्धि के बाद ज्ञात होता है, जब राम कहते हैं—"सीता की पवित्रता की परीक्षा लोक-दृष्टि से आवश्यक थी, क्योंकि इन्हें बहुत दिनों तक रावण के अंतःपुर में रहना पड़ा है। यह बात मैं भी जानता हूं कि जनकनंदिनी सीता का मन मुझमें ही लगा रहता है और यह मेरी इच्छाओं का ही अनुसरण करती हैं। लंका में यह अपने तेज से सुरक्षित थीं, अतः रावण इनका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता था। तथापि यदि मैं इनकी परीक्षा न करता, तो संसार यही कहता कि दशरथ-पुत्र राम बड़ा मूर्ख और कामी है" (६।११८।१३-६)।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकापवाद के भय से ही राम सीता का त्याग करने को उतारू हो गए थे और इसी कारण उन्हें संसार को सीता के निष्कलंक होने का प्रमाण उनकी अग्नि-परीक्षा कराकर देना पड़ा।

लोकापवाद का यही भय उत्तराकांड में वर्णित सीता के अंतिम परित्याग का कारण हुआ। अयोध्या का रूढ़िवादी और कट्टर समाज अपहृत स्त्री को परिवार

और समाज में उसका पूर्व स्थान देने को प्रस्तुत न था। इसी कारण राम के अयोध्या लौटने के कुछ ही दिनों बाद राज्य में सर्वत्र, नगरों और देहातों में, लोग उनके इस कृत्य की चर्चा करने लगे—"रावण को मारकर राम सीता को ले आये और उनमें किसी प्रकार का दोष न देखकर इन्होंने उन्हें घर में रख लिया। इनके हृदय में सीता के संभोग का सुख कैसा घर कर गया है! जिन्हें रावण बलपूर्वक गोद में उठाकर ले गया, जो लंका में ले जाई गईं और जो अशोकवाटिका में राक्षसों के अधीन होकर रहीं, उनको भी इन्होंने निंदनीय नहीं समझा। अब हम लोगों को भी अपनी स्त्रियों की ऐसी बातें सहनी पड़ेंगी, क्योंकि राजा जैसा करता है, प्रजा भी उसीका अनुसरण करने लगती है (७।४३।१७-२०)।" इस लोक-निंदा के समक्ष राम को झुकना पड़ा। यद्यपि उनकी अंतरात्मा सीता को निष्पाप ही मानती थी, तथापि वह अपनी प्रजा को अप्रसन्न करने को तैयार नहीं थे; भार्या के संरक्षण की तुलना में लोकानुरंजन उन्हें अधिक महनीय कर्तव्य जान पड़ा। अतः उन्होंने सीता का सदा के लिए परित्याग कर दिया (७।४५।१०-१६)। वर्षों पश्चात् सीता को अयोध्या की सभा में आकर अपनी शुद्धता का प्रमाण देने के लिए आमंत्रित किया गया। अयोध्या की प्रजा के समक्ष वह हृदय-विदारक शपथें खाकर अपनी पवित्रता की दुहाई देने लगीं, किंतु इस मानसिक आघात को अधिक देर तक सह न सकीं और उनके प्राण-पखेरू उड़ गए।

भारतीय परंपरा ने लोक-संग्रहार्थ किये गए राम के इस अनुपम आत्मत्याग की सराहना की है, उनके अंतस्तल में होनेवाले संघर्ष के प्रति सहानुभूति दर्शाई है और उनके कार्य में महान् एवं लोकोत्तर आदर्श की भी झांकी पाई है। वास्तविक दोष यदि कुछ है तो वह राम का उतना नहीं जितना कि तत्कालीन कट्टर जन-मत का, जिसका विरोध करना राम की सामर्थ्य से बाहर था। रामायणकालीन समाज का अपहृत नारियों के प्रति संकुचित दृष्टिकोण था। वह उन्हें अपने बीच पुनः सम्मानित स्थान देने के किसी प्रयास का प्रबल विरोध करता था। यह संतोष का विषय है कि हमारे प्राचीन स्मृतिकारों ने सामान्य स्त्रियों के लिए पवित्रता के इस उच्च किंतु अव्यावहारिक आदर्श का समर्थन नहीं किया है।[1]

---

१. उदाहरणार्थ, स्मृतिकार पाराशर (१०।२१-२) का कथन है कि यदि किसी स्त्री का बलपूर्वक या डरा-धमकाकर उपभोग किया जाय, तो वह प्रायश्चित्त

रामायण में स्त्रियों के पातिव्रत्य की प्रशंसा के अतिरिक्त कई स्थानों पर उनके अवगुणों की भी चर्चा हुई है और उन्हें तीव्र भर्त्सना और उपालंभ का पात्र बनाया गया है। यदि इन स्थलों का अध्ययन किया जाय तो स्त्री-चारित्र्य की कई कथित विशेषताओं पर तथा उनके मूल में निहित भावनाओं पर यथेष्ट प्रकाश पड़ेगा।

स्त्री का एक प्रमुख दोष है उसकी उत्सुकता की भावना। जब स्त्री में किसी चीज को जानने या पाने की इच्छा जागृत हो उठती है, तब वह अदम्य बन जाती है। फिर उसे मर्यादा का ध्यान नहीं रहता; उसकी इच्छा की पूर्ति होनी ही चाहिए, चाहे इसके लिए कितनी ही कीमत क्यों न चुकानी पड़े। एक बार कैकेयी के पिता अपनी रानी (कैकेयी की माता) के साथ शयनागार में थे कि उन्हें एक जृम्भ पक्षी की चहचहाहट सुनाई पड़ी। केकय-नरेश 'सर्वभूतरुतविद्या,' सब प्राणियों की भाषा जानते थे, अतः उस जृम्भ पक्षी की बोली का अभिप्राय समझकर हँस पड़े। इससे कैकेयी की माता क्रुद्ध हो गई और बोली—"राजन्, मैं आपके हँसने का कारण जानना चाहती हूं।" राजा ने कहा—"देवी, यदि मैं कारण बता दूं तो निस्संदेह इसी क्षण मेरी मृत्यु हो जायगी।" यह सुनकर रानी ने अपने पति से कहा—"आप जियें या मरें, मुझे हँसने का कारण अवश्य बताना होगा।" अपनी जिज्ञासा को शांत करने के लिए वह महाराज को मृत्यु के मुख में भी धकेलने को तैयार थी। राजा ने ऐसी स्त्री को घर से बाहर निकाल देने में ही अपना कल्याण समझा (२।३५।१८-२६)।

उत्सुकता का यह दोष स्त्री में कभी अनुचित यौन आकांक्षा भी जगा देता है; वह कुतूहलवश अनेक पुरुष-संपर्क-जन्य रति-सुख पाने की इच्छुक हो जाती है, जैसाकि गौतम-पत्नी अहल्या के साथ हुआ। अहल्या ने इंद्र के रति-प्रस्ताव को कुतूहलवश ही स्वीकार किया था—**मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात्**—दिव्य रति के कौतूहल ने अहल्या को बेबस कर दिया था (१।४८।१९)।

त्रिया-हठ एक लोकप्रसिद्ध सत्य है। किसी बात के लिए दुराग्रह कर बैठना,

---

करने से और अपने मासिक रजःस्राव से पुनः शुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्तपुराण (प्रकृति-खंड ६१।७९) में भी कहा गया है कि अनिच्छा में बलात्कार किये जाने पर कोई स्त्री दूषित या जाति-बहिष्कृत नहीं होती—प्रायश्चित्त करने पर वह पुनः शुद्ध हो जाती है।

उसका पीछा न छोड़ना, निर्बल स्त्री-जाति का एक सबल पक्ष है । नारी सचमुच पुरुष को अपनी हठीली मांगों से हतप्रभ कर देने का अनोखा कौशल अपने में संजोये रहती है । दशरथ की धमकियां, आज्ञाएं, दीनतापूर्ण प्रार्थनाएं, मान-मनुहारें, कोई भी कैकेयी को अपने हठ से हटा न सकीं; शोक-ग्रस्त राजा जब उसके पैरों पड़ गए और वर लौटा देने के लिए गिड़गिड़ाने लगे, तब भी कैकेयी टस-से-मस न हुई । उधर, वन में सीता को ज्योंही स्वर्ण-मृग दिखाई पड़ा, उनकी आंखें आश्चर्य से खिल उठीं और उसे पाने के लिए उनके मन में प्रबल इच्छा जग पड़ी—"विचित्र रंगों से सुशोभित इस अद्भुत मृग ने मेरे मन को मोहित कर लिया है । यदि यह जीवित ही पकड़ लिया जाय तो हमारे लिए एक कौतुक की वस्तु होगा और सबको आश्चर्य में डाला करेगा । जब हमारे वनवास की अवधि पूरी हो जायगी और हम पुनः अपना राज्य पा लेंगे, तब यह मृग हमारे अंतःपुर की शोभा बढ़ायेगा । यदि यह जीते-जी न पकड़ा जा सके तो भी मैं इसके चर्म पर अवश्य बैठना चाहती हूं" :

कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं मतम् ।
वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम ॥ ३।४३।२१

"ऐसी घोर कामना स्त्रियों में अनुचित मानी गई है, किंतु क्या करूं, इस मृग की सुनहरी देह ने मेरे अंदर विस्मय पैदा कर दिया है ।" सुंदर वस्तुओं के प्रति अपने प्रलोभन को प्रकट कर सीता ने अपना स्त्रीत्व ही अनावृत कर दिया ।

पुरुषों से अपने मन की बात मनवाने के लिए स्त्री के पास दो और शस्त्र हैं—निर्मम स्वभाव और वज्र-तुल्य वाणी (**वज्रसमां वाचम्**, २।१२।५३) । कठोर और निर्दयी कैकेयी अपने अहंकार, उद्धत स्वभाव, तुनुकमिजाजी तथा सपत्नियों के प्रति तीव्र घृणा के सहारे महाराज दशरथ के रनवास पर हावी हो गई थी । राम अपनी विमाता के इस स्वभाव से परिचित थे । अपने प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक के दिन जब राम ने देखा कि पिताजी का चेहरा उतरा हुआ है और मुंह सूख गया है, तब उन्होंने पास ही खड़ी कैकेयी से पूछा—"कहीं आपने अभिमान या रोष में आकर पिताजी से कोई कठोर बात तो नहीं कह डाली, जिससे इनका मन व्यथित हो रहा है ?"[1] कैकेयी ही नहीं, मुग्धा सीता भी क्रोध

---

१. **कच्चित्ते परुषं किंचिदभिमानात्पिता मम । उक्तो भवत्या रोषेण येनास्यं लुलितं मनः ॥** २।१८।१७

करने और चुभती बात कहने में समर्थ थीं। वन में राम की सहायतार्थ लक्ष्मण के न जाने पर वह उबलकर उनपर बरस ही तो पड़ी थीं।

व्यर्थ का गर्व अथवा अपने-आपके विषय में अहंकार-भरी धारणा स्त्री-स्वभाव की एक जानी-मानी पहचान है। कैकेयी स्वार्थ के प्रति कितनी जागरूक थी—उसने दशरथ से पहले तो वर-पूर्ति की शपथ दिलवा ली और फिर अपना दुष्ट मंतव्य प्रकट किया। वाल्मीकि ने उसके लिए पांडित्य का व्यर्थ अभिमान करनेवाली, (**वृथा-पंडित-मानिनी**) (२।७२।४७) का उपयुक्त विशेषण प्रयुक्त किया है। मंथरा ने कैकेयी को यह स्मरण दिलाकर कि महाराज पर तुम्हारा कितना अपरिमित प्रभाव है, उसकी अहंकार-भावना को और भी अधिक उकसाया। कैकेयी के प्रति दशरथ के इन शब्दों से बढ़कर आत्म-महत्त्व की भावना को और क्या प्रश्रय मिल सकता है—"किसने तुम्हारा अपराध किया है, जो मुझे दुःखी करने के लिए तुम इस तरह धूल में लोट रही हो ? बताओ, तुम्हारी प्रसन्नता के लिए मैं आज किसका प्रिय करूं ? अथवा, किसने तुम्हारा अप्रिय किया है, जिसके लिए उसे कठोर दंड दूं ? किस निरपराध का वध कर दूं और किस अपराधी को मुक्त कर दूं ? किस दरिद्र को धनवान और किस धनी को दर-दर का भिखारी बना दूं ? मैं और मेरे सभी सेवक सदा तुम्हारी आज्ञा के अधीन हैं (२।१०।२८-४०)।"

प्रायः यह देखा जाता है कि स्त्री अभिमान-वश पुरुष के किसी मार्मिक स्थल पर—उसके पुरुषत्व, वीरत्व या चारित्र पर—ऐसा तीखा प्रहार करती है, जिससे वह तिलमिलाकर उसके आदेशों को मानने के लिए बाध्य हो जाय। वन में कुछ समय तक तो लक्ष्मण राम की सहायतार्थ जाने के सीता के आग्रह को टालते रहे, पर जब सीता उनके चरित्र पर लांछन लगाने को उतारू हो गईं—ऐसा लांछन, जिसने जितेंद्रिय लक्ष्मण के कानों को तपाये हुए नाराच बाण की तरह (**तप्तनाराचसंनिभम्**, ३।४५।३१) बेध दिया, तब वह रुक न सके और तुरंत राम के पास चल दिये। जब दशरथ कैकेयी को दोनों वर देने में हिचकिचा रहे थे, तब कैकेयी ने उनपर व्यंग्य किया कि आप राम को राजा बनाने के बाद मेरी सौत कौसल्या के साथ निर्द्वंद्व होकर रमण करना चाहते हैं (**सह कौसल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते**, २।१२।४५)। वनवास के कष्टों के कारण राम सीता को अपने साथ नहीं ले जाना चाहते थे, पर सीता ने उनको ताना मारते हुए कहा—"न जाने मेरे पिता मिथिलेश्वर ने तुम्हें क्या समझकर अपना जामाता बना लिया,

तुम तो पुरुष के रूप में स्त्री हो (**स्त्रियं पुरुषविग्रहम्**, २।३०।३)।" और जब राम ने सीता से अयोध्या में ही रहकर भरत की वशवर्तिनी बने रहने के लिए कहा, तब तो सीता का अभिमान चोट खाये हुए सर्प की भांति आहत हो उठा और वह बोलीं—"हे राम, तुममें और एक नीच नट (शैलूष) में क्या अंतर है, जो अपनी पत्नी को दूसरे के हाथ सौंप देता है (२।३०।८)?" यह आरोप मर्म पर चोट करनेवाला है और पाठक सोचता है कि क्या ऐसी उक्ति सीता के मुंह से शोभा देती है।

शरीर और मन की दुर्बलता नारी की एक और विशेषता है। 'नैराश्य' और हृदय का 'लघुत्व' ये दोनों स्त्री-स्वभाव के विशिष्ट लक्षण हैं। उसे फुसलाकर पथ-भ्रष्ट कर देना कोई कठिन काम नहीं। मंथरा के हाथों कैकेयी (**कुब्जावाक्य-वशंगता**) का प्रलोभीकरण यह सिद्ध करता है कि स्त्रियों के लिए कुशिक्षा ग्रहण करना सहज संभव है। रामायण में यह संभावना सर्वत्र व्यक्त की गई है कि लंपट जन नारी को अनुनय-विनय करके, जीवन के सौख्यों का रंगीला चित्र दिखाकर, नृत्य और संगीत के आकर्षणों से अथवा उसके सौंदर्य की स्तुति द्वारा अपने वश में कर सकते हैं। किसी अनिच्छुक रमणी के तरल भाव को जगाने में इस तर्क का आश्रय लिया जाता था—

इदं ते चारुसंजातं यौवनं ह्यतिवर्तते।
यदतीतं पुनर्नैति स्रोतः स्रोतस्विनामिव॥ ५।२०।१२

अर्थात् तुम्हारी यह रमणीय युवावस्था बीती जा रही है, और नदी के बहे हुए प्रवाह की भांति कभी लौटकर नहीं आनेवाली है (इसलिए क्यों नहीं तुम सुखोपभोग में अपनी आयु बितातीं?)।

इन सब उक्तियों से यही ध्वनित होता है कि नारी में भावुकताजन्य दुर्बलता का आधिक्य होता है, वह लुभावनी बातों से प्रलुब्ध की जा सकती है, वह प्रेम के किसी प्रस्ताव से सद्यः प्रभावित हो जाती हैं और उसमें प्रलोभनों से बचने की पर्याप्त क्षमता नहीं होती। अतः बंधु-बांधवों को स्त्री की निरंतर देखभाल करते रहना चाहिए (**कच्चित्स्त्रियः सांत्वयसे कच्चित्तास्ते सुरक्षिताः**, २।१००।४९)।

स्त्रियों में प्रायः चपलता अथवा अस्थिरता पाई जाती है (**विद्यते स्त्रीषु चापल्यम्**, ६।१६।९)। दृढ़चित्तता उनसे कोसों दूर रहती है। महामुनि अगस्त्य ने स्त्रियों की दुर्बलता पर प्रकाश डालते हुए राम से कहा था—"सृष्टि के आदि

से ही स्त्रियों की यह प्रकृति रही है कि वे अपने 'समस्थ' (धन-धान्यादियुक्त) पति का अवलंबन करती हैं और 'विषमस्थ' (दरिद्र, रोगादिग्रस्त) पति का परित्याग कर देती हैं। अपना निवास वदलने में वे विद्युत की चंचलता का, स्नेह-बंधन तोड़ने में शस्त्रों की तीक्ष्णता का और अकार्य करने में गरुड़ और वायु की शीघ्रता का अनुकरण करती हैं (३।१३।५-६)।" वाल्मीकि ने कौसल्या के मुख से दुष्टा स्त्रियों की चंचलता की तीव्र निंदा कराई है—"जो स्त्रियां पति द्वारा सदा संमानित होने पर भी संकट में पड़ने पर उसका अपमान करती हैं, वे संसार में असती के नाम से पुकारी जाती हैं। दुष्टा स्त्रियों का यह स्वभाव होता है कि पहले तो वे पति से यथेष्ट सुख भोगती हैं, परंतु जब वह थोड़ी-सी विपत्ति में पड़ जाता है, तब उसपर अनेक दोषारोपण करके उसका त्याग कर देती हैं। युवती स्त्रियां असत्यपरायण, विकारग्रस्त, अनियंत्रित, हृदयहीन, पापसंकल्प और क्षणिक अनुराग रखनेवाली होती हैं। उच्च कुल, उपकार, विद्या, दान, बंधन, इनमें से कोई भी उन्हें पाप-कर्म से निवृत्त नहीं कर सकता, क्योंकि उनका हृदय अस्थिर होता है (**अनित्य-हृदया हिताः**, २।३९।२०-३)।" इसीलिए राम ने भरत को यह परामर्श दिया था कि तुम्हें स्त्रियों पर विश्वास नहीं करना चाहिए, न उन्हें गुप्त वातें ही वतानी चाहिए (**कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद् गुह्यं न भाषसे**, २।१००।४९)।

सीता के दोषारोपण से मर्माहत हो लक्ष्मण ने भी अगस्त्य जैसे ही भाव प्रकट किये थे—"ऐसी अनुचित बातें मुंह से निकालना स्त्रियों के लिए कुछ आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि संसार में नारियों का ऐसा स्वभाव बहुधा देखा जाता है। स्त्रियां प्रायः विनय आदि धर्मों से रहित, चंचल, कठोर तथा आपस में फूट डालने-वाली होती हैं। इसी स्त्री-स्वभाव के वशीभूत होकर आप मुझसे ऐसी बातें कह रही हैं।"[1]

स्त्री-जाति की एक और विशेषता है—ईर्ष्या की स्वभावगत भावना। उस युग के वहुसंख्यक स्त्रियों से भरे अंतःपुर नारी के ईर्ष्या-द्वेष की क्रीड़ास्थली थे। कैकेयी का अपने दो वरों के लिए दुराग्रह एक ईर्ष्यालु स्त्री की विषाक्त मनोवृत्ति का परिचायक है। कैकेयी द्वारा छले गए महाराज दशरथ के मत में, 'स्त्रियां दुष्ट,

---

१. **वाक्यमप्रतिरूपं तु न चित्रं स्त्रीषु मैथिलि। स्वभावस्त्वेष नारीणामेषु लोकेषु दृश्यते। विमुक्तधर्माश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः॥ ३।४५।२९-३०**

स्वार्थी और धिक्कार की पात्र होती हैं' (**धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थपरायणाः**, २।१२।१००)। यह दर्शनीय है कि सीता-हरण की घटना का आधार एक रक्त-पिपासु स्त्री (शूर्पणखा) की ईर्ष्यालुता थी। राम और लक्ष्मण दोनों के द्वारा ठुकराये जाने पर वह गुस्से से उबलती हुई रावण के दरबार में गई और उसे प्रतिशोध के लिए उकसाने लगी। तिरस्कृत स्त्री का खूंख्वारपन यदि देखना हो तो शूर्पणखा में देखा जा सकता है। उसने राम के प्रति अपने काम-भाव को रावण पर प्रकट नहीं किया और सीता के रूप की प्रशंसा करते हुए कहा कि मैं तो उसे आपके रनवास के लिए लाना चाहती थी, पर ऐसा करने के प्रयत्न में लक्ष्मण ने मुझे विरूप कर दिया।[1]

अनसूया के अनुसार असती स्त्रियों का हृदय काम के अधीन रहता है। वे (**भर्तृनाथाः**) अपने पतियों पर शासन किया करती हैं। उनका हृदय एक पहेली-सा होता है—वे न तो वल-प्रयोग करनेवाले कामुक से प्रेम करती हैं, न गिड़गिड़ाने वाले से और न धनहीन से ही अनुराग करती हैं (२।१००।२८, ३६।२०, ५। २२।२)। राग और घृणा दोनों की साधनभूत होती हैं ये स्त्रियां; कम-से-कम जो स्त्रियों के वशीभूत हो जाता है, वह 'कामक्रोधाभिभूत' अवश्य होता है। पुरुष की इंद्रियों के लिए वे उन्मादकारिणी होती हैं; अपने दुर्निवार आकर्षण से वे पुरुष को जीवन के ऊंचे ध्येय से पथ-भ्रष्ट कर देती हैं, जैसाकि अप्सराओं द्वारा ऋषि-मुनियों के प्रलोभीकरण से प्रकट है। यही नहीं, ऋष्यशृंग-जैसा नैष्ठिक ब्रह्मचारी तरुण, जो वन में ही वड़ा हुआ और स्त्री नामक वस्तु से सर्वथा अनभिज्ञ था, सुंदरियों के रूप-पाश में अनायास फंस जाता है। रावण-जैसा दिग्विजयी शूरवीर भी नारी के सौंदर्य-जाल से वशीभूत और जड़ीभूत होकर उसके सामने घुटने टेक देनेवाला कायर बन जाता है (३।५५।३५-६)। इसीलिए स्त्री को 'प्रमदा', प्रलुब्ध करनेवाली की संज्ञा दी जाती है। वासना की वह पुतली है—काम-भोग से उसे सतत संतुष्ट रखना पड़ता है। संतति-प्रेम भी उसे रति-सुख से विमुख नहीं कर सकता। स्त्रियों में आसक्ति सुरा और द्यूत में आसक्ति के समान है (२।७५।४५) और उसकी गणना उन दस दोषों (दशवर्ग) में की गई है, जिनसे राजा को बचना चाहिए। उत्तरकांड के अनुसार, 'स्त्रियों में, विशेषकर यौवनवती सुंदरियों

---

१. **भार्यार्थे तु तवानेतुमुद्यताहं वराननाम्। विरूपितास्मि क्रूरेण लक्ष्मणेन महाभुज ॥** ३।३४।२१-२

में, रजःस्राव के दिनों ब्रह्महत्या का कुछ अंश वास करता है' (७।८६।१५-६)।'

ऐसी दशा में क्या आश्चर्य, यदि वाल्मीकि नारी और नागिन के बीच सादृश्य स्थापित करने को प्रेरित हों, क्योंकि दोनों ही कपट और धोखे के घर हैं। दशरथ की दृष्टि में, "कैकेयी एक तीक्ष्ण विषवाली व्याली (नागिन) थी, जिसे अज्ञानवश राजकुमारी समझकर वह अपने भवन में ले आये थे।"[1] धर्मात्मा विभीषण के लिए पराई स्त्री नागिन के समान थी; भाई रावण को चेतावनी देते हुए उन्होंने कहा था, "वक्षःस्थल-रूपी फनधारी, चिंता-रूपी विष से युक्त, हास्य-रूपी तीक्ष्ण दांतोंवाला और पांच अंगुलियों के रूप में पांच सिरोंवाला यह सीता-रूपी भारी सर्प आपके गले में किसने लपेट दिया है?"—

वृतो हि बाह्वान्तरभोगराशिश्चिन्ताविषः सुस्मिततीक्ष्णदंष्ट्रः।
पंचांगुली पंचशिरोऽतिकायः सीतामहाहिस्तव केन राजन्॥ ६।१४।१२

नारी का कपटाचरण, उसकी विनाशकारी प्रवृत्ति तथा उसका वास्तविक रूप जानने में पुरुष की असमर्थता, इनको विशद करने के लिए कवि ने विष-संयुक्त मदिरा, संगीत से लुभाकर मृग की हत्या करनेवाले व्याध, अपथ्य व्यंजनों का आस्वादन करनेवाले रोगी आदि उपमानों का प्रयोग किया है। नारी के मोह-जाल में पड़ा हुआ पुरुष पाश में बंधे मृग की भांति असहाय, पुत्र को बेच देनेवाले पिता के समान निंदनीय और सड़कों पर लोगों का उपहासास्पद बननेवाले शराबी ब्राह्मण की तरह घृणित होता है। (२।१२।७६-८, ७०; ११।२२)। कैकेयी में आसक्त दशरथ को लक्ष्मण ने 'कृपण-चित्त, बुढ़ौती में लड़कपन करनेवाले तथा निंदित और घृणास्पद' बताया था।

नारी के प्रति उपर्युक्त कटूक्तियों का हमें निष्पक्षता से मूल्यांकन करना होगा। इनमें से अधिकांश उक्तियां ऐसे लोगों के मुख से निकली हैं, जो किसी कारण से स्त्रियों से रुष्ट, अपकृत या असंतुष्ट थे। रामायण के अधिकतर स्त्री-निंदापरक स्थल कैकेयी से संबंधित हैं, जिसने अपनी कुटिल महत्त्वाकांक्षा और स्वार्थपरा-

---

१. त्वं मयात्मविनाशाय भवनं स्वं निवेशिता। अविज्ञानान्नृपसुता व्याला तीक्ष्णविषा यथा॥ २।१२।६-१०

२. हनिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्तमानसम्। कृपणं च स्थितं बाल्ये वृद्धभावेन गर्हितम्॥ २।२१।१६

यणता से उस समय के सभी विचारशील लोगों को क्रुद्ध कर दिया था।[1] इन उक्तियों का अभिप्राय समस्त नारी-जाति को कलंकित करना नहीं है। कैकेयी की स्वार्थांधता से दुःखी महाराज दशरथ स्त्री-मात्र की निंदा कर बैठे थे, पर तुरंत ही उन्होंने अपने अमर्यादित कथन में संशोधन कर लिया—**न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातरम्**; अर्थात् मेरा आशय यह नहीं है कि सभी स्त्रियां भरत की माता के समान शठ और स्वार्थी होती हैं (२।१२।१००)। सीता-जैसी नारियां इन दोषों से सर्वथा रहित और देवों में अरुन्धती के समान प्रशंसनीय और पूजनीय होती हैं (**श्लाघ्या च व्यपदेश्या च यथा देवेष्वरुन्धती**, ३।१३।७)। स्त्रियों को वासना का पिंड तथा उनके अनुराग को क्षणिक बतानेवाले लोग प्रायः तपोनिरत ऋषि-मुनि हुआ करते थे, जो संयमी जीवन के महत्त्व को भली भांति जानते थे तथा स्त्रियों में अनासक्ति रखने की शिक्षा देकर जनसाधारण को वैराग्य की ओर उन्मुख करना चाहते थे। इसके अतिरिक्त दशरथ, कौसल्या, अगस्त्य, अनसूया, लक्ष्मण आदि का उद्देश्य निरी स्त्री-निंदा करना नहीं था, प्रत्युत 'निंदित आचरण के विपरीत पक्ष का, अर्थात् सदाचार का, पातिव्रत्य का आग्रह करना और उसकी प्रशंसा करना था।'[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामायणकालीन समाज का नारी के प्रति दृष्टि-कोण विभिन्न पहलुओं से निर्धारित होता था, और इसी कारण उसमें परस्पर-विरोधी बातें देखने को मिल जाती हैं। पुरुष की मनःस्थिति, उसके व्यक्तिगत अनुभव, चारित्रिक बल तथा अन्य परिस्थितियों से भी नारी के प्रति उसका व्यवहार नियंत्रित रहता है। भारत में मुख्यतः दो वर्गों की नारी के प्रति तीव्र प्रतिक्रियाएं हुई हैं—एक भोगी, दूसरा वैरागी। इन वर्गों ने नारी की जो क्रमशः प्रभूत प्रशंसा और कटु निंदा की है, उनसे प्रभावित होकर समाज में नारी की स्थिति के विषय में कोई एकांगी मत नहीं बनाया जा सकता। फिर भी रामायण में निर्दिष्ट विविध प्रकार की नारी-विषयक सामग्री के समुचित मूल्यांकन से यह निष्कर्ष

---

१. नराश्च नार्यश्च समेत्य संघशो विगर्हमाणा भरतस्य मातरम्। २।६६।२६

२. 'न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रयुज्यते। किं तर्हि। निन्दितादितरत्प्रशंसितुम्। तत्र न निन्दितस्य प्रतिषेधो गम्यते किं त्वितरस्य विधिः।'

—जैमिनी २।४।२१ पर शबर-भाष्य।

सरलता से निकाला जा सकता है कि कुल मिलाकर उस युग में स्त्रियों की स्थिति सामान्यत: सुखद थी। कम-से-कम तत्कालीन परिस्थितियों में नारी को एक कन्या, पत्नी, माता और विधवा के रूप में समस्त संभव सुविधाएं और अधिकार प्राप्त थे, और इनके सहारे वह परिवार, समाज और राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्थान में अमूल्य योगदान कर रही थी।

: १२ :

आर्थिक जीवन

वैदिक युग के भ्रमणशील आर्य रामायण-काल से बहुत पहले ही, एक नियमित समाज-व्यवस्था के अंतर्गत संगठित होकर अपनी जीवन-चर्या को स्थायी रूप दे चुके थे। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक था कि उनका आर्थिक जीवन अधिक स्थिर, उन्नत एवं व्यापक बन जाय। रामायणकालीन आर्य उन पूर्वकालिक सैनिक-कृषकों की भांति नहीं थे, जिन्होंने कृष्ण-वर्ण दस्युओं को परास्त करके सिंधु का मैदान हस्तगत किया था। अब तो सभ्यता प्रगति कर चुकी थी, समाज अधिक सभ्य एवं सुसंस्कृत बन चुका था तथा विद्या और कला का प्रसार हो गया था। राजागण विद्वानों को अपने दरबार में आमंत्रित करते, प्रचलित विधि के अनुसार विशाल यज्ञों का आयोजन करते, रण-क्षेत्र में चतुरंगिणी सेनाओं का नेतृत्व करते तथा करों की वसूली, न्याय का वितरण और शासन का प्रबंध करने के लिए सुयोग्य व्यक्तियों को नियुक्त करते थे।

एक सुशासित राज्य ही आर्थिक व्यवस्था का मूलाधार हो सकता है। "जहां कोई राजा नहीं होता, उस देश में खेतों में बीज नहीं बोये जा सकते। राजहीन देश में धन अपना नहीं हो सकता, मनुष्यों की कोई पंचायत नहीं रहती, राष्ट्र को उन्नति-शील बनानेवाले उत्सव और संघ भी बढ़ने नहीं पाते। कृषि और गो-रक्षा से जीविका चलानेवाले धनवान् लोग सुरक्षित नहीं रह सकते, अपने घर का दरवाजा खोलकर सो नहीं सकते तथा दूर देश में जाकर व्यापार करनेवाले बेचने की वस्तुएं लेकर

कुशलपूर्वक मार्ग तय नहीं कर सकते। अराजकता फैल जाने पर अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति और प्राप्त की रक्षा नहीं हो सकती।...अराजक देश में कोई भी मनुष्य किसी वस्तु को अपनी नहीं कह सकता (२।६७)।"

वित्त-शास्त्र को प्राचीन भारत में 'वार्ता' की संज्ञा दी जाती थी। वार्ता शब्द का प्रयोग वैश्यों के तीन प्रमुख धंधों—कृषि, गो-चारण और व्यापार—के लिए किया जाता था। रामायणकाल में वार्ता-शास्त्र का महत्त्व इतना बढ़ गया प्रतीत होता है कि उसे **तिस्रः विद्याः** के अंतर्गत त्रयी (तीनों वेद) और दंडनीति के समकक्ष गिना जाने लगा (२।१००।६८)। इससे यह अनुमान होता है कि वार्ता का शास्त्रीय अध्ययन प्रारंभ होने से पहले कृषि आदि उद्योगों का अनियमित ढंग से विकास होता रहा होगा। वार्ता-विद्या के शास्त्रीय स्तर पर पहुंचने के बाद कृषि, गो-पालन और व्यापार के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा—उनकी प्रगति की एक सुनिश्चित दिशा निर्धारित हो गई।[1] चित्रकूट पर राम ने भरत से निम्न-लिखित प्रश्न पूछकर इसी ओर इंगित किया—

> **कच्चित्ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः।**
> **वार्तायां साम्प्रतं तात लोकोऽयं सुखमेधते॥** २।१००।४७

'कृषि और गो-रक्षा से आजीविका चलानेवाले सभी वैश्य क्या तुम्हारे प्रीति-पात्र हैं? वार्ता का अनुशीलन करनेवाले ये लोग सुखी तो हैं?' इस प्रकार राज्य में वार्ता के नियमों और सिद्धांतों को लागू करना राजा का प्रधान कर्तव्य था।

अर्थ या धन का तात्पर्य सिक्के ही नहीं था; धान्य, गवादि पशु, घर-बार, खेत-खलिहान, हाथी, घोड़े, ऊनी वस्त्र, मृग-चर्म आदि वे सभी वस्तुएं धन के अंतर्गत थीं, जिनका समाज के लिए कोई आर्थिक महत्त्व होता था (२।३२।२७-२१; २।७०।१९-२१)। इस प्रकार उस युग में भी अर्थ से बहुत-कुछ वही आशय लिया जाता था, जो आधुनिक अर्थ-शास्त्रीय परिभाषा में लगाया जाता है—अर्थात् प्रत्येक विनिमय-योग्य वस्तु अर्थ है।

राष्ट्र या व्यक्ति के जीवन में अर्थ का महत्त्व भली-भांति प्रकट था, जैसाकि लक्ष्मण के भाषण से स्पष्ट है, "अर्थ ही धर्म का मूल है। जैसे पर्वत से नदियां निकलती हैं, वैसे ही अर्थ से सब क्रियाएं। अर्थहीन मनुष्य मंदबुद्धि गिना जाता है, उसके सब

---

१. नरेंद्रनाथ लॉ—'स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एंड कल्चर', पृ० ८१

काम बिगड़ जाते हैं, उसकी दशा ग्रीष्म-ऋतु के तालाब की-सी हो जाती है।... जिसके पास संपत्ति होती है, उसीके मित्र और उसीके बंधु होते हैं; वही पंडित, पराक्रमी, बुद्धिमान और गुणी कहलाता है। धन के त्याग में दोष-ही-दोष हैं। जिसके पास धर्म और काम के लिए अर्थ वर्तमान है, उसके लिए सबकुछ उसके पास ही है। आनंद, काम, दर्प, क्रोध, शांति और दम, ये सब धन की ही सहायता से सिद्ध होते हैं (६।८३।२१-३९)।"

राजा की आमदनी का प्रमुख स्रोत 'बलि-षड्भाग', (प्रजा की आय का छठा हिस्सा) था। उसे अपने सामंतों से भी उपहार मिलते रहते थे (१।५।१४;२।८२।८; ७।३९।८)। राजाओं को खानों का भी कुछ लाभांश मिलता था। राम ने अयोध्या की खानों के बारे में जो पूछताछ की थी, उससे कुछ ऐसा ही आभास मिलता है।[1] विश्वामित्र ने राजा को 'रत्नहारी' कहकर यह संकेत दिया है कि उसका राज्य में पाये जानेवाले रत्नों पर, अथवा प्रत्येक उत्कृष्ट वस्तु पर, अथवा प्रत्येक लाभांश पर अधिकार रहता था। राजाओं से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे **आय-कर्मण्युपायज्ञः संदृष्टव्ययकर्मवित्** हों; अर्थात् आमदनी के स्रोत बढ़ाने में कुशल और खर्च करने की उचित मदों के जानकार हों (२।१।२६)। दशरथ के मंत्री ब्राह्मणों और क्षत्रियों को कष्ट पहुंचाये बिना राज्य-कोश भरा करते थे।[2] इससे प्रतीत होता है कि वैश्यों पर ही करों का अधिकतर बोझ पड़ता था।

राजकीय आय प्रायः यज्ञादिक धार्मिक कृत्यों के संपादन में, ब्राह्मणों और अभ्यागतों के आतिथ्य में, परिवार और मित्रों के संरक्षण में तथा सेना को सुदृढ़ बनाने में व्यय होती थी।[3] निरर्थक व्यय से राजा को बचे रहना चाहिए (**अपात्रेषु न ते कच्चित्कोशो गच्छति राघव, २।१००।५४**)।

भारत का शाश्वत एवं चिर-अभ्यस्त उद्योग कृषि रामायण-युग में भी आजीविका का सर्वसामान्य साधन था। दशरथ की मृत्यु के बाद अयोध्या में एकत्र होनेवाले वैश्यों को **कृषिगोरक्षजीविनः** कहा गया है (२।६७।१८); अर्थात् वे

---

१. परित्यक्तो भयैः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः। २।१००।४५
२. ब्रह्मक्षत्रमहिंसन्तस्ते कोशं समपूरयन्। १।७।१३
३. देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च। योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद् गच्छति ते व्ययः॥ २।१००।५५

अपनी जीविका खेती और गो-पालन द्वारा चलाते थे। वाल्मीकि ने कोसल-राज्य की संपत्ति खेतों, लता-गुल्मों और गांवों के रूप में (२।५०।८-११), तथा अयोध्या के नागरिकों की समृद्धि उद्यानों, खेतों, भवनों और धन-धान्य के रूप में गिनाई है (२।३३।१७)। उत्तरकांड के अनुसार रामायण से पूर्व कृत-युग में कृषि-जैसे आजीविका के साधन हेय दृष्टि से देखे और 'अनृत' के नाम से पुकारे जाते थे; किंतु त्रेता-युग में, जो रामायण का काल था, अनृत ही लोगों की प्रमुख जीविका बन गया (७।७४।१६-७)।

कृषि-उद्योग को राज्य की ओर से पर्याप्त संरक्षण प्राप्त था। राजा से कृषि-विषयक जानकारी की अपेक्षा की जाती थी। जिन आठ शासन-संबंधी विषयों से राजा को परिचित रहना पड़ता था, उन्हें 'अष्टवर्ग' कहते थे (२।१००।६८) और इसमें कृषि का भी समावेश था। राजा का यह कर्तव्य था कि वह कृषकों और गो-पालकों के कष्टों का निवारण करे तथा उनकी सुख-समृद्धि के साधन जुटाये—**तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चित्ते भरणं कृतम्** (२।१००।४८)।

बालकांड में महाराज जनक के विषय में कहा गया है कि एक बार जब वह हल से यज्ञ-भूमि जोत रहे थे, तब उन्हें सीता की प्राप्ति हुई थी। इससे यह स्पष्ट है कि क्षत्रियों के लिए कृषि वर्जित नहीं थी और राज-समारोहों में राजा का हल चलाना एक अतिशय शोभा एवं पुण्य का कार्य माना जाता था। क्योंकि प्रत्येक यज्ञ-समारंभ के लिए यज्ञ-भूमि का हल से शोधन करना आवश्यक था, अतः कृषि का संबंध यज्ञ-यागादिक से स्थापित हो गया और उसके आर्थिक महत्त्व में धार्मिकता का पुट जुड़ गया। राजाओं द्वारा हल चलाने की घटनाओं ने उन दिनों जन-मानस को बड़ा प्रभावित किया होगा; साथ ही, कृषि-उद्योग को भी एक असाधारण गौरव का पद मिल गया होगा।

राज्य की ओर से अन्न के सरकारी गोदाम बने रहते थे, जिन्हें 'धान्यकोश' कहा जाता था (२।३६।७)।

दशरथ और राम के शासन-काल में भारत कृषि की दृष्टि से समृद्ध और सुखी था। कोसल-राज्य के वर्णन में वाल्मीकि कहते हैं कि वह धन-धान्य और गौओं से परिपूर्ण तथा तालाबों, उद्यानों और आम्र-वनों से युक्त था (२।४६)। सारे जनपद पूर्णकाम और दुग्ध आदि से संपन्न थे—**प्राज्यकामा जनपदाः सम्पन्नतर-गोरसाः** (३।१६।७)। वत्स-राज्य सुखी, संपन्न और धान्य की लहलहाती पंक्तियों

से सुशोभित था।[1] मागधी नदी हरी-भरी फसलवाले खेतों के बीच से बहती थी (सुक्षेत्रा सस्यमालिनी, १।३२।१०)। लंका का जल-वायु समुद्री हवाओं से प्रभावित होने के कारण समशीतोष्ण था और वहां की भूमि पर्याप्त वर्षा के कारण बड़ी उपजाऊ थी (५।३।३; २।१२-४)। भारत का दक्षिणी समुद्र-तट एक रमणीय वन-प्रदेश था, जहां 'तक्कोल' और 'जाति' नामक सुगंधित फलों, तमाल के पुष्पों तथा 'मरीच' की झाड़ियों की बहुलता थी।[2]

कृषि की समृद्धि बहुत-कुछ जान-माल की सुरक्षा पर निर्भर करती है। एक ऐसे राज्य में जहां अराजकता फैली हुई हो, किसानों की दुर्दशा के अतिरिक्त क्या होगा! उन्हें यह विश्वास नहीं होता कि फसल की कटाई के समय हमें अपने परिश्रम का फल मिलेगा ही, इसलिए वे खेत की जुताई-बुवाई नहीं करते (**नाराजके जनपदे बीजमुष्टिः प्रकीर्यते**, २।६७।१०)। बिहार के मलद और करूष प्रदेश किसी समय दीर्घ काल तक बड़े समृद्धिशाली और धन्य-धान्य से सुखी थे, किंतु राक्षसी ताटका के आतंक के कारण उनकी सारी समृद्धि नष्ट हो गई और वे एक वीरान प्रदेश में परिणत हो गए।[3]

कोसल-राज के कृषकों की सुख-संपत्ति का कारण प्रजा-पालक इक्ष्वाकु-नरेशों का उदार, न्यायपूर्ण एवं धर्मपरायण शासन था। राम के पूर्वज राजा अनरण्य के समय में अयोध्या में न कभी कोई दुर्भिक्ष पड़ा, न अनावृष्टि हुई और न चोरों से ही कोई भय उत्पन्न हुआ।[4] राम-राज्य में—

सताता था न किसीको रोग, न होती कभी काल की मार,
प्रजा थी सुखी और संपन्न, विभव से भरे हुए भंडार।

---

१. ततः समृद्धान् शुभसस्यमालिनः क्षणेन वत्सान् मुदितामुपागमत्। २।५२।१०१
२. तक्कोलानां च जात्यानां फलानां च सुगन्धिनाम्। पुष्पाणि च तमालस्य गुल्मानि मरिचस्य च॥ ३।३५।२२-३
३. एतौ जनपदौ स्फीतौ दीर्घकालमरिन्दम। मलदाश्च करूषाश्च मुदिता धन-धान्यतः॥ १।२४।२४-५; देशमुत्सादयत्येनम्। १।२५।१४
४. नानावृष्टिर्बभूवास्मिन्न दुर्भिक्षः सतां वरे। अनरण्ये महाराजे तस्करो वापि कश्चन॥ २।११०।१०

न थी तूफानों से भी भीति, न होता चोरों का उत्पात,
न था दावानल का संताप, न होता बाढ़ों का आघात ।।[1]

इस सुरक्षा के वातावरण के कारण कृषकगण अपने-अपने जनपदों में स्थायी रूप से बसे हुए थे (**सुनिविष्टजनाकुलः**, २।१००।४३), और वे स्थान-परिवर्तन करने के अनिच्छुक रहे होंगे। आधुनिक अर्थशास्त्र की भाषा में इसे 'इमोबिलिटी आफ एग्रिकल्चरल लेबर' (कृषि-श्रमिकों की अगतिशीलता) कह सकते हैं।

वाल्मीकि कहते हैं कि उन दिनों वर्षा समय पर और आवश्यक मात्रा में होती थी, खेत अनाज से भरे-पूरे थे, नगर धन-धान्य-पूरित थे तथा पृथ्वी पके धान से युक्त और सभी प्रकार की ओषधियों से संपन्न थी।[2] शरद्‌ ऋतु के अंत में पृथ्वी सस्यमालिनी (पके धान की मालाएं पहने) जान पड़ती थी और देश की खाद्य-आवश्यकताएं परिपूर्ण हो जाती थीं। इस समय देहातों की छटा निराली हो जाती थी। सुख-समृद्धि का सर्वत्र प्रसार दीख पड़ता था। शिशिर-ऋतु में कहीं ज्वार और गेहूं के कुहरे से छाये हुए खेत, सूर्योदय के समय क्रौंच और सारस पक्षियों के चहचहाने से, मनोहर प्रतीत होते थे, तो कहीं चावल के पौधे, जिनकी धान-भरी सुनहरी वालें खजूर के फूलों की तरह जान पड़ती थीं, कुछ-कुछ झुके हुए बड़े रमणीक लगते थे (३।१६।१६-७)। वन जाते समय राम रथ में बैठकर जिस प्रदेश में से होकर गये, उसका वर्णन इस बात का सूचक है कि उस समय देहातों की जनता कितनी सुसंपन्न, सुखी और समृद्ध थी (२।४९)।

कृषि-प्रधान देहात ग्राम कहलाते थे तथा बड़े शहर, जहां ग्रामों की कृषि-संपत्ति जाकर बिकती थी, नगर कहलाते थे। वन जाते समय राम ऐसे ग्रामों के पास होकर निकले थे, जिनकी सीमा पर जुते हुए खेत थे (**ग्रामान्‌ विकृष्टसीमान्तान्‌**, २।४९।३)। कृषि-प्रधान ग्रामों एवं व्यापार-प्रधान नगरों की प्रायः सन्निधि सूचित होती है; राम को वन में छोड़ देने के बाद सारथी सुमंत्र नगरों और ग्रामों को देखते हुए लौटे थे (**पश्यन्यत्तो ययौ शीघ्रं ग्रामाणि नगराणि च**, २।५७।४)। प्रतीत होता है कि अयोध्या के नागरिकों के खेत नगर के बाहर या पास ही थे। तभी तो

---

१. ६।१२८।९८-१००, १०२ का पद्यानुवाद—श्री इंदुकांत शुक्ल।

२. ७।४१।२०; ७।९९।१२; ६।१२८।१-२; ७।७०।१०; ३।१६।५; ३।३५।२५-६; ७।५९(१)।८ इत्यादि।

राम के वन-गमन के समय उन्होंने कहा था कि हम अपने खेतों, घरों और बगीचों को छोड़कर राम का अनुगमन करेंगे।[1] नगरों की इस निकटता के फलस्वरूप ग्रामों में खेती को प्रोत्साहन मिलता होगा। कृषकों के लिए नगरों का सामीप्य आर्थिक दृष्टि से विशेष लाभदायक था, क्योंकि अपनी उपज की बिक्री के लिए उन्हें निकट ही सुलभ साधन मिल जाते थे।

यों तो राम-राज्य में भारत अकाल के भय से मुक्त था (**दुर्भिक्षभयवर्जितः**, १।१।९०); किंतु खेती के छः शत्रुओं की ओर जो संकेत हुआ है तथा राजा से उनके निवारण की जो अपेक्षा की गई है (२।१००।४४), उससे प्रतीत होता है कि दुर्भिक्ष कोई असंभव या सर्वथा अज्ञात घटना नहीं थी। वाल्मीकि ने अराजक स्थिति को देश में दुर्भिक्ष का एक कारण माना है। राम के पूर्ववर्ती युग के अकालों का भी वर्णन रामायण में उपलब्ध होता है। इन दुर्भिक्षों का प्रधान कारण अनावृष्टि होता था, जिससे खेतों की फसल नष्ट हो जाती थी। दशरथ के समय में उनके पड़ोसी राजा रोमपाद के अंग-राज्य में अनावृष्टि के कारण एक भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा था, जिससे सारी प्रजा त्रस्त एवं व्यथित हो गई थी।[2] कहते हैं कि मुनिकुमार ऋष्यशृंग के आगमन से इंद्र ने अकस्मात् वर्षा करके सर्वत्र प्रसन्नता का संचार कर दिया। ऐसे ही एक दुर्भिक्ष का वृत्तांत ऋषि अत्रि ने राम को वन में सुनाया था। यह दुर्भिक्ष अतीत के दिनों में लगातार दस वर्ष तक पड़ा, जिससे पृथ्वी जल गई थी।[3] उत्तरकांड के अनुसार इंद्र के अंतर्धान होने पर एक भीषण अकाल पड़ा, जिसके कारण पृथ्वी सत्त्वहीन हो गई, उसकी उत्पादन-शक्ति नष्ट हो गई, वन उजड़ गये, जलाशय सूख गये तथा समस्त प्राणी मृतप्राय हो गये। अश्वमेध-यज्ञ के अनुष्ठान से ही पृथ्वी की श्री-संपत्ति पुनः लौटी थी।

खेतों की सिंचाई मुख्यतः वर्षा के जल पर निर्भर करती थी, जैसाकि वर्षा की प्रतीक्षा करते हुए किसानों से संबंधित अनेक उपमाओं एवं उत्प्रेक्षाओं के प्रयोग

---

१. उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च। २।३३।१७

२. तस्य व्यतिक्रमाद्राज्ञः भविष्यति सुदारुणा। अनावृष्टिः सुघोरा वै सर्वलोक-भयावहा ॥ १।९।८-९

३. दशवर्षाण्यनावृष्ट्या दग्धे लोके निरन्तरम्। २।११७।९

से प्रकट है ।[1] फिर भी अनावृष्टि और दुर्भिक्ष से बचने के लिए सिंचाई के कृत्रिम साधनों का उपयोग किया जाता था। रामायण-काल में भी आज की तरह दो फसलें होती थीं; एक खरीफ की फसल, जो वर्षा के जल पर निर्भर करती थी, और दूसरी रवी की फसल, जो अन्य प्रकार की सिंचाई से बढ़ाई जाती थी। सिंचाई की दृष्टि से खेत दो भागों में विभाजित थे । जो खेत कृत्रिम साधनों से सींचे जाते थे, वे 'अदेवमातृक' या 'नदीमातृक' कहलाते थे, जबकि वर्षा पर निर्भर रहनेवाले खेत 'देवमातृक' कहलाते थे । कोसल-राज्य के खेतों को 'अदेवमातृक' कहा गया है (२।१००।४५); अर्थात् उनकी पैदावार वर्षा के जल पर निर्भर नहीं थी । इससे यह स्पष्ट सूचित होता है कि किसानों को सिंचाई के कृत्रिम साधन उपलब्ध थे।

सिंचाई के मुख्य साधन बड़े जलाशय, छोटे तालाव, नदियां और कुएं थे । कोसल-राज्य में तालाबों की अधिकता थी (तटाकैश्चोपशोभितः, २।१००।४३) । यदि खेत में कोई क्यारी सूखी हो और उसके पास ही दूसरी क्यारी जल से पूर्ण हो, तो पहली क्यारी सन्निकटताजन्य जलीयता के प्रभाव से अपने पौधों को सींच लेती थी ।[2] वर्षा में नदी की बाढ़ें तटवर्ती प्रदेश को उपजाऊ बना देती थीं ।[3] गोमती नदी के किनारे अनेक जलीय स्थल थे, जो गौओं के चरागाहों के काम आते थे ।[4] स्पष्टतः ये स्थल नदी की वर्षाकालीन बाढ़ों के कारण बन गये होंगे और वहां गौओं के चरने-योग्य भूमि वन गई होगी । हिमालय से निकलनेवाली सरयू नदी बारहों मास वहा करती थी, और सरयू का तटवर्ती देश होने के कारण कोसल-राज्य मे सिंचाई एवं अन्य प्रयोजनों के लिए जल की पर्याप्त उपलब्धि रहती होगी तथा वहां के किसान एकमात्र वर्षा-जल पर निर्भर नहीं रहते होंगे ।

नहरों, जलाशयों, कुओं, पुलों, बांधों आदि के निर्माता 'यंत्रक' कहलाते थे (२।८०।१) । उनका निर्माण राज्य की ओर से किया जाता था। नहर या नाली को 'प्रणाली' और बांध को 'रोधस्' कहते थे । अयोध्या से शृंगवेरपुर तक के मार्ग-

---

१. त्वामेव हि प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः । २।११२।१२; २।३२।१३ भी देखिये।
२. केदारस्येव केदारः सोदकस्य निरूदकः । उपस्नेहेन जीवामि...।। ६।५।११
३. तुलना कीजिये—प्रावृषीव महानद्याः स्पृष्टकूलं नवाम्भसा । २।२०।४६
४. गोमती गोयुतानूपाम् (गोयुक्तजलप्रदेशविशिष्टाम्) । २।४६।१०

निर्माण के समय यंत्रक कारीगरों ने भरत के आदेशानुसार थोड़े ही समय में अल्प जलवाले झरनों का जल रोकने के लिए बांध बना दिये, जिससे वे विविध आकारवाले अगाध जलयुक्त तालाबों में परिणत हो गये।[1] जहां जल का अभाव था, वहां उन्होंने अनेक नये कुएं और तालाब खोदे और उनके समीप लोगों के विश्राम के लिए चबूतरे बना दिये।[2] नदियों का जल संग्रह करने के लिए उन्हें बांधों से रोका जाता था, जैसाकि 'टूटे हुए बांधवाली नदी के समान' (**नदीं विस्रावितामिव**)[3] जैसी उपमाओं से सूचित होता है। वर्षा-काल में जल के वेग से सेतुओं के टूट जाने का भी वाल्मीकि ने उल्लेख किया है—**महतेवाम्बुवेगेन भिन्नः सेतुर्जलागमे** (२।१०५।५)। दशवर्षीय दुर्भिक्ष के समय अनसूया ने गंगा की धारा बहाकर (उसका प्रवाह बदलकर) प्रजा की प्राण-रक्षा की और फल-मूलों की उत्पत्ति कराई थी। इन सभी उल्लेखों से यह अत्यंत संभव जान पड़ता है कि रामायण-कालीन आर्य जल-संग्रह के कृत्रिम साधनों से पूर्णतया अवगत थे, जिनका उपयोग वे कृषि को समृद्ध बनाने में करते थे।[4]

---

१. अचिरेण तु कालेन परीवाहान्बहूदकान्। चक्रुर्विविधाकारान्सागरप्रतिमान्बहून्॥ २।८०।११

२. निर्जलेषु च देशेषु खानयामासुरुत्तमान्। उदपानान्बहुविधान् वेदिकापरिमण्डितान्॥ २।८०।१२

३. विस्रावितां रोधोभंगादिना अननिर्गमितजलामित्यर्थः (५।१९।१६) पर गोविंदराज की टीका।

४. हजार बाहुओंवाले कार्तवीर्य अर्जुन का नर्मदा में क्रीड़ा करना कहीं अनेक स्तंभोंवाले बांध के निर्माण का रूपकात्मक वर्णन तो नहीं है? सहस्रबाहु को देखकर राक्षसों ने रावण से कहा था—

बहुसालप्रतीकाशः कोऽप्यसौ राक्षसेश्वर।
नर्मदां रोगवद्रुद्ध्वा क्रीडापयति योषितः॥ ७।३२।१८

'हे राक्षसेश्वर, अनेक साल वृक्षों के समान यह भीमकाय (पुरुष) कौन है, जो नर्मदा को बांध की तरह रोककर स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहा है?' यह भी कहा गया है कि जल के इस प्रकार अचानक रुक जाने से नदी का प्रवाह उलटा चलने लगा था और उसमें समुद्र के समान बाढ़ आ गई थी— (शेष आगे)

उपयोग की दृष्टि से भूमि चार भागों में विभाजित थी—(१) निवास-भूमि (नगरों और ग्रामों-जैसे बस्तीवाले प्रदेश, जिन्हें पुर और राष्ट्र कहते थे), (२) कृषि-भूमि (क्षेत्र), (३) गोचर-भूमि या चरागाह (शाद्वल) तथा (४) वन-प्रदेश (कानन), जिसमें बंजर (ईरिण या ऊषर) भूमि भी संमिलित थी। सारी भूमि का स्वामी राजा होता था।[1] प्रजा द्वारा राजा को 'वलि' या कर देना राजा के भूमि-स्वामित्व का सूचक है।

खेत को 'क्षेत्र' या 'केदार' कहते थे। खेत के झाड़-झंखाड़ों की सफाई (शोधन) के बाद जुताई (कर्षण) की जाती थी। आज की भांति तब भी दुरात्मा कृषक द्वारा निर्दयतापूर्वक पीटे जानेवाले तथा सूर्य की गर्मी में झुलसनेवाले दुर्बल बैलों की दीन दशा का मार्मिक वर्णन हुआ है।[2] बुवाई के लिए मुट्ठी में बीज भर-भरकर खेत में फेंके जाते थे (**बीजमुष्टिः प्रकीर्यते, २।६७।१०**)। हल से जुती हुई खेत की पंक्ति (कूंड) को 'सीता' कहा जाता था। हेमंत-ऋतु में धूप के कारण श्याम-वर्ण हुई सीता कुहरे के कारण धुंधली पड़ी चांदनी की शोभा धारण कर लेती थी—

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न च शोभते॥ ३।१६।१४

खेत की बुवाई का उपयुक्त समय वर्षा-ऋतु था। उपजाऊ खेत में वर्षा-काल

कार्तवीर्यभुजासक्तं तज्जलं प्राप्य निर्मलम्।
कूलोपहारं कुर्वाणं प्रतिस्रोतः प्रधावति॥ ७।३२।५
तेन बाहुसहस्रेण संनिरुद्धजला नदी।
सागरोद्गारसंकाशानुद्गारान्सृजते मुहुः॥ ७।३२।१६

समस्त वर्णन के आधार पर यह अनुमान निरर्थक नहीं जान पड़ता कि कार्तवीर्य अर्जुन ने नर्मदा पर कोई बांध बंधवाया होगा, जिसका कवि ने रूपक-शैली में वर्णन किया है (देखिये—अखिल भारतीय प्राच्य परिषद् के सप्तम अधिवेशन के विवरण में श्री विष्णु करंदीकर का 'नर्मदा घाटी की सभ्यता' शीर्षक लेख)।

१. तुलना कीजिये—इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना। ४।१८।६
२. तुलना कीजिये—एतौ दृष्ट्वा कृशौ दीनौ सूर्यरश्मिप्रतापितौ। वध्यमानौ बलीवर्दौ कर्षकेण दुरात्मना॥ २।७४।२३

में बोया हुआ बीज अवश्य फलीभूत होता है।[1] हवा और घाम से नष्ट हुए बीज वर्षा होने पर पुनः हरे-भरे हो जाते हैं।[2] सामयिक और अच्छी वर्षा (सुवर्ष) खेती के लिए विशेष लाभदायक थी (अथवा, एक पाठांतर के अनुसार, वर्षा की तीन झड़ियां—त्रिवर्ष—खेती के लिए अनुकूल मानी जाती थीं)।[3] कर्म-फल की भांति धान्य के पकने में भी समय लगता है।[4] आधे उगे हुए धान्यवाली भूमि में वर्षा बड़ी हितकर होती है।[5]

चावल के खेत को 'कलम-क्षेत्र' कहते थे। किष्किंधाकांड में एक ऐसे कलम-क्षेत्र का उल्लेख किया गया है, जिसमें वर्षा के कारण कोंपलें फूट रही हैं (**प्रसूतं कलमक्षेत्रं वर्षेणेव शतक्रतुः, ४।१४।१६**)। चावल की दो फ़सलें होती थीं, एक तो शरद्-ऋतु की व्रीहि की फसल, जो लगभग कार्तिक मास में काटी जाती थी; और दूसरी हेमंत-ऋतु की फसल, जो लगभग फाल्गुन मास में काटी जाती थी। शरद् और शिशिर ऋतुओं के वर्णन में राम ने पके हुए धान की बालों और फसलों की पंक्ति से युक्त पृथ्वी की ओर संकेत किया है।[6]

खेती के शत्रुओं का उल्लेख राम ने हिंसाओं के रूप में किया है (२।१००।४४)। टीकाकारों ने इन हिंसाओं का अर्थ छः 'ईतियां' किया है, जिनके अंतर्गत अनावृष्टि, बाढ़, चूहे, पक्षी, टिड्डियां तथा शत्रुओं के आक्रमण गिने जाते हैं।

किसान लोग खेती में निम्नलिखित औजारों और वस्तुओं का उपयोग करते थे—

कठिनकाज (२।५५।१८)—गेंती और चमड़े का थैला।

---

१. तुलना कीजिये—**वर्षास्विव च सुक्षेत्रे सर्वं सम्पद्यते तव ॥ ४।७।२०**

२. तुलना कीजिये—**वातातपक्लान्तमिव प्रणष्टं वर्षेण बीजं प्रतिसंजहर्ष ॥ ५।२९।६**

३. तुलना कीजिये—**अभ्युपैष्यति धर्मात्मा सुवर्ष (त्रिवर्ष) इव लालयन्। २।४३।१६**

४. **कालोऽप्यंगीभवत्यत्र सस्यानामिव पक्तये ॥ ३।४९।२७**

५. तुलना कीजिये—**त्वां दृष्ट्वा प्रियवक्तारं संप्रहृष्यामि वानर। अर्धसंजातसस्येव वृष्टिं प्राप्य वसुन्धरा ॥ ५।४०।२**

६. **विपक्वशालिप्रसवानि भुक्त्वा प्रहर्षिता सारसचारुपंक्तिः ॥ ४।३०।४७**

कलश (२।६३।३८)—धातु का घड़ा।
कुठार (२।८०।७)—कुल्हाड़ी।
कुद्दाल (२।३२।२६)—कुदाल।
कुंभ (२।६४।१५)—मिट्टी की गागर।
क्षुर (३।४७।४१)—छुरा।
खनित्र (२।३१।२५)—फावड़ा।
टंक (२।८०।७)—टांकी।
दात्र (२।८०।७)—दरांती।
परशु (२।३२।३२)—फरसा।
पिटक (२।३१।२५)—टोकरी।
फाल (२।३२।२६)—हल के नीचे लगा हुआ छड़।
लांगल (१।४०।२७)—एक प्रकार का हल।
शूल (१।३६।१६)
हल (१।३६।१६)

ऋग्वेद के समय की कृषि-व्यवस्था को देखते हुए रामायण-काल में कृषि की स्थिति पर्याप्त उन्नत हो चुकी थी। यद्यपि वाल्मीकि ने तत्कालीन खेती की प्रणाली और उत्पादन के विषय में अधिक जानकारी नहीं दी है, तथापि रामायण में विविध प्रकार के खाद्य पदार्थों के उल्लेखों से तथा उनकी बहुलता के वर्णनों से प्रतीत होता है कि आर्य लोग अनेक प्रकार के अन्नों का प्रचुर मात्रा में उत्पादन करते थे। जब पार्वती ने पृथ्वी को ('नैकरूपा' १।३६।२३), अनेक रूपोंवाली हो जाने का शाप दिया, तब उन्होंने प्रकारांतर से पृथ्वी की विविध पदार्थों को उत्पन्न करने की क्षमता भी स्वीकार की। वृत्र के शासन-काल की कृषि-समृद्धि का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने पृथ्वी को 'सभी इच्छाओं को तृप्त करनेवाली' ('सर्वकामदुघा' ७।८४।७) बताया है। इस प्रकार उन्होंने स्वीकार किया है कि राष्ट्र की सर्वांगीण प्रगति कृषि-उद्योग की समृद्धि पर निर्भर है।

कृषि के सहकारी धंधे के रूप में फलों के बगीचे लगाने का उद्योग भी बहुत प्रचलित था। अशोकवाटिका के वर्णन से तत्कालीन उद्यान-विद्या का पर्याप्त आभास मिलता है। सुग्रीव का मधुवन एक समृद्ध फलोद्यान था, जिसकी बड़े ध्यान से देखभाल की जाती थी (५।६१-२)। क्योंकि उद्यानों को ऐसे वृक्षों से युक्त बताया गया है,

जिनमें सभी ऋतुओं के फल-फूल लदे रहते थे,[1] अतः फलोद्योग की उन्नतावस्था सूचित होती है। रामायण में इतनी विविध प्रकार की वनस्पतियों—पुष्प-वृक्षों, छाया-वृक्षों, फल-वृक्षों तथा दारु-वृक्षों—के नाम आये हैं कि उनकी एक बड़ी लंबी सूची बन सकती है। यदि इतिहास और वनस्पति-विज्ञान की दृष्टि से उनका अध्ययन किया जाय तो प्राचीन भारत की वनस्पति-विद्या पर भरपूर प्रकाश पड़ेगा।[2]

कृषि और पशु-पालन दोनों परस्पर-पूरक धंधे थे। रामायण-काल में पशु-प्रधान गांव को 'घोष' कहा जाता था। ग्राम-घोषों का रामायण में प्रायः संयुक्त उल्लेख हुआ है, जिससे इन दोनों प्रकार की बस्तियों की निकटता तो सूचित होती ही है, कृषि और पशु-पालन की पारस्परिक निर्भरता का भी संकेत मिलता है।

पशु-पालन में सर्वापेक्षा अधिक महत्त्व गो-पालन का था। गो-पालन देहाती क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं था, शहरी क्षेत्रों में भी गौओं की बहुतायत थी। अयोध्या नगरी हाथियों, घोड़ों, गौओं, ऊंटों तथा गधों से भरी पड़ी थी (**वाजिवारणसंपूर्णा गोभिरुष्ट्रैः खरैस्तथा, १।५।१३**)। कहा जाता है कि जिस दिन राम ने वन को प्रस्थान किया, उस दिन अयोध्या में गौओं ने अपने बछड़ों तक को दूध नहीं पिलाया (**गावो वत्सान्न पाययन्, २।४१।९**)।

रामायण में ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनमें ब्राह्मण-याचकों को असंख्य गौएं दान में दी गई हैं। इससे यह स्पष्ट है कि देश में गोधन का बाहुल्य था। वन-प्रयाण करते समय राम ने मार्ग में तमसा तथा गोमती नदियों के किनारे पर गौओं के झुंड-के-झुंड चरते देखे थे। कोसल-प्रदेश 'पशुमान्' अर्थात् ढोरों से भरा-पूरा था। लाखों और करोड़ों गौओं की उपस्थिति का स्थल-स्थल पर उल्लेख मिलता है। राजा स्वयं गो-पालन एवं गो-संवर्धन करता था। राम ने भरत से चित्रकूट पर पूछा था, "तुम्हारे पास विपुल गोधन है (**कच्चित्ते सन्ति धेनुकाः, २।१००।५०**)?"

गो-शालाओं को 'प्रत्यागार' तथा गो-समूह को 'गोकुल', 'गोयुत' अथवा 'गोव्रज' कहा जाता था। ग्वाले को 'गोपाल' और चरागाह को 'शाद्वल' कहते

---

१. सर्वकामफला वृक्षाः सर्वे फलसमन्विताः। ६।२७।३६; सर्वकामफलद्रुमाः। ६।२७।३४; नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः। ६।१२८।१०२

२. देखिये शिवदास चौधरी—'कांकार्डन्स आफ द फौना इन द रामायण' ('इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली', २८।२ से ३०।२ तक)

थे।[1] भरद्वाज के आश्रम में भरत के सैनिकों को चारों ओर पशुओं के लिए ऐसे विस्तृत चरागाह दिखाई पड़े थे, जिनपर नीली वैदूर्यमणि के समान नरम-नरम घास जमी थी—

नीलवैदूर्यवर्णांश्च मृदून्यवससंचयान्।
निर्वापार्थं पशूनां ते ददृशुस्तत्र सर्वशः।। २।९१।७९

आर्थिक दृष्टि से गो-पालन का विशेष महत्त्व था। बैलों को हल चलाने के काम में लिया जाता था। उनपर सवारी भी की जाती थी तथा उन्हें देहाती गाड़ियों (गो-रथों) में जोता जाता था। दूसरी ओर, गौएं पारिवारिक एवं धार्मिक क्रियाओं के लिए दूध-दही-घी सुलभ करती थीं। आज की तरह तब भी ढोरों का गोबर ईंधन के रूप में जलाने के काम आता था। भरत ने चित्रकूट-स्थित राम की कुटिया में उपलों के ढेर लगे देखे थे, जो सर्दी से बचने के लिए जलाये जाते थे।[2] राष्ट्र की उन्नति में ग्वालों के योग-दान को राम ने स्वीकार किया था।

गो-संवर्धन मनोयोग से किया जाता था। समूचे कोसल-राज्य में व्यापक रूप से गौओं की नस्ल-सुधार का कार्य होता था। गो-समूहों के बीच विचरते हुए मस्त गो-वृषों (सांड़ों) का कई जगह उल्लेख आया है।[3] प्रतीत होता है, गो-वंश की वृद्धि के लिए चुने हुए सांड़ ही नदी-तटों पर चरती हुई गौओं के साथ रखे जाते थे।

वैदिक काल की भांति रामायण के युग में भी गौओं को छीनकर भगा ले जाने की प्रथा प्रचलित थी। वसिष्ठाश्रम की कपिला गौ को राजा विश्वामित्र बलपूर्वक हर ले जाना चाहते थे, किंतु आश्रम में रहनेवाले शक, यवन, पह्लव और अन्य बर्बर लोगों ने प्रत्याक्रमण करके उन्हें मार भगाया। ये लोग संभवतः आश्रम के गो-धन की रक्षा के लिए नियुक्त किराये के भृत्य थे (१।५४)।

---

१. देखिये क्रमशः २।४०।४३; २।४६।१७; २।४९।१०; २।३२।३९; २।६७।२९; ३।१६।२०
२. ददर्श भवने तस्मिन् महतः संचयान् कृतान्। मृगाणां महिषाणां च करीषैः शीतकारणात्।। २।९९।७
३. मदोत्कटाः सम्प्रति युद्धलुब्धा वृषा गवां मध्यगता नदन्ति। ४।३०।३८; ४।२३।२६; २।११४।९ भी देखिये।

गौ और बैल के बाद राष्ट्र के आर्थिक जीवन में घोड़े का प्रमुख स्थान था। घोड़ों की अच्छी नस्ल तैयार करने का विशेष ध्यान रखा जाता था। राम के घोड़े श्रेष्ठ नस्ल के शीघ्रगामी तुरग थे।[1] भरत के चित्रकूट आने पर उन्होंने दूर से ही अपने पिता के मनोहर, वायु के समान वेगवाले तथा अच्छी नस्ल के घोड़े पहचान लिये थे।[2]

विशिष्ट कार्यों के लिए घोड़ों की विशेष नस्लें तैयार की जाती थीं। अश्व-सेना के घोड़ों को सामरिक प्रशिक्षण दिया जाता था। राम-जैसे राजकुमारों को अश्वारोहण की शिक्षा मिली हुई थी। सामरिक रथों में जोते जानेवाले घोड़े 'सांग्रामिक हय' कहलाते थे, उन्हें रण-भूमि के शोरगुल को सहन करने तथा निर्दिष्ट गतिविधि करने की शिक्षा दी जाती थी। इंद्रजित् के युद्ध-रथ में 'विधेय अश्व' (प्रशिक्षित घोड़े) जुते थे; सारथी के मर जाने पर उन्होंने रण-क्षेत्र में चतुराई-भरी हलचलें करके सबको विस्मय में डाल दिया था।[3] रावण के महारथ को 'विनीत' (सिखाये हुए) अश्व हांकते थे। सामरिक अश्वों को सोने के आभूषणों से सजाया जाता तथा कवचादि से सुरक्षित रखा जाता था। आमोद-प्रमोद के काम में आनेवाले पुष्परथों, राजकीय रथों तथा सामान्य रथों में जोते जानेवाले घोड़ों को भी तदनुरूप प्रशिक्षण दिया जाता था। वेगवान् पहाड़ी घोड़े (पार्वतीय तुरंगम) जमाकर पैर रखते थे और ऊबड़-खाबड़ जमीन पर काम में लाये जाते थे। पर्वतीय प्रदेश में रथ हांकने में उपयुक्त होने के कारण उनका भरत ने, केकय से अयोध्या लौटते समय, उपयोग किया था। घोड़ों का सबसे इष्ट गुण उनकी त्वरित गति थी। तेज चालवाले घोड़ों की अलग नस्लें तैयार की जाती थीं। भरत को केकय से बुला लाने के लिए जो दूत भेजे गए थे, उनके घोड़े विशेष रूप से तेज (संमत) थे।[4]

---

१. वहन्तो जवना रामं भो भो जात्यास्तुरंगमाः। २।४५।१४
२. एतौ तौ सम्प्रकाशेते गोत्रवन्तौ मनोरमौ। वायुवेगसमौ वीरौ जवनौ तुरगोत्तमौ॥ २।९७।२४
३. असूतास्ते हयास्तत्र रथमूहुरविक्लवाः। मण्डलान्यभिधावन्ति तदद्भुतमिवाभवत्॥ ६।९०।२८-९
४ हयानारुह्य संमतान्। २।६८।१० (जवनत्वेनाध्वश्रमसहत्वेन च संमतान्—गोविंदराजः)।

घोड़ों की उत्तम नस्लें तैयार करने का काम विशिष्ट प्रदेशों में होता था (देशजात, कुलज)। उन दिनों की श्रेष्ठ अश्व-जातियों में कंबोज (तारतार), बाह्लीक (बैक्ट्रिया), नदीज (सिंध) और वनायु (अरब) के नाम उल्लेखनीय हैं (१।६।२२)। संभवतः ये नस्लें पड़ोसी देशों से आयात की जाती थीं।

सेना के विविध विभागों में ऊंटों की भी एक टुकड़ी होती थी। रावण की सेना में उष्ट्र-सवारों का एक विभाग था (६।५३।५)। रथों में भी ऊंट जोते जाते थे (उष्ट्र-रथ)। ऊंट किस प्रदेश के प्राणी थे, इसका उल्लेख नहीं किया गया है।

अश्वतरी (खच्चर), शांति और युद्ध, दोनों कालों में बोझा ढोने या खींचने के काम आती थी। गधों से भी रथ हंकवाये जाते थे। रावण के रथ में जुते गधों के मध्य भाग सोने के 'उरश्छदों' (जिरहबख्तर) से सुरक्षित थे और उन्हें पिशाचों के-से कनटोप पहनाये गए थे (**कांचनोरश्छदाश्चेमे पिशाचवदनाः खराः**, ३।६४। ४६)। शीघ्रगामी गधों की नस्ल संभवतः केकय देश की विशेषता थी।

केकय में शक्तिशाली, खूंख्वार कुत्तों की नस्ल होती थी। वे राजप्रासादों की भीतरी कक्ष्याओं में परिपुष्ट किये जाते थे। वे ऊंचे डीलडौलवाले, बाघों की तरह बल-वीर्य-संपन्न तथा बड़े-बड़े दांतोंवाले होते थे। केकयराज ने भरत को ऐसे कुत्ते उपहार में दिये थे।[1]

नागरिक और सामरिक दोनों प्रकार की आवश्यकताओं के लिए तथा राजकीय वैभव और समृद्धि के प्रदर्शन में हाथियों का अनिवार्यतः उपयोग होता था। अपने उदार, सौम्य और भव्य स्वरूप के लिए हाथी मूल्यवान् होते थे। अच्छी नस्ल के हाथी सावधानी से पाले जाते थे। उनके संरक्षण और संवर्धन के लिए राजाओं के पास विशाल वन होते थे, जो 'नागवन' कहलाते थे। उनकी सुरक्षा और देखभाल के लिए चित्रकूट पर राम ने भरत का ध्यान आकर्षित किया था (**कच्चिन्नागवनं, गुप्तम्** २।१००।५०)।

जंगली हाथियों को पकड़ने और उन्हें पालतू बनाने की नियमित व्यवस्था थी। इसमें पहले से पालतू बनाये गए हाथियों का सहयोग लिया जाता था। हथि-

---

१. **अन्तःपुरेऽतिसंवृद्धान् व्याघ्रवीरबलोपमान्। दंष्ट्रायुक्तान्महाकायान् शुनश्चोपायनं ददौ॥** २।७०।२०

नियों से भी उन्हें फंसाया जाता था। रात के समय बहुत-से लोग मशालें लेकर जंगली हाथियों का पीछा करते और उन्हें तिनकों से ढके कुओं में खदेड़ देते थे। तोमरों और अंकुशों से भी हाथी को घायल करके जमीन पर गिरा दिया जाता था। बंदी बनाने के बाद हाथी को रस्सियों से बांध दिया जाता था।[1] रावण के चंगुल में फंसी सीता की तुलना उस गजराज-वधू से की गई है, जो अपने यूथपति से बिछुड़ गई है, जो पकड़कर खंभे से बांध दी गई है तथा लंबी-लंबी उसांसें भर रही है—

गृहीतां लाडितां स्तम्भे यूथपेन विनाकृताम्।
निःश्वसन्तीं सुदुःखार्तां गजराजवधूमिव ।। ५।१९।१८

महावत लोग 'महामात्र', हाथियों की देखभाल करनेवाले नौकर 'कुंजरग्रह' या 'हस्तिबंधक' और गज के स्वामी 'हस्त्यध्यक्ष' कहलाते थे। युद्ध में हाथियों की रक्षा के लिए चमड़े की ढालें हुआ करती थीं। हाथियों को विपक्षी हाथियों से टक्कर लेने की शिक्षा दी जाती थी। साठ वर्ष की आयुवाले (**षष्टिहायनाः**) हाथी बहुमूल्य और अतिशय बल के प्रतीक माने जाते थे। रावण के यहां हनुमान् ने दो, तीन और चार दांतोंवाले हाथी देखे थे (**चतुर्विषाणैर्द्विरदैस्त्रिविषाणैस्तथैव च। परिक्षिप्तम्...**, ५।६।५)।

हिमालय तथा विंध्य पर्वतों की तराइयां अच्छी नस्ल के हाथियों के लिए प्रसिद्ध थीं। वहां के हाथी पर्वत के समान विशाल, मदोन्मत्त और अत्यंत बलवान् होते थे; उनके मस्तक पर से निरंतर मद चूता रहता था।[2] अयोध्या नगरी में ऐरावत-कुल, महापद्म-कुल, आंजन-कुल और वामन-कुल, इन नस्लों के श्रेष्ठ हाथी विद्यमान थे (१।६।२३-४)। ऐरावत और इंद्रशिर पर्वतों की गज-जातियों को 'प्रियदर्शन' कहा गया है।[3]

पशुओं से प्राप्त होनेवाले पदार्थों से अनेक कुटीर-उद्योग चलाये जाते थे। दुग्ध-पदार्थ बनाने का कुटीर-उद्योग देहातों में प्रचलित था। ग्वालों के घोष बड़े

---

१. देखिये ३।५५।३१; ६।१६।६-८; ५।४७।२०; २।२१।५४, ६।१३।१९; ६।२४।३८; २।७४।३५; ५।११।६४

२. **विन्ध्यपर्वतजैर्मत्तैः पूर्णा हैमवतैरपि। मन्दान्वितैरतिबलैर्मातंगैः पर्वतोपमैः ।।** १।६।२३

३. **ऐरावतान्नैन्द्रशिरान्नागान्वै प्रियदर्शनान्।** २।७०।२३

समृद्ध थे। हेमंत-ऋतु का वर्णन करते हुए लक्ष्मण ने देहातों को दुग्ध और दुग्ध-पदार्थों से भरपूर बताया था। शाकाहार के व्यापक प्रचलन के कारण दूध और दूध से बने पदार्थों की बड़ी मांग रही होगी।

हाथी-दांत का उद्योग भी काफी उन्नत था। इस काम में लगे कारीगर 'दंतकार' कहलाते थे। रथों, सिंहासनों, शयनासनों तथा राजमहलों में हाथी-दांत की पच्चीकारी की जाती थी। धनी वर्गों में इसकी बड़ी मांग थी। कैकेयी का महल हाथी-दांत की चौकियों तथा आसनों से संपन्न था।[1] लंका के प्रासादों में हाथी-दांत के खंभे और झरोखे थे, जिनपर सोने की जालियां पड़ी थीं।[2] (३।५५।८,१०) रावण के रथ में हाथी-दांत की प्रतिमाएं थीं।[3] उसके कमरे में स्फटिक का फर्श था, जिसके जोड़ों में हाथी-दांत जड़ा था (दन्तान्तरितरूपिकाम् ५।६।२३)। कुंभकर्ण के महल का तोरण हाथी-दांत की चित्रकारी से सज्जित था (दान्ततोरणविन्यस्तम्, ७।१३।५)। स्पष्ट है, हाथी-दांत के उद्योग में कई शिल्पी लगे होंगे।

व्याघ्र-चर्म, सिंह-तनु और मृग-चर्म या अजिन ओढ़ने-बिछाने के बहुत काम आते थे, जिससे चमड़ा कमाने की कला का ज्ञान प्रमाणित होता है। शय्या, रथ और सिंहासन पर वे प्रायः बिछाये जाते थे। धार्मिक क्रियाओं में मृग-चर्म का ही अधिकतर प्रयोग होता था। मृग-चर्म में कभी-कभी सोने की कशीदाकारी की जाती थी।[4] केकय देश का मृग-चर्म उत्कृष्ट माना जाता था। मुलायमित, रंग-बिरंगापन और सोफियानापन अच्छे मृग-चर्म के लक्षण थे। कदली, प्रियकी, प्रवेणी और आविकी की किस्में अच्छी होती थीं (३।४३।३५-६)। बकरे की

---

१. दान्तराजतसौवर्णैर्वेदिकाभिः समायुतम्। २।१०।१४; दान्तराजतसौवर्णैः संवृतं परमासनैः। २।१०।१५
२. दान्तकैस्तापनीयैश्च स्फाटिकै राजतैस्तथा।...स्तम्भैर्दृष्टिमनोरमैः। ३।५५।८; दान्तका राजताश्चैव गवाक्षाः प्रियदर्शनाः। हेमजालावृताश्चासंस्तत्र प्रासादपंक्तयः॥ ३।५५।१०
३. दान्तकांचनराजतीः (दन्तादिमयीः प्रतिमाः सन्धारयद्भिः रथैरिति शेषः)। ५।६।६
४. तेषु कांचनचित्रेषु...मृगचर्मयुतेषु च। ७।१।१४-५

खाल 'अजाविक' कहलाती थी। चमर-मृग के बालों से चंवर बनाये जाते थे, जिन्हें 'चामर व्यजन' (२।३।११) या 'व्याल-व्यजन' (२।६१।३६) कहते थे। मृगों से कस्तूरी भी प्राप्त की जाती थी। 'आर्षभ चर्म' अर्थात् बैलों की खाल का कई प्रकार से उपयोग किया जाता था। बैल की खाल की ढालें राक्षस और विद्याधर जाति के लोग काम में लाते थे (६।५४।३०; ५।१।२४)। मृग-चर्म के स्थान पर लंका के राक्षस-तपस्वी 'गोजिन' (बैल का चर्म) धारण करते थे (५।४।१५)। हाथी के चमड़े से बना रंग-बिरंगा ऊनी कालीन 'कुथा' कहलाता था। रावण के अनुचर चमड़े की ढालें व्यवहार में लाते थे (**असिचर्मधरा योधाः**, ६।११।५)।

वनों (अरण्यों या काननों) की उपज से पूरा आर्थिक लाभ उठाया जाता था। वाल्मीकि के समय में दक्षिण भारत का अधिकांश घने जंगलों से व्याप्त था। वनों पर राजकीय अधिकार होता था, और समाज के लिए उनका अत्यधिक आर्थिक महत्त्व था। ताम्रपर्णी नदी के द्वीपों पर चंदन के वन थे। गोचर-भूमि और श्मशान-भूमि के रूप में वनों का उपयोग होता ही था। ईंधन के वे अटूट स्रोत थे। कुल्हाड़ी से पेड़ों की लकड़ी काटने के अनेक उल्लेख मिलते हैं (२।८।३०; २०।३२; ७२।२२)। वनों से अपनी आजीविका चलानेवाले **वनजीवनैः** (२।८।३०) या **वनजैः** (२।५४।७) कहलाते थे। गृहों, रथों, शयनासनों, यज्ञ-संबंधी सामग्रियों इत्यादि के निर्माण में वनों का अधिक-से-अधिक उपयोग किया जाता था। साल, औंदुबर, वेणु, ताल और देवदारु वृक्ष लकड़ी की दृष्टि से विशेष उपयोगी माने जाते थे।

जंगली पेड़ों से 'आरण्यक मधु' (जंगली शहद) प्राप्त किया जाता था। उनसे 'निर्यास' नामक पदार्थ भी इकट्ठा किया जाता था। वह पेड़ों और पौधों का रस होता था, जो बहकर उनके तनों के पास इकट्ठा होकर गोंद की तरह जम जाता था। ऐसे गोंदों का भी उल्लेख मिलता है, जिनका सुगंधियुक्त वस्तुओं के निर्माण में उपयोग होना था।[1] ऋषि-मुनि अपनी जटाओं में बड़ का दूध (न्यग्रोध-क्षीर) लगाते थे। वनों के फल-मूलों का वनजीवियों तथा अरण्यवासी तपस्वियों के लिए आहार की दृष्टि से बड़ा महत्त्व था। समुद्रवर्ती प्रदेश के वृक्षों से मरीच (काली मिर्च) और पिप्पली (पीपर)-जैसी मिर्च, तक्कोल और नारिकेल-जैसे फल, तमाल-जैसे पत्ते तथा खजूर-जैसे मेवे प्राप्त होते थे। चंदन और केसर-जैसे

---

१. निर्यासरसमूलानां चन्दनानां सहस्रशः ॥ ३।५५।२१

पदार्थ, जिनका नागरिकों के सौंदर्य-प्रसाधनों में उपयोग होता था, वन से ही प्राप्त होते थे। वनवासी मुनि लोग पेड़ों की छालों का वल्कल-वस्त्र के रूप में उपयोग करते थे। राजकीय ग्रासनों का वर्णन करते समय उन्हें बेंत के जालों से ढका बताया गया है (कुशान्तर्धानदत्तेषु ग्रासनेषु, ७।१।१५), जिससे ग्रनुमान होता है कि बेंत का उद्योग काफी उन्नत था।

वाल्मीकि ने ग्रनेक खनिज-पदार्थों की ग्रोर भी संकेत किया है। राम ने कोसल-राज्य को खानों से सुशोभित बताया है (खनिभिश्चोपशोभितः, २।१००।४७)। हिमालय ग्रौर विंध्य-पर्वतमालाग्रों में ग्रनेक प्रकार की धातुएं पाये जाने का उल्लेख हुग्रा है। इसी प्रकार चित्रकूट, कैलास, प्रस्रवण, सह्य, मलय ग्रौर उदय पर्वतों को भी 'धातु-मंडित' (धातुशतैश्चितम् ४।३८।३) कहा गया है। जिस पर्वत से हनुमान् ने लंका की ग्रोर उड़ान भरी थी, वह नीले, लाल, मजीठ ग्रौर कमल के वर्ण के तथा सफेद-काले रंग के स्वभाव-सिद्ध, विशुद्ध धातुग्रों से भूषित था।[1] चित्रकूट के नाना प्रकार के धातुग्रों में कोई चांदी के तुल्य, कोई लाल, कोई पीला, कोई काला, कोई नीला ग्रौर कोई मजीठ के रंग का दीख पड़ता था (२।९४।५-६)।

कतिपय विशेष प्रकार की धातु-प्रधान चट्टानों का उल्लेख मिलता है। कड़े या बलुए प्रस्तर-खंडों को 'शिला' की संज्ञा दी जाती थी। पारदर्शक शिलाएं 'स्फटिक' कहलाती थीं। खानों से मनःशिला (मैनसिल), गैरिक (गेरू) ग्रौर कालागुरु (काला ग्रगरु)-जैसे प्रसाधन-पदार्थ भी प्राप्त किये जाते थे।

नदी के तल से भी धातु निकाले जाते थे। इस प्रकार प्राप्त होनेवाला सोना 'जांबूनद' कहलाता था (१।१४।५४)। धातुग्रों के परिशोधन तथा मिश्रित धातुग्रों के उत्पादन की कला ज्ञात थी। खर ने सोने-जैसे प्रतीत होनेवाले तांबे की ग्रोर संकेत किया था, जो ग्रग्नि में तपाये जाने पर ग्रपना ग्रसली रूप प्रकट कर देता है।[2] सोने को भी तपाकर उसकी ग्रशुद्धियां ग्रलग कर दी जाती थीं।[3] ग्राभूषणों की बनावट तथा शरीर के ग्रादर्श वर्ण का वर्णन करने में तपाये गए सोने का प्रायः

---

१. स्वभावसिद्धैर्विमलैर्धातुभिः समलंकृतम्। ५।१।५
२. सुवर्णप्रतिरूपेण तप्तेनेव कुशाग्निना। ३।२८।२०
३. ग्रग्नौ विवर्णं परितप्यमानं किट्टं यथा राघव जातरूपम्। ४।२४।१८

उल्लेख किया जाता है ।[1] पीतल और कांसे के बर्तनों के उल्लेख से टीन और जस्त का प्रयोग ध्वनित होता है ।

इस्पात बनाने के लिए लोहा ढाला जाता था । 'सूची' या सुई के उल्लेख से इस्पात और इस्पात के औजारों के निर्माण की सूचना मिलती है । तेज धारवाले क्षुरों (३।४७।४१) का उल्लेख पानी चढ़े हुए इस्पात का प्रयोग द्योतित करता है ।

घटिया धातु को रासायनिक प्रक्रिया द्वारा उत्कृष्ट धातु में परिवर्तित करने की विद्या रस-विद्या कहलाती है । यह विद्या उस युग में प्रचलित थी अथवा नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता । बालकांड के ६७वें सर्ग में इस प्रक्रिया की ओर संकेत किया गया है, किंतु कुछ विद्वान् इसे प्रक्षिप्त मानते हैं ।

वाल्मीकि ने निम्नलिखित धातुओं का प्रसंगवश उल्लेख किया है—

आयस् (२।४०।२३) या **कालायस** (५।४१।१२)—फौलाद ।

पीतल—३।२६।२० में संकेतित ।

कार्ष्णायस (१।३७।१७) या **लोह** (३।४७।४६)—लोहा ।

कांस्य (४।५०।.४)—कांसा ।

रजत (२।३४।१४) या **हिरण्य** (१।५३।२१)—चांदी । सुग्रीव ने कोशकारों की भूमि में चांदी की खानों का वर्णन किया था (४।४०।२३) ।

सुवर्ण (२।३२।१४), **कांचन** (१।३७।१९), **जातरूप** (१।३७।२२), **जांबूनद** (१।१४।५४), **महारजत** (५।१०।७) या **हैम** (४।५०।३४)—सोना ।

सीस (१।३७।२०)—सीसा ।

ताम्र (४।२३।२०)—तांबा ।

त्रपु (१।३७।२०)—टीन ।

धातुओं के व्यापक प्रयोग से खनिज-उद्योगों का भी प्रचलन सूचित होता है । सोने-चांदी का विविध प्रकार के पात्र और आभूषण बनाने में उपयोग होता था । इस्पात का उपयोग अर्गल, बाण की नोक, तलवार और पट्टिश बनाने में होता था । कवचादि का निर्माण उन युद्ध-बहुल दिनों में काफी होता होगा । कवच, गदा तथा अन्य शस्त्रों में कार्ष्णायस या लोहे की जगह कालायस या फौलाद काम में लाया जाता था । तलवारों और बाणों का पैनापन दर्शनीय था । उनके निर्माण में कारीगर

१. तप्तजाम्बूनदप्रभम् । १।३७।१८; तप्तहाटकभूषणो । ४।३।१८

प्रशंसनीय कौशल का परिचय देते थे। धनुष-बाण और खड्ग को स्वर्ण-भूषित करके वे अपनी कलाप्रियता प्रकट करते थे। घोड़ों और हाथियों के लिए भी उपयुक्त कवचादि बनाये जाते थे।

इस्पात के नानाविध उपकरण बनते थे। यंत्रायुध, इषूपलयंत्र, पुलों को उतारने-उठाने के यंत्र, बड़ी-बड़ी चट्टानें उठाने-ले जाने के यंत्रादिक इसके प्रमाण हैं। दुर्गों में किलेबंदी और संरक्षण के लिए धातु-निर्मित मशीनों और यांत्रिक औजारों का व्यापक व्यवहार यंत्र-निर्माण-कला की उन्नतावस्था सूचित करता है।

एक ऐसे समाज में, जहां स्त्री-पुरुष दोनों आभूषण-प्रिय थे, यह स्वाभाविक था कि मणिकार और स्वर्णकार के पेशे समृद्ध हों। सोने के विविध कलापूर्ण आभूषण तथा विभिन्न आकार-प्रकार के मणि-रत्न इस बात के प्रमाण हैं कि सोने और ज़वाहरात की कारीगरी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। समुद्र-तल से बहुमूल्य मूंगे-मोती प्राप्त किये जाते थे। लंका से मारीच-आश्रम की ओर जाते समय रावण ने मार्ग में समुद्र-तट पर हजारों मूंगे सूखते हुए देखे थे—**मुक्तानां च समूहानि शुष्यमाणानि तीरतः** (३।३५।२३)।

महलों के निर्माण में पारदर्शी स्फटिक (शीशा) प्रयुक्त होने के अनेक उल्लेखों से कांच-उद्योग का अस्तित्व सूचित होता है।

इनके अतिरिक्त और भी कई उपयोगी उद्योग-धंधे प्रचलित थे। कुशल कारीगर अपने-अपने विशिष्ट शिल्प का अनुसरण करते थे। 'टंक' या टांकी से काम करनेवाले मूर्तिकारों और पत्थर का काम करनेवालों की बड़ी मांग थी। आग लगाकर चट्टानों को तोड़ने की कला से वे परिचित थे। अनेक मंजिलवाले भवनों, प्रासादों, देवालयों, दुर्गों आदि का निर्माण कुशल स्थपतियों की कला का नमूना था। संगीत के व्यापक प्रचलन से ज्ञात होता है कि वाद्य यंत्रों के निर्माण में अनेक शिल्पी लगे हुए होंगे।

वस्त्र-उद्योग में भी कम प्रगति लक्षित नहीं होती। कुशल बुनकर 'सूत्र-कर्म-विशारद' कहलाते थे (२।८०।१)। कई प्रकार के तंतुओं से वस्त्र बनाये जाते थे। ऊनी कपड़े भी बहुतायत से बनते थे। मेढ़े के रोओं से 'और्ण' नामक वस्त्र निर्मित किया जाता था (६।७५।६)। भरत के साथ अनेक अनेक केबल बनानेवाले भी राम को लिवा लाने के लिए चित्रकूट गये थे (**कम्बलकारकाः**, २।८३।१४)।

कपड़ों की रँगाई-धुलाई भी की जाती थी। इस काम में लगे कारीगरों को 'रजक' की संज्ञा दी जाती थी। रंग-बिरंगे वस्त्रों के अनगिनत उल्लेख आये हैं। कपड़े का रंग 'वर्ण' कहलाता था। नील, पीत, रक्त, शुक्ल, नील, शुकप्रभ तथा काषाय रंगों का अधिक प्रचलन था। रँगाई के लिए कृमि-राग या लाक्षा-राग का व्यवहार किया जाता था।

वाणिज्य-व्यापार वैश्यों के हाथ में था, जो वणिक् कहलाते थे। मुख्य कर-दाता होने के कारण वे राजकीय संरक्षण के अधिकारी थे। उस युग के प्रमुख नगर व्यापार के समृद्ध केंद्र थे, जहां देश-देशांतर के व्यवसायी और शिल्पी वास करते थे। अयोध्या वाणिज्य-उद्योग की दृष्टि से सर्वाधिक प्रमुख नगरी थी। दशरथ ने यह प्रस्ताव किया था कि राम के साथ वन जानेवाली चतुरंगिणी सेना के साथ राजधानी के धनी-मानी व्यापारी भी जायं।[1] राजकीय प्रासाद से शहर को जोड़नेवाले राजमार्ग पर विविध क्रय-वस्तुओं से भरी-पूरी दूकानें सजी थीं। (२।१७।३-५)। सेना के अनुगामी दलों में व्यापारी भी होते थे। भरत के साथ अयोध्या के सभी प्रकार के वाणिज्य-उद्योगों के प्रतिनिधि चित्रकूट गये थे (२।८३)।

देश में प्रचुर आंतरिक व्यापार होता था। अयोध्या के समृद्धिशाली वणिक् बहुत-सा माल लेकर दूर-दूर की यात्रा करते थे।[2] ऐसी व्यावसायिक यात्राएं 'सार्थ' या दल बनाकर की जाती थीं। चोरों और हिंस्र पशुओं से सुरक्षित रहने के लिए यह आवश्यक था। साथ से बिछुड़ जानेवाले यात्री को वन्य पशुओं के आक्रमण का भय बना रहता था।[3] देश के आंतरिक व्यापार-मार्गों को निरापद रखने का दायित्व राज्य पर था, जैसाकि दशरथ की मृत्यु के बाद इकट्ठे हुए 'राजकर्तारः' के इस कथन से प्रकट है कि अराजक प्रदेश में वणिक् लोग दूर-दूर तक धन-धान्य लेकर यात्रा नहीं कर सकते (२।६७।२२)।[4] राजा ही देश में आंतरिक सुरक्षा का

१. वणिजश्च महाधनाः। शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनीः सुप्रसारिताः॥ २।३६।३
२. तुलना कीजिये—नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः। गच्छन्ति क्षेमम-ध्वानं बहुपण्यसमाचिताः॥ २।६७।२२
३. तुलना कीजिये—मया विरहिता बाला रक्षसां भक्षणाय वै। सार्थेनेव परित्यक्ता भक्षिता बहुबान्धवा॥ ३।६०।२४; ४।६७।४८ भी देखिये।
४. तुलना कीजिये—नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः। शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षजीविनः॥ २।६७।१८

ऐसा प्रबंध करता था, जिससे संपन्न लोग निःशंक होकर रह सकें तथा कृषक और ग्वाले दरवाजे खोलकर सो सकें।

दूकानें 'आपरण' के नाम से संबोधित की जाती थीं। बिक्री की चीजें 'विक्रेय' या 'पण्य', उनका दाम 'मूल्य' तथा व्यापार से होनेवाला मुनाफा 'पण्य-फल' कहलाता था। पण्य में चंदन, अगुरु, गंध, क्षौम, कौशेय, मुक्ता, स्फटिक, माला आदि विविध वस्तुएं होती थीं।[1]

विदेशों से भी व्यापारिक संबंध होने के संकेत मिलते हैं, यद्यपि इस विषय में निःसंदिग्ध प्रमाणों का अभाव-सा है। सुशासित भारतीय नगरों की सुविधाओं से लाभ उठाने के लिए देशांतर से व्यापारी आते रहते होंगे। अयोध्या के वर्णन में वाल्मीकि कहते हैं कि वह नाना देशनिवासी व्यापारियों से शोभित थी (**नाना-देशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम्**, १।५।१४)। उत्तरकांड में मधुपुरी, लवणासुर के अत्याचारों से मुक्त होने पर, नाना देशों के व्यापारियों से समृद्ध हो गई थी (७७१।१४)। किष्किंधाकांड के ४०वें सर्ग में, सीतान्वेषण के सिलसिले में, सुग्रीव ने अनेक समुद्र-पार स्थानों का उल्लेख किया है, पर यह स्थल प्रक्षिप्त माना जाने के कारण विश्वसनीय नहीं है।

वाल्मीकि महासागरों से सुपरिचित प्रतीत होते हैं, अन्यथा समुद्र से अपरिचित कोई कवि उनके-जैसे महाकाव्य की रचना न कर पाता। हनुमान् ने भारत के तट से लंका को जो छलांग मारी थी, उसमें समुद्र पर नौ-यात्रा करने की उत्प्रेक्षाएं व्यवहृत हुई हैं।[2] समुद्र को लेकर कवि ने अनेक रूपकात्मक वर्णन किये हैं,[3] जिनसे उसका समुद्री जीवन से प्रगाढ़ परिचय प्रमाणित होता है। रामायण में ऐसे व्यापारियों का उल्लेख हुआ है जो समुद्र-पार देशों से व्यापार करते और अयोध्या के सम्राट् को रत्नों के उपहार लाकर प्रदान करते थे।[4] वाल्मीकि को ऐसे बड़े व्यापारी जहाजों का पता था जो माल से लदे बीच महासागर में आवागमन करते थे। ऐसे

---

१. देखिये—२।५७।१५; १।६१।२१; १।६१।१५; २।६७।५५; १।१।१००; २।१७।३-४; २।७१।४१

२. सागरे मारुताविष्टा नौरिवासीत्तदा कपिः। ५।१।६५

३. २।५९।२८-३१; ३।२१।१२; ६।७।२०

४. कोट्यापरान्ताः सामुद्रा रत्नान्युपहरन्तु ते। २।८२।८

जहाज 'महानौ' और उनके मार्ग 'नौ-पथ' कहलाते थे। लंका का वर्णन करते समय कहा गया है कि उसके चारों ओर कहीं नौ-पथ नहीं है।[1] रावण के अधीन, शोक-सागर में डूबती हुई सीता की उपमा एक ऐसी नौका से दी गई है, जो भार से अत्यधिक दबी होने के कारण समुद्र में डूबी जा रही है (**शोकभारैरिव न्यस्तां भारैर्नावमिवाम्भसि, ६।१७।३**)। एक अन्य स्थल पर सीता की तुलना समुद्र में हवा के थपेड़ों से डगमगाते हुए, माल से भरे जहाज से की गई है (**समुद्रमध्ये नौः पूर्णा वायुवेगैरिवाहता, ५।२५।१४**)। इन आलंकारिक उक्तियों से अनुमान होता है कि महासागरों में बड़े-बड़े जहाजों का पर्याप्त आना-जाना था। सामुद्रिक दुर्घटनाओं का वर्णन सामुद्रिक यात्राओं का ही सूचक हो सकता है।

वस्तुओं का विनिमय-व्यापार 'निष्क्रय' कहलाता था। गौ को विनिमय का माध्यम तथा मूल्य का मानदंड माना जाता था। किसी वस्तु-विशेष का मूल्य गौओं की संख्या में तय किया जाता था। शुनःशेप के माता-पिता एक लाख गौएं लेकर अपने पुत्र को बेचने लिए तैयार हो गए थे।[2] किसी श्रेष्ठ गौ का मूल्य अनेक साधारण गौओं के रूप में गिनाया जाता था। उदाहरणार्थ, विश्वामित्र ने वशिष्ठ से यह प्रस्ताव किया था कि एक लाख गौएं लेकर यह मूल्यवान् कपिला गौ मुझे दे दीजिये (**गवां शतसहस्रेण दीयतां शबला मम, १।५३।९**)। रामायण के अनेक स्थलों से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि उस युग में सोने और चांदी का प्रयोग होने लगा था और उपहार या पारिश्रमिक के रूप में उनका लेन-देन भी होता रहता था, फिर भी वे गौओं का स्थान नहीं ले सके थे और किसी भी आदान-प्रदान की क्रिया को पूर्णत्व का आभास देने के लिए उसमें गौओं का समावेश आवश्यक था। महाराज दशरथ ने अपने पुरोहितों को सोना और चांदी तो दिया ही, पर अपने दान को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए दस लाख गौएं भी प्रदान कीं। पुत्रेष्टि-यज्ञ की समाप्ति पर दशरथ ने समस्त पृथ्वी अपने ऋत्विजों को दान कर दी थी, पर उन्होंने पृथ्वी का शासन करने में अपने को असमर्थ बताकर उसके बदले में मणि, सुवर्ण और गौएं देने की प्रार्थना की थी—

> **निष्क्रयं किंचिदेवेह प्रयच्छतु भवानिति।**
> **मणिरत्नं सुवर्णं वा गावो यद्वा समुद्यतम्॥** १।१४।४८-९

पारिश्रमिक देने में या अन्य व्यापार-क्रियाओं में मुद्राओं या सिक्कों का भी

---

१. **नौपथश्चापि नास्त्यत्र निरुद्देशश्च सर्वशः। ६।३।२१**
२. **गवां शतसहस्रेण विक्रीणीषे सुतं यदि। १।६१।१३**

उपयोग किया जाता था। सिक्के को 'निष्क' की संज्ञा दी जाती थी। केकयराज ने भरत को दो हजार निष्क दिये थे।[1] वन-गमन के समय राम ने सुयज्ञ को एक हजार निष्क भेंट किये थे।[2] निश्चय ही ये निष्क सिक्के रहे होंगे; भरत या सुयज्ञ ने उनका शायद ही आभूषणों के रूप में प्रयोग किया हो। यह सच है कि रामायण में गले के हार को भी निष्क कहा गया है, किंतु इसका कारण यह था कि हार में भी निष्क सिक्के गूंथे जाते थे। सिक्कों का हार पहनने का रिवाज प्राचीन काल की तरह आज भी देखने में आता है।

यह कहना कठिन है कि निष्क आधुनिक अर्थ में मुहर-लगा सिक्का था, क्योंकि रामायण-काल का कोई सिक्का कहीं खुदाई में मिला नहीं है। विना मुहर-लगे सिक्के सोने और चांदी के होते थे। सोने के सिक्के 'जांबूनद' या 'सौवर्ण' कहलाते थे, तथा चांदी के सिक्के 'रजत'। उत्तरकांड में लव-कुश के अनुपम रामायण-गान से प्रसन्न होकर राम ने उन्हें अठारह हजार सोने के सिक्के देने चाहे थे।[3] महाराज दशरथ ने ब्राह्मणों को एक करोड़ जांबूनद और चालीस करोड़ रजत बांटे थे (१।१४।५१,५४)। यह गणना-योग्य संख्या नियत आकार-प्रकार, नियत तोल और नियत मूल्य के सिक्कों की ओर इंगित करती है। यह भी अनुमान होता है कि सोने का एक सिक्का चांदी के चार सिक्कों के बराबर रहा होगा।

माप-तोल के निश्चित परिमाण थे। द्रव्य-पदार्थों के लिए 'द्रोण' (बत्तीस सेर) नामक माप प्रचलित था। राम को वन में द्रोण-प्रमाण के शहद के छत्ते लटकते दिखाई दिये थे।[4] धन का नियत भागों में विभाजन 'प्रविभाग' कहलाता था (१।१४।५२)। दंड मापने का डंडा था। लंबाई धनुष से अथवा हाथ फैलाकर मापी जाती थी।[5]

---

१. रुक्मनिष्कसहस्रे द्वे...सत्कृत्य केकयीपुत्रं केकयो धनमाविशन्। २।७०।२१

२. तं ते निष्कसहस्रेण ददामि द्विजपुंगव। २।३२।१०

३. अष्टादशसहस्राणि सुवर्णस्य महात्मनोः। प्रयच्छ शीघ्रं काकुत्स्थ यदन्यदभिकांक्षितम्॥ ७।९४।१७-८

४. पश्य द्रोणप्रमाणानि लम्बमानानि लक्ष्मण। मधूनि मधुकारीभिः सम्भृतानि नगे नगे॥ २।५६।८

५. उद्यम्य प्रक्षिपेच्चापि तरसा द्वे धनुःशते। ४।११।७२; द्वावेव तत्र विहितौ बाहुव्यस्तपरिग्रहौ॥ १।१४।२३

'व्याम' लंबाई का एक माप होता था।[1] चौबीस अंगुल के माप को 'अरत्नि' कहते थे। दशरथ के अश्वमेध-यज्ञ में खंभे इक्कीस-इक्कीस अरत्नि ऊंचे थे (**एकविंशत्यरत्नयः**, १।१४।२५)। 'योजन' दूरी का माप था। सामान्यतः योजन चार कोस के बराबर होता है। वाल्मीकि ने योजन का दो अर्थों में प्रयोग किया है। एक कोस 'धनुःसहस्र' अर्थात् हजार धनुषों के बराबर तथा एक धनुष चार हाथ दो गज के बराबर होता है। इस प्रकार एक योजन आठ हजार गज यानी साढ़े चार मील के बराबर हुआ। किंतु एक अन्य स्थल पर वाल्मीकि ने योजन को सौ धनुषों (धनुःशतम्) या दो सौ गज के बराबर माना है। उदाहरणार्थ, सुग्रीव ने राम से कहा था कि वाली ने दुंदुभि का अस्थि-पंजर एक योजन की दूरी पर फेंक दिया था; यदि आप उसे उठाकर दो सौ धनुष या चार सौ गज (**द्वे धनुःशते**) फेंक सकें तो मैं आपको वाली से अधिक बलवान् मान लूंगा (४।११।७१-२)। इससे यह प्रतीत होता है कि वाली ने जिस योजन की दूरी तक दुंदुभि का अस्थि-पंजर फेंका था, वह धनुःशत या दो सौ गज रहा होगा, साढ़े चार मील नहीं।[2]

श्रमिक दो प्रकार के होते थे, 'विष्टि' और 'कर्मांतिक' (२।८२।२०)। विष्टि-मजदूरों को पारिश्रमिक धान्य या जिन्स के रूप में दिया जाता था, कर्मांतिकों को द्रव्य के रूप में नकद मजदूरी मिलती थी। नौकरों से काम कराकर उन्हें उचित वेतन न देना जघन्य पाप समझा जाता था। भरत ने कौसल्या से कहा था कि राम को वन भेजने में मेरा कुछ भी हाथ रहा हो तो मैं इस पाप का भागी बनूं।[3]

जिन कारीगरों का काम कुछ विशेषता या कौशल लिये हुए होता था, उन्हें शिल्पी कहा जाता था। वाल्मीकि कहते हैं कि अयोध्या नगरी में सब तरह के शिल्पी निवास करते थे (**उषितां सर्वशिल्पिभिः**, १।५।१०)। राज्य उन्हें विशेष सुख-सुविधाएं प्रदान करता था। ऊंचे दर्जे के कारीगरों का, विशेषतया उनका जो

---

१. दोनों भुजाओं को दोनों ओर फैलाने पर एक हाथ की उंगलियों के सिरे से दूसरे हाथ की उंगलियों के सिरे तक जितनी दूरी होती है, उसे 'व्याम' कहते हैं (६।६५।३८)।

२. देखिये श्री टी० परमशिव अय्यर-कृत 'रामायण एंड लंका', पृ० ३

३. कारयित्वा महत्कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम। अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्यो ऽनुमते गतः॥ २।७५।२३

यज्ञ-यागादिक में अपना शिल्प-कौशल दिखाने में पटु थे, समाज़ में संमानपूर्ण स्थान था। दशरथ ने उन्हें अपने अश्वमेध-यज्ञ में आमंत्रित किया था तथा यथोचित आदर-सत्कार, धन और भोजन द्वारा उन्हें प्रसन्न करने की समुचित व्यवस्था की थी (१।१३।६-१०)। जनता के आर्थिक विकास एवं राजधानी की श्री-वृद्धि में शिल्पियों का उल्लेखनीय सहयोग था। रामायण में इन विविध प्रकार के श्रमिकों का उल्लेख हुआ है—

भूमिप्रदेशज्ञ (२।८०।१)—भूमि की नमी या उसकी खुश्की का जानकार।

चर्मकृत् (२।८।३०)—चमार।

दुर्गविचारक (२।७६।१३)—दुर्गम प्रदेशों में (वनों में) विचरण करनेवाला।

धूपक (२।८३।१४)—धूप अथवा सुगंधियुक्त पदार्थों का निर्माता।

दंतकार (२।८३।१३)—हाथी-दांत का काम करनेवाला।

दास (१।७४।५)—नौकर।

दासी (२।३२।१६)—नौकरानी।

द्रष्टारः (२।८०।३)—मार्ग दिखानेवाले।

दैवज्ञ (२।४।१८) या **दैवचिंतक** (२।४।२१)—ज्योतिषी।

गंधोपजीवी (२।८३।१३)—सुगंधि बनाने या बेचनेवाला।

गणक (१।१३।७)—ज्योतिषी, गोविंदराज के अनुसार लेखक।

गायक (२।६५।२)

गणिका (१।१०।५)—नर्तकी।

कर्मांतिक (१।१३।७)—दिन में काम करनेवाला मजदूर, जिसे मजदूरी के वदले पैसा मिलता है।

कार्तांतिक (६।४८।५)—ज्योतिषी।

खनक (२।८०।१)—खोदनेवाला।

कर्षक (२।११२।१२)—किसान।

कर्णधार (२।५२।८१) या **कर्णग्राह** (२।५३।६)—मल्लाह।

कुंभकार (२।८३।१२)—कुम्हार

क्राकचिक (२।८३।१३)—लकड़ी चीरनेवाला।

कंबलकारक (२।८३।१४)—कंबल बनानेवाला।

कैवर्तक (२।८३।१५) या **दाश** (२।८९।७)—मछुआ।

लुब्ध (२।१२।७७)—शिकारी।

लाक्षणिक (६।४८।२)—ज्योतिषी।

मणिकार (२।८३।१२)—मोती का काम करनेवाला।

मायूरक (२।८३।१३)—मोरपंख का काम करनेवाला।

मागध (२।६५।२)—स्तुतिकर्ता।

मार्गी (२।८०।२)—मार्ग-रक्षक।

मार्गशोधक (२।८२।२०)—सड़क बनानेवाला।

मार्गदक्षक (२।८२।२०)—सड़क का रखवाला।

नट (२।६।१४)—अभिनेता।

नर्तक (१।१३।७)—नाचनेवाला।

नाविक (२।५२।८०)—नौका खेनेवाला।

नदीरक्ष (२।८४।७)—नदी-तट का रखवाला।

परिचारिक (१।४५।३४)—घरेलू नौकर।

पाणिवादक (२।६५।४)—ताली बजानेवाला।

परमनारी (६।२१।३)—सैरंध्री, उबटन आदि लगानेवाली सेविका।

रोचक (२।८३।१३)—कांच का सामान बनानेवाला।

रजक (२।८३।१५)—धोबी।

रूपाजीवा (२।३६।३) या **वारमुख्या** (१।१०।७)—वेश्या।

स्नापक (२।८३।१४) या **स्नानशिक्षाज्ञ** (२।६५।८)—स्नान करानेवाला, स्नान कराने की विधि में निपुण।

शस्त्रोपजीवी (२।८३।१२)—शस्त्रों से आजीविका चलानेवाला।

शैलूष (२।८३।१५)—अभिनेता।

शौनिक (२।४८।१८)—कसाई।

सूत्रकर्मविशारद (२।८०।१) या **सूत्रकर्मविशेषज्ञ** (२।८३।१३)—जुलाहा या तंबू बनानेवाला।

स्थपति (२।८०।२)—भवन-निर्माता।

शिल्पी (१।१३।७)—दस्तकार।

शिल्पकार (१।१३।७)—कलाकार।

सूत (२।४।३)—रथ चलानेवाला।
स्वस्तिक (२।१६।४६)—स्तुतिकर्ता।
सूद (३।५६।२५) या सूपकार (२।१२।९६)—रसोइया।
श्मश्रुवर्धक (६।१२८।१३)—नाई।
सुधाकार (२।८०।३)—सफेदी करनेवाला।
सुवर्णकार (२।८३।१४)—सुनार।
शौंडिक (२।८३।१४)—शराब बेचनेवाला।
तालापचर (२।३।१७)—ताल लगानेवाला।
तुन्नवाय (२।८३।१५)—दर्जी।
उष्णोदक वैद्य (२।८३।१४)—गर्म जल से स्नान करनेवाला वैद्य।
वादिक (२।१६।४६) या वादी (२।३६।३ —वाद्य यंत्र बजानेवाला।
वैतालिक (६।१२७।३)—या बंदी (२।६५।१)—भाट।
वर्धकी (२।८०।२)—बढ़ई।
वृक्षतक्षक (२।८०।२)—पेड़ काटनेवाला।
व्याध (२।३६।५) या निषाद (१।२।१०)—बहेलिया।
वेधक (२।८३।१३)—मोती पिरोनेवाला।
विष्टि (६।१२७।६)—मजदूर, जिसे धान्य के रूप में मजदूरी मिलती है।
वणिक् (२।६।१२)—बनिया, व्यापारी।
वंशकृत् (२।८०।३)—बांस का काम करनेवाला।
यंत्रक (२।८०।१)—नहर बनानेवाला।
याजक (१।१४।३)—यज्ञ करानेवाला।

एक ही प्रकार के उद्योग-धंधों में लगे शिल्पियों में या मजदूरों के अपने-अपने संघ होते थे। इस प्रकार के राजधानी के संघों का सामूहिक संगठन 'नैगम' कहलाता था। इसके सदस्य भी नैगम कहलाते थे। नागरिक और राजकीय क्रिया-कलापों में नैगमों का महत्त्वपूर्ण (संमत) स्थान था। राम के प्रस्तावित यौवराज्याभिषेक में संमिलित होने के लिए नैगमों के प्रतिनिधि आये थे।[1] उनके राज्यारोहण के

१. पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह। अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः ॥ २।१४।४०-१

समय नैगमों ने उनका अभिषेक किया था ।[1] राम को अयोध्या लौटा लाने के लिए नैगम भी भरत के साथ चित्रकूट गये थे ।[2] इनमें मणिकार, हाथी का काम करनेवाले, काष्ठ की खुदाई करनेवाले आदि सभी श्रमिक-वर्गों के लोग थे (२।८३।१२-५)।

टीकाकार गोविंदराज ने 'श्रेणी' (२।७९।४) का अर्थ भी नैगम ही किया है। अतः 'श्रेणीमुख्याः' का अर्थ 'मजदूर-संघों के सभापति' हुआ। ननिहाल से अयोध्या लौटने पर भरत को सूचना दी गई कि सभी श्रेणियां अभिषेचन-सामग्री लेकर आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं।[3] डा० राधाकुमद मुखर्जी के अनुसार श्रेणी का अर्थ एक ही पेशा करनेवाली विभिन्न जातियों के लोगों का संगठन है। रामायण में 'गण' शब्द आधुनिक 'ट्रेड यूनियन' (व्यापार-संगठन) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है (२।१४।४०)। इन गणों के सभापति 'गणवल्लभाः' कहलाते थे। भरत के साथ गणवल्लभ भी चित्रकूट गये थे (२।८१।१२,। 'सयोधश्रेणी' के नाम से सैनिकों का आर्थिक संगठन था।

राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि यातायात के शीघ्रगामी साधनों पर निर्भर करती है। उन दिनों आवागमन के मार्गों में स्थल-मार्ग ही अधिक प्रयुक्त होते थे। नगरों में चौड़े और व्यवस्थित मार्ग बने थे (**सुविभक्तमहापथाम्**, २।८६।१९), जिनकी सावधानी से देखभाल की जाती थी। उनकी प्रतिदिन सफाई कराई जाती और धूल-मिट्टी को दबाने के लिए उनपर छिड़काव किया जाता था।[4] इससे अनुमान होता है कि ये सड़कें पक्की नहीं थीं। अयोध्या और लंका के राजमार्ग दीप-वृक्षों से प्रकाशित रहते थे। उत्सवों पर इन राजमार्गों पर लाजा और पुष्प बिखेरे जाते, मालाओं और पताकाओं से इनकी कलापूर्ण सजावट की जाती तथा सुगंधयुक्त

---

१. योधैश्चैवाभ्यषिचंस्ते सम्प्रहृष्टैः सनैगमैः । ६।१२८।६२

२. ये च तत्रापरे सर्वे सम्मता ये च नैगमाः । रामं प्रति ययुर्हृष्टाः सर्वाः प्रकृतयः शुभाः ॥ २।८३।११

३. आभिषेचनिकं सर्वमिदमादाय राघव । प्रतीक्षन्ते त्वां स्वजनः श्रेण्यश्च नृपात्मज ॥ २।७९।४

४. सिंचन्तु पृथिवीं कृत्स्नां हिमशीतेन वारिणा । ६।१२७।७

पदार्थ डालकर इन्हें सुवासित किया जाता ।[1] एक नगर को दूसरे नगरों और ग्रामों से जोड़नेवाले मार्ग भी बने हुए थे । ये सड़कें रथ आदि सवारियों के चलने योग्य होती थीं । ऐसा एक मार्ग केकयराज्य के गिरिव्रज नगर से अयोध्या तक बना हुआ था । इस मार्ग को रथ द्वारा तय करने में भरत को आठ दिन लगे थे। वन जाते समय राम को, तमसा पार करने पर, एक ऐसा प्रशस्त पथ दिखाई पड़ा था, जो सशंकित लोगों को भी आश्वस्त कर देता था ।[2] अयोध्या से गंगा-तट तक एक मार्ग बना हुआ था, जिसपर होकर राम ने रथ में वन-प्रयाण किया था ।[3] वस्तुतः उन दिनों उत्तरी भारत के आबाद हिस्से सड़कों के जाल से परस्पर जुड़े हुए थे, जिनपर खूब यातायात और वाणिज्य-व्यापार होता था। वर्षा-ऋतु में ये मार्ग आवागमन के लिए अयोग्य हो जाते थे (**अभीक्ष्णवर्षोदकविक्षतेषु यानानि मार्गेषु न सम्पतन्ति, ४।२८।१६**)

अरण्यों में स्थित आश्रम भी मार्गों से परस्पर जुड़े हुए थे । मारीच का आश्रम लंका-द्वीप के उत्तर की ओर समुद्र-तट पर स्थित था और वहां खच्चर-जुते रथ से पहुँचा जा सकता था । ऋषि भरद्वाज का आश्रम चित्रकूट के तापसालय से एक रमणीय एवं सुरक्षित मार्ग से जुड़ा हुआ था । पंचवटी भी किसी मार्गहीन जंगल में नहीं बसी थी । अगस्त्य के आश्रम से वहां को एक रास्ता जाता था । सीता को खोने के बाद राम पंचवटी से दक्षिण की ओर जिस मार्ग से गये थे, वह पंपासर और मतंगाश्रम होता हुआ किष्किंधा तक चला गया था ।

सड़कों और पुलों के निर्माण, उनकी मरम्मत में लगे मजदूरों तथा उनकी कार्य-प्रणाली का वाल्मीकि ने तीन स्थलों पर विस्तृत वर्णन किया है। जब भरत ने राम को लौटा लाने के लिए अपनी सेना-सहित चित्रकूट को प्रस्थान किया, तब उन्होंने शिल्पियों और वनचरों को आदेश दिया कि आगे जाकर विषम वन-प्रदेश में सेना

---

१. **ततोऽभ्यकिरन्त्वन्ये लाजैः पुष्पैश्च सर्वतः । समुच्छ्रितपताकासु रथ्याः पुरवरोत्तमे ।।६।१२७।८; २।१७।३ भी देखिये ।**

२. **प्रापद्यत महामार्गमभयं भयदर्शिनाम् । २।४६।२९**

३. **प्रचोदयामास ततस्तुरंगमान्स सारथिर्येन पथा तपोवनम् । २।४६।३३**

के लिए समतल मार्ग का निर्माण करें।[1] अयोध्याकांड के ८०वें सर्ग में इस निर्माण-कार्य का जो वर्णन किया गया है, वह तत्कालीन शिल्पि-वर्ग के कौशल का अच्छा परिचय देता है। इन शिल्पियों में जमीन की तरी और खुश्की को जाननेवाले (भूमि-प्रदेशज्ञ), खुदाई करनेवाले (खनक), निर्माता (स्थपति) तथा नहरों और जल-प्रवाहों के निर्माण में प्रवीण कारीगर थे। उन्होंने मार्ग की बाधाओं, डालियों, झाड़-झंखाड़, घास-पात, पेड़-पौधों, कंकड़-पत्थर आदि को टांकी और कुल्हाड़ी से साफ करते हुए मार्ग बनाना शुरू किया। अपने संगठित कार्य द्वारा उन्होंने वृक्षहीन प्रदेशों में वृक्ष लगाये तथा अनावश्यक एवं अवरोधक पेड़ों और 'वीरण' नामक घास के झुरमुटों को काटकर साफ कर दिया। ऊंची-नीची भूमि समतल कर दी गई, कुएं तथा गड्ढे मिट्टी से भर दिये गए, चट्टानों को काटा गया, जलीय स्थलों पर पुल बनाये गए, मिट्टी को कूट-पीटकर बराबर कर दिया गया, तथा जहां खोदने की आवश्यकता थी, वहां खनन-क्रिया भी की गई (२।८०।६-१०)। इस मार्ग को भारी यातायात के योग्य बनाया गया था, क्योंकि इसपर असंख्य सवारियों और पशुओं से युक्त भरत की चतुरंगिणी सेना का आवागमन होना था।

भारत और लंका के बीच जिस नल-सेतु का निर्माण किया गया, उसका वर्णन और भी विलक्षण है। उससे वानर-शिल्पियों के निर्माण-कौशल एवं यंत्र-चातुरी पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वे लोग चट्टानों को उखाड़कर यंत्रों की सहायता से जल के समीप ले जाते थे, चट्टानों को सीधी पंक्ति में डालने के लिए वे 'सूत्रों' अर्थात् रस्सियों का प्रयोग करते थे। दंडों अर्थात् मापने की लकड़ियों का भी व्यवहार किया गया था। छोटे-छोटे पत्थर, घास-पात, लता-पौधे तथा लकड़ियों का उस पुल के निर्माण में उपयोग किया गया। वानर-मजदूर पहले विशाल वृक्षों को जल में फेंकते, फिर उनपर चट्टानों को संतुलित करते और छोटे-मोटे खड्डों को कंकड़ों, लकड़ियों, घास-पात आदि से पाट देते। ये विभिन्न कार्य वानर-मजदूरों के पृथक्-पृथक् दलों को सौंपे गये थे, किंतु उनके बीच इतना सुचारु सहयोग था कि पांच ही दिनों के अल्प समय में वह अद्भुत पुल सर्वांगपूर्ण बनकर तैयार हो गया (६।२२।६४-७६)।

जब राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में राम का नंदिग्राम से अयोध्या तक जुलूस

---

१. क्रियन्तां शिल्पिभिः पन्थाः समानि विषमाणि च। रक्षिणश्चानुसंयान्तु पथि दुर्गविचारकाः ॥ २।७९।१३

निकलनेवाला था, तब शत्रुघ्न ने कई हजार विष्टियों (कुली-कबाड़ियों और कारीगरों) को आज्ञा दी कि नंदिग्राम से अयोध्या तक का मार्ग ठीक कर दें—जहां कहीं मार्ग ऊबड़-खाबड़ हो, उसे मिट्टी से भरकर और छीलकर समतल कर दें, फिर हिम-शीतल जल से उसपर छिड़काव करें (६।१२७।६-७)।

प्राचीन भारत में यातायात के साधन 'यान' कहलाते थे (२।९२।३५)। वे मनुष्यों, पशुओं और धन-धान्य को ढोने के काम आते थे। थल पर पुरुषों के सबसे अधिक उपयोग में आनेवाला यान रथ था। नागरिक और सामरिक आवश्यकताओं में उसका अनिवार्य स्थान था। नागरिकों के दैनिक कार्य-कलाप रथों पर ही निर्भर रहते थे। नगरों के मार्ग रथों की घरघराहट से गूंजते रहते थे। रामायण में तीन प्रकार के रथों का उल्लेख है—(१) 'औपवाह्य रथ' (२।३९।१०), जो प्रतिदिन की सवारी के काम आनेवाला सामान्य रथ था। इसमें प्रायः दो घोड़े जोते जाते थे। भरत ने ऐसे ही रथ में राजगृह से अयोध्या की यात्रा की थी। मार्ग में घोड़ों को पर्याप्त भोजन और विश्राम दिया जाता तथा समय-समय पर बदल भी दिया जाता था।[1] (२) 'सांग्रामिक रथ' (३।६५।६), जो युद्ध-क्षेत्र में प्रयुक्त होता था। (३) 'पुष्परथ' (२।२६।१५), जो उत्सवों के अवसर पर उपयोग में आनेवाला सुसज्जित रथ था। इसमें चार शीघ्रगामी, सोने के आभूषणों से सजे घोड़े जुतते थे।

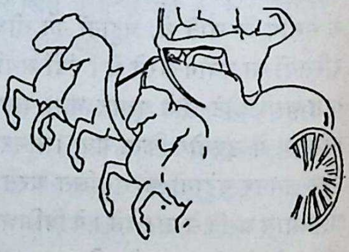

चित्र १२—सांग्रामिक रथ (अमरावती, दूसरी शताब्दी ई०)

सांग्रामिक रथ में दो पहिये होते थे। इसकी धुरी पर रथ का समूचा ढांचा संतुलित रहता था। रथ के सामनेवाले भाग में सारथि और रथी (रथ का स्वामी) रहते, जबकि पीछे के हिस्से में युद्ध की सामग्री भरी रहती थी और कभी-कभी कोई परिचारक उपस्थित रहता था। प्राचीन शिल्पों के आधार पर यह अनुमान होता है कि इन रथों के ऊपर छत नहीं होती थी। इनमें प्रायः चार घोड़े जोते

१. शीतीकृत्वा तु गात्राणि क्लान्तानाश्वास्य वाजिनः। ततः स्नात्वा च पीत्वा च प्रायादादाय चोदकम् ॥ २।७१।७

जाते थे। सारथि रथ का संचालन करता और रथी युद्ध में संलग्न रहता। रथ के ऊपर ध्वजा फहराती थी, जिसपर रथी का विशेष चिह्न अंकित रहता था।

रथ के पिछले भाग को 'रथोपस्थ' कहते थे, जहां सारथि या रथी घायल हो जाने पर गिर जाया करते थे। रावण के रथ में दो चंवर डुलानेवाले भृत्य भी थे (चामरग्राहिणौ)। अतिकाय राक्षस के रथ में चार सारथि थे। रावण-पुत्र अक्षकुमार के महारथ में आठ घोड़े जुते थे, उसमें पताकाएं फहरा रही थीं और उसकी ध्वजा में रत्न जड़े थे। राजाओं के रथ में छत्र भी होता था।

रथों में गधों और ऊंटों के जोते जाने का उल्लेख किया जा चुका है। भरत के साथ अयोध्या के कई नागरिक उष्ट्र-रथों पर सवार होकर राम को लिवा लाने चित्रकूट गये थे।

सारथि का पेशा वंश-परंपरागत होता था। सुमंत्र इक्ष्वाकु-राजाओं के वंशगत सारथि थे। वह केवल सारथि नहीं, अपितु राजा के सखा, हितचिंतक और परामर्शदाता भी थे। सारथि से यह अपेक्षा की जाती थी कि स्थान और समय, शकुन और अपशकुन, रथी के हर्ष और विषाद, उत्साह और अनुत्साह, युद्ध-भूमि की समानता और असमानता, शत्रु का बलाबल आदि का ध्यान रखते हुए रथ का संचालन करे। शत्रु के पास जाने, दूर हटने, युद्ध में स्थिर रहने तथा युद्ध-भूमि से हट जाने का उपयुक्त अवसर कब आता है, इन बातों का निर्णय सारथि के विवेक पर ही निर्भर रहता था (६।१०४।१८-२०), क्योंकि रथी तो युद्ध करने में दत्तचित्त रहता था और इन बातों की ओर ध्यान नहीं दे सकता था। राम ने रावण के रथ को सामने से आता हुआ देखकर सारथि मातलि से कहा कि तुम सावधान हो जाओ, मन तथा दृष्टि को स्थिर कर लो और घोड़ों की रासों को खींचने और ढीली करने में सावधानी रखते हुए शीघ्रतापूर्वक रथ हांककर शत्रु के रथ के सामने ले चलो। मातलि ने रथ ऐसा हांका कि रावण का रथ बाईं ओर पड़ गया और राम के रथ के पहियों से उड़ी हुई धूल से रावण ढक गया (६।१०६।९-१५)।

रथ-निर्माण का उद्योग उन दिनों काफी प्रचलित एवं उन्नत रहा होगा।

'शिविका' या पालकी पर्वतीय स्थानों की मुख्य सवारी थी। वानरों में उसका अधिक प्रचलन दीख पड़ता है। वानरराज सुग्रीव अनेक अनुचरों द्वारा ढोई जानेवाली पालकी में सवार होकर राम के दर्शनार्थ गये थे। राक्षसों में भद्र महिलाएं पालकी में सवारी करती थीं। इसीलिए विभीषण सीता को पालकी में सवार

कर राम के समीप लाये थे (आरोप्य शिविकां सीतां राक्षसैर्वहनोचितैः, ६।११४।१५)।

माल ढोने के काम आनेवाली गाड़ियां 'शकट' कहलाती थीं। बैलों से खींची जाने के कारण उन्हें 'गो-रथ' भी कहते थे। सिद्धाश्रम से मिथिला रवाना होने पर विश्वामित्र के पीछे-पीछे कई तपस्वी सौ शकटों में सवार होकर चले थे।[1] (इससे यह भी सूचित होता है कि सिद्धाश्रम से मिथिला तक गाड़ियों के चलने लायक रास्ता रहा होगा।) बैलों और घोड़ों पर भी सामान लादकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते थे। भरत अपनी उपमा ऐसे किशोर अश्व और वृषभ से देते हैं, जो भार ढोने में असमर्थ है।[2] जनक का प्रसिद्ध धनुष आठ पहियोंवाली मंजूषा पर रखा हुआ था, जिसे कई आदमी मिलकर ढोते थे।[3]

देश में भीतरी यातायात के लिए नावें भी प्रयोग में लाई जाती थीं। ये नावें पालों और पतवारों के सहारे चलाई जाती थीं, जैसाकि हतकर्णेव नौर्जले (टूटी पतवारवाली नौका के समान), मूढवातेव नौर्जले (प्रतिकूल हवा से विमूढ़ हुई नौका के समान)-जैसी उक्तियों से ध्वनित होता है (६।४८।२६;५०।१)। जहां स्थल-मार्ग के बीच से कोई नदी बहती, वहां नाव द्वारा उसे पारकर यात्रा की अविच्छिन्नता स्थिर रखी जाती थी। विश्वामित्र के साथ राम-लक्ष्मण ने गंगा नदी एक ऐसी नौका पर बैठकर पार की थी, जिसमें एक सुखद दरी बिछी हुई थी और जो ऊपर से ढकी हुई थी (सुखास्तीर्णा, १।४५।७)। इस नाव के स्वामी वनवासी मुनि लोग थे। सरयू और गंगा के अशांत और तेज प्रवाहवाले संगम-स्थल को इन लोगों ने कामाश्रम की एक नाव में पार किया था। अपनी वन-यात्रा में राम, सीता और लक्ष्मण जिस नौका में गंगा-पार हुए थे, वह सुदृढ़, सुंदर और सुखपूर्वक पार उतारनेवाली तथा मल्लाहों (कर्णग्राह) और पतवारों से युक्त थी—

---

१. तं व्रजन्तं मुनिवरमन्वगादनुसारिणाम्। शकटीशतमात्रं तु प्रयाणे ब्रह्मवादिनाम्॥ १।३१।१७

२. धुरमेकाकिना न्यस्तां वृषभेण बलीयसा। किशोरवद्गुरुं भारं न वोढुमहमुत्सहे॥ ६।१२८।३

३. नृणां शतानि पंचाशद्व्यायतानां महात्मनाम्। मंजूषामष्टचक्रां तां समूहुस्ते कथंचन॥ १।६७।४

अस्य वाहनसंयुक्तां कर्णग्राहवतीं शुभाम् ।
सुप्रतारां दृढां तीर्थे शीघ्रं नावमुपाहर ।। २।५२।६

क्योंकि रामायण में अधिकतर राम के क्रिया-कलाप का वर्णन है और क्योंकि तत्कालीन आर्य-नरेश हिमालय और विंध्य के बीच के उत्तरी भारत में राज्य करते थे, इसलिए उनके द्वारा नौ-सेना रखे जाने की कोई सूचना नहीं मिलती। शृंगवेरपुर के राजा गुह ही एक ऐसे नरेश हैं, जिनके पास उल्लेखनीय नौ-पोत थे। गुह गंगा-तट के निवासी थे। उनके पास पांच सौ नौकाएं, तट-रक्षक और सुसज्जित सेना भी थी। जब भरत, दल-बल-सहित राम के पास चित्रकूट जाते समय, शृंगवेरपुर से गुजर रहे थे, तब गुह ने उन्हें किसी दुष्ट भाव से प्रेरित समझा और सैकड़ों कैवर्त युवकों को आज्ञा दी कि पांच सौ नावें लेकर शत्रु का मार्ग अवरुद्ध कर दें। प्रत्येक नाव सौ सशस्त्र कैवर्तों को ले जा सकती थी।[1] ये नावें संभवतः 'अग्र-मंदिरा' श्रेणी की रही होंगी, जिनमें 'मंदिर' (जहाज का मार्ग देखने के लिए बनी केबिन) नाव के आगे भाग की ओर बना होता है। ये नौकाएं वर्षा-ऋतु के समाप्त हो जाने पर प्रयोग में लाई जाती थीं। लंबी यात्राओं या जल-युद्ध के लिए ये विशेष उपयुक्त होती थीं।[2] यात्री और माल ढोने में भी ये प्रयुक्त होती थीं। भरत का शुद्ध भाव जानकर निषादराज ने उनकी सारी सेना को गंगा पार कराने के लिए ऐसी पांच सौ नावों की व्यवस्था कर दी। इन नावों में पुरुष, स्त्रियां, हाथी, घोड़े, रथ और अन्य भारी सामान ले जाया गया था, अतः ये अवश्य ही नौ-पोतों के समान विशाल रही होंगी। राज-परिवार के बैठने के लिए गुह ने विशेष नौकाएं मंगाई थीं। इन सुसज्जित नावों के अग्र भाग की ओर ध्वजाएं फहरा रही थीं तथा बड़े-बड़े घंटे लटक रहे थे। इनमें पतवारें लगी थीं, कुशल नाविक इनका संचालन कर रहे थे और इनके जोड़ बड़ी मजबूती से बनाये हुए थे, ये नावें सामान्य नौकाओं से बड़ी और स्वस्तिक के आकार-प्रकार की थीं, इसलिए इन्हें 'स्वतिस्क' की संज्ञा दी गई थी।[3] एक श्वेत

---

१. नावां शतानां पंचानां कैवर्तानां शतं शतम् । सन्नद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वित्यभ्यचोदयत् ।। २।८४।८
२. राधाकुमुद मुखर्जी—'हिस्ट्री आफ इंडियन शिपिंग', पृ० २६
३. अन्या स्वस्तिकविज्ञेया महाघण्टाधराधराः । शोभमानाः पताकिन्यो युक्तवाहाः सुसंहताः ।। २।८९।११

कंबल इनमें बिछा हुआ था (पाण्डुकम्बलसंवृताम्, २।८९।१२)। यात्रियों को पार उतारने के बाद गुह के मल्लाहों ने लौटते समय अपनी नावों के चित्र-विचित्र पैंतरे, नौका-चालन की अनेक विधियां प्रदर्शित की थीं (निवृत्ता काण्डचित्राणि क्रियन्ते दाशबन्धुभिः, २।८९।१८)। उन दिनों नौकानयन निषाद और दाश-जैसी अनार्य जातियों के हाथ में था। उत्तरकांड में अपने वनवास के समय सीता ने लक्ष्मण के साथ जिस नौका में बैठकर गंगा पार की थी, उसे भी इन्हीं जातियों के नाविकों ने खेया था।

कुछ लोग इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि राम ने अपनी सेना को लंका पहुंचाने के लिए बड़े जल-पोतों का उपयोग न कर एक कष्टसाध्य महान् सेतु का निर्माण क्यों किया। संभवतः इसका कारण यह था कि एक छिछले और अशांत सागर में जल-पोतों का प्रयोग नहीं किया जा सकता था और फिर सामने के तट से एक प्रबल शत्रु के प्रतिरोध का भी तो भय था।[1]

नौकाओं के अतिरिक्त बेड़ों (पोतों और प्लवों) और घड़ों द्वारा भी नदियाँ पार की जाती थीं। नदियों में पहरा देनेवाले 'नदीरक्ष' कहलाते थे। 'तीर्थ' नावों के ठहरने का स्थान था। 'स्फ्य' डांड़ को कहते थे और पतवार को 'कर्ण' या 'वाहन'।[2]

हवाई यातायात की भी सूचना मिलती है। आकाशगामी यान को 'खग' या 'विमान' कहते थे। सीता ने पति के चरणों की छाया के सामने 'वैहायस-गत' अर्थात् आकाश-भ्रमण को भी तुच्छ समझा था (२।२७।९)। सीता की खोज करने के बाद हनुमान्, अंगद आदि वानर आकाश-मार्ग से सुग्रीव के पास लौटे थे (५।६४।२३-६)। लंका-युद्ध में आकाश-युद्ध के अनेक वर्णन आये हैं। सहस्रों वर्षों के पश्चात् आज हम यह कहने में असमर्थ हैं कि इस आकाश-युद्ध और आकाश-मार्ग का यथातथ्य स्वरूप क्या रहा होगा। रावण का सुप्रसिद्ध पुष्पक विमान एक अद्भुत आकाशचारी यान था, जो उड़ते समय महाघोष करता था (महानादमुत्पपात विहायसम्, ६।१२३।१)। उसके निर्माण, उसकी संचालन-क्रिया आदि पर कवि ने प्रकाश नहीं डाला है।

---

१. चिंतामणि विनायक वैद्य—'द रिडिल आफ द रामायण', पृ० १६५
२. देखिये—५।१०।३७; २।५५।१४; २।८९।२०; २।८४।७; २।५२।६; २।५२।८१

संक्षेप में, वाल्मीकि के समय में भारत आर्थिक दृष्टि से एक सुखी, समृद्ध और वैभवशाली देश था। दशरथ के राज्य-काल में अयोध्या तथा उसके जनपदों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त उन्नत हो चुकी थी—वे धन, धान्य, पशु आदि जीवन की सुख-सुविधाओं से संपन्न थे। प्रजा के जीवन का स्तर बहुत ऊंचा था, वह बहुमूल्य वेश-भूषा धारण करती और उत्तम अन्न-पान का सेवन करती थी। साक्षरता का व्यापक प्रचार था। लोग पुण्यशाली, दीर्घजीवी, नीरोग और प्रसन्न थे। वे अपनी ही अर्जित संपत्ति से संपुष्ट रहते तथा लोभवश अधिक की प्राप्ति के लिए लालायित नहीं होते थे। कोसल-राज के देहाती क्षेत्र में घनी आबादी थी; वह उद्यान और आम के बगीचों, निर्मल जल से भरे विपुल जलाशयों, हृष्ट-पुष्ट अधिवासियों, गौओं के झुण्डों तथा चैत्यों और यूपों से सुशोभित था। कोसल की आर्थिक समृद्धि का आभास इन प्रश्नों से भी होता है, जो चित्रकूट पर राम ने भरत से पूछे थे, "उन्नतिशील और समृद्धिशालिनी अयोध्या की तुम भलीभांति रक्षा तो करते हो? जहां नाना प्रकार के यज्ञ होते रहते हैं, जिसमें प्रतिष्ठित लोग बड़ी संख्या में निवास करते हैं, अनेक देव-स्थान, पौसले और तालाब जिसकी शोभा बढ़ाते हैं, जहां के स्त्री-पुरुष सदा प्रसन्न रहते हैं, जो सामयिक उत्सवों से सदा शोभा-संपन्न दिखाई देता है, जहां खेत जोतने में समर्थ पशुओं की अधिकता है, जहां किसी प्रकार की हिंसा नहीं होती, जहां खेती के लिए वर्षा के जल पर निर्भर नहीं रहना पड़ता, जो बहुत सुंदर है और हिंसक पशुओं से रहित है, जहां किसी तरह का भय नहीं है, नाना प्रकार की खानें जिसकी शोभा बढ़ाती हैं, जहां पापी मनुष्यों का सर्वथा अभाव है, तथा हमारे पूर्वजों ने जिसकी भलीभांति रक्षा की है, वह कोसल देश धन-धान्य से संपन्न एवं सुखी तो है? कृषि और गोरक्षा से आजीविका चलानेवाले सभी वैश्य तुम्हारे प्रीति-पात्र तो हैं? व्यापार आदि में लगे हुए लोग सुखी तो हैं? इष्ट की प्राप्ति कराकर तथा अनिष्टों का निवारण करके तुम इन सब लोगों का पालन तो करते हो? राजा को अपने राज्य में रहनेवाले सब लोगों का धर्मानुसार पालन करना चाहिए (२।१००।४३-८)।"

राम ने भरत से एक प्रश्न यह भी पूछा था कि क्या तुम्हारी आमदनी बढ़ी हुई और तुम्हारे खर्च घटे हुए हैं? (**आयस्ते विपुलः कश्चित्कश्चिदल्पतरो व्ययः,** २।१००।५४)। अमरीकी विद्वान् ई० डब्ल्यू० हॉपकिंस ने इससे यह निष्कर्ष निकाला है कि राजागण अत्यधिक करों के बोझ से प्रजा को लादकर अपना खजाना

भरने में ही संग्लन रहते थे।[1] किंतु रामायण में अनुचित करों का विरोध ही किया गया है। राम की विशाल संपत्ति धर्मानुसार उपार्जित की गई थी (महाधनं धर्मबलैरुपार्जितम्, २।३२।४४)। राजा को कर-वसूली में उदार और नरम नीति वरतनी चाहिए, उग्रता का आश्रय लेकर प्रजा को विक्षुब्ध करना श्रेयस्कर नहीं है।[2] जो राजा प्रजा की आय का छठा भाग लेकर उसका पुत्रवत् परिपालन नहीं करता, वह पाप का भागी वनता है।[3] उत्तरकांड में यह स्पष्ट कहा गया है कि जो प्रजा की रक्षा नहीं करता, वह प्रजा की आय के छठे भाग का उपभोक्ता नहीं वन सकता (**षड्भागस्य च भोक्तासौ रक्षते न प्रजाः कथम्**, ७।७४।३१)। राम द्वारा पूछे गए उक्त प्रश्न की व्याख्या इन कथनों को दृष्टि में रखकर करनी चाहिए। निश्चय ही राम ने इस वात पर बल दिया है कि राजा को अपनी आय खर्च से बढ़ाकर रखनी चाहिए, किंतु प्रजा को सुशासन के वरदानों से वंचित रखकर नहीं। 'वलि-षड्-भाग' राजा को प्रजा का संरक्षण करने के पारिश्रमिक के रूप में ही दिया जाता था।

: १३ :

प्रशासन

रामायणकालीन भारत में कोई एकच्छत्र साम्राज्य नहीं था। हिमालय और विंध्य पर्वतमालाओं का मध्यवर्ती आर्यावर्त देश अंग, काशी, कोसल, केकय, मगध, मत्स्य, मिथिला, वंग, विशाला, सिंधु, सौवीर, सौराष्ट्र, सांकाश्या आदि स्वतंत्र

---

१. देखिये 'जर्नल आफ अमेरिकन ओरिएंटल सोसाइटी' (भाग १३) में श्री हॉपकिंस का लेख।

२. तुलना कीजिये—कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजिताः प्रजाः। २।१००।२७

३. तुलना कीजिये—वलिषड्भागमुद्धृत्य नृपस्यारक्षितुः प्रजाः। अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः। २।७५।२५; अधर्मः सुमहान्नाथ भवेत्तस्य तु भूपतेः। यो हरेद्वलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत्॥ ३।६।११

राज्यों में विभक्त था (१।१३।२३-८;४७।१२;७०।७;२।१०।३७)। दशरथ ने कैकेयी के समक्ष अपनेको सारी वसुंधरा का स्वामी बताया था,[1] और राम ने, वाली से विवाद करते समय, समस्त भारत पर अयोध्यापति भरत की प्रभु-सत्ता का दावा किया था[2], पर वस्तुतः कोसल-नरेश का प्रभाव पड़ोस के कुछ सामंत राजाओं तक ही सीमित था।[3] रोमन या ब्रिटिश साम्राज्य की तरह अयोध्या का साम्राज्य सशक्त या केंद्र-संचालित नहीं था। दशरथ की सत्ता की तुलना परवर्ती मुगल-सम्राटों की सत्ता से की जा सकती है। हां, राम के शासन-काल में कोसल-राज्य के प्रभाव में अतिशय वृद्धि हुई।

कोसल-राज्य का क्षेत्रफल बहुत बड़ा नहीं था। स्यंदिका (आधुनिक सई) नदी का तटवर्ती प्रदेश कोसल की दक्षिणी सीमा था। वन जाते समय राम ने, अयोध्या से रथ में चलकर, लगभग एक ही दिन में यह सीमा पार कर ली थी (**रथेन पुरुषव्याघ्रः कोसलानत्यवर्तत**, २।५०।१०)। इसीके साथ कुछ छोटे-छोटे राज्य थे और फिर निषादराज गुह का राज्य आरंभ होता था।

रामायण में किसी गणतंत्र का उल्लेख नहीं है। तत्कालीन शासन का स्वरूप मर्यादित राजतंत्र था। एक वैधानिक शासक द्वारा स्थापित सुदृढ़ शासन-व्यवस्था में जनता का परम विश्वास था। स्थायी सरकार के अभाव में होनेवाली अराजकता के दोषों से प्रजा सुपरिचित थी (२।६७)।

राजा का पद कुल-परंपरागत था। इक्ष्वाकु-वंश की वंशावली से ज्ञात होता है कि राम से कई पीढ़ियां पहले और बाद भी राजपद आनुवंशिक था। नये राजा की नियुक्ति के लिए सभा (लोक-सभा) की अनुमति आवश्यक होती थी। भावी राजा पहले वर्तमान राजा तथा मन्त्रिमंडल द्वारा प्रस्तावित किया जाता और

---

१. यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुंधरा। २।१०।३६-८

२. इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना। ४।१८।६

३. अयोध्या की सड़कें उपहार लेकर आनेवाले सामंत राजाओं से भरी पड़ी थीं—'सामन्तराजसंघैश्च बलिकर्मभिरावृताम्' (१।५।१४)। दशरथ को 'नतसामन्तः' (जिसने सामंतों को वश में कर रखा है) कहा गया है (१।७।२३)। विश्वामित्र ने भी दशरथ से पूछा था कि सामंत राजाओं को तुमने वश में तो कर रखा है—'अपि ते सन्नताः सर्वे सामन्तरिपवो जिताः' (१।१८।४६)।

तत्पश्चात् सभा द्वारा निर्वाचित किया जाता था। सामंत राजाओं की भी सहमति ली जाती थी।[1] राम को युवराज बनाने से पहले दशरथ ने अपनी सभा की स्वीकृति प्राप्त कर ली थी।[2] वाली की अनुपस्थिति में मंत्रियों ने मिलकर सुग्रीव का राज्याभिषेक किया था।[3] उत्तरकांड में राजा नृग ने प्रजाजनों, नैगमों, मंत्रियों तथा पुरोहित को बुलाकर उनके समक्ष अपने पुत्र को उत्तराधिकारी बनाने का प्रस्ताव किया था।[4] चित्रकूट पर भरत ने राम से निवेदन किया था कि आप यहीं प्रजाजनों, ऋत्विजों तथा पुरोहित के हाथों अपना अभिषेक करा लीजिये।[5] इन उदाहरणों से तत्कालीन राज्यतंत्र में लोकतंत्र का भी पुट लक्षित होता है।

प्रायः ज्येष्ठ पुत्र ही युवराज-पद का अधिकारी होता था; किंतु साथ ही, उसका गुणी और धर्मात्मा होना भी आवश्यक था। अयोग्य और दुष्ट होने पर ज्येष्ठ पुत्र अपने अधिकार से वंचित कर दिया जाता था। प्रजा के आग्रह पर राजा सगर ने अपने अत्याचारी ज्येष्ठ पुत्र असमंज का राज्याधिकार छीनकर उसे देश से निर्वासित कर दिया था। राजा ययाति ने ज्येष्ठ यदु को राज्य न देकर अपने आज्ञाकारी कनिष्ठ पुत्र पुरु को ही राज्य दिया। पुत्र के अभाव में राजा का भाई युवराज बनाया जाता था। राम के राज्याभिषेक के समय भरत को युवराज बनाया गया, क्योंकि उस समय तक राम के कोई पुत्र नहीं था। राजा की मृत्यु पर युवराज-पद पर अभिषिक्त किया गया

---

१. दशरथ की सभा में अन्य प्रतिनिधियों के साथ जिन 'राजानः' का उल्लेख आया है, वे संभवतः ये ही सामंत राजा थे। इन्हें दशरथ ने, राम को युवराज बनाने के प्रस्ताव पर विचार-विनियम के लिए, शीघ्रता से बुला भेजा था (२।१।४६)। ब्राह्मणों आदि के साथ राजागण भी राम के अभिषेक की प्रतीक्षा करते हुए बताये गए हैं (२।१४।४०-१)।

२. यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्। भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम्॥ २।२।१५ (अपनी सभा के समक्ष महाराज दशरथ के उद्गार)।

३. ततोऽहं तैः (मन्त्रिभिः) समागम्य समेतैरभिषेचितः। ४।९।२१

४. आहूय मन्त्रिणः सर्वान्नैगमान्सपुरोधसः। तानुवाच नृगो राजा सर्वाश्च प्रकृतीस्तथा।...कुमारोऽयं वसुर्नाम स चेहाद्याभिषिच्यताम्॥ ७।५४।५-६,८

५. इहैव त्वाभिषिञ्चन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह। ऋत्विजः सवसिष्ठाश्च मन्त्रविन्मन्त्रकोविदाः॥ २।१०६।२६

राजकुमार ही राज्यारूढ़ होता था। जीवित राजा के सामने उसका यौवराज्याभिषेक इसलिए कर दिया जाता था कि बाद में उत्तराधिकार-विषयक विवाद न हो और राजगद्दी खाली न रहे। शासक की मृत्यु होने पर युवराज के राज्याभिषेक के लिए सभा की पुनः अनुमति नहीं लेनी पड़ती थी।

पुत्र ज्येष्ठ हो और किसी अपराध के कारण अयोग्य न ठहरा दिया गया हो, फिर भी यदि उसे राज्याधिकार से वंचित किया जा रहा हो तो वह इन तीन उपायों का आश्रय ले सकता था—(१) पहला उपाय, जिसे लक्ष्मण ने राम को सुझाया था, राजा को मारकर या कैद कर राज्य पर बलपूर्वक अधिकार कर लेना था।[१] कौसल्या ने इस प्रस्ताव से असहमति नहीं प्रकट की और इसके प्रति राम का ध्यान आकर्षित किया था; किंतु राम ने इस प्रकार क्षात्र-परंपरा का आश्रय लेने के बजाय धर्म का ही पालन करने, पिता की ही आज्ञा शिरोधार्य करने का संकल्प प्रकट किया।[२] ध्यान देने की बात है कि राम ने लक्ष्मण के सुझाव को क्षात्र-परंपरा के विरुद्ध नहीं बताया। (२) दूसरा उपाय स्वयं दशरथ ने सुझाया था। उन्होंने राम से कहा कि कैकेयी को वर देकर मेरी मति मारी गई है, अतः तुम मुझे बंदी बनाकर अयोध्या के राजा बन जाओ।[३] (६) तीसरा उपाय प्रजा के सहयोग पर निर्भर था। राजकुमार की लोकप्रियता के कारण मंत्रिगण, सेना तथा नागरिक राजधानी छोड़कर उसके साथ अन्यत्र जा सकते थे और नया राज्य बसाकर रह सकते थे;[४] ये सभी उपाय अज्ञात या अप्रचलित नहीं रहे होंगे।

कभी-कभी अपने किसी पुत्र को युवराज नियुक्त किये बिना ही राजा की मृत्यु हो जाती थी। ऐसे अंतर्वर्ती काल से नये राजा के निर्वाचन का प्रबंध 'राजकर्तारः'

---

१. प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या सन्तुष्टो यदि नः पिता। अमित्रभूतो निःसंगं बध्यतां वध्यतामपि॥ २।२१।१२-३

२. तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्। धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं...॥ २।२१।४४

३. अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः। अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम्॥ २।३४।२६

४. अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम्। २।३३।२२; नहि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः। तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति॥ २।३७।२५-६

(२।६७।२) करते थे । मंत्रि-परिषद के वे सदस्य, जो नये राजा की नियुक्ति का प्रस्ताव रखते थे, इसी नाम से संबोधित किये जाते थे । दशरथ की मृत्यु हो जाने पर, जबकि राम-लक्ष्मण वन-प्रस्थान कर चुके थे तथा भरत और शत्रुघ्न सुदूर केकय देश में थे, राजकर्ताओं (जिसमें विशिष्ट मंत्रिगण तथा राजपुरोहित की गणना की जाती थी) ने मिलकर विचार-विमर्श किया और भरत को तुरंत बुलाने का निश्चय किया । यदि किसी कारणवश नये राजा की नियुक्ति संभव न होती, तो राज्य का शासन-सूत्र एक प्रबंधक को सौंप दिया जाता था । इस व्यवस्था के अनुसार भरत ने चौदह वर्ष तक अयोध्या के राज्य को एक न्यास (ट्रस्ट) मानकर उसका शासन-प्रबंध किया था । वनवास की अवधि समाप्त होने पर जब राम अयोध्या लौटे, तब भरत ने उन्हें राज्य की बागडोर सौंपते हुए कहा था कि आप खजाना, कोठार, सेना आदि का निरीक्षण कर लें ।

एतत्ते सकलं राज्यं न्यासं निर्यातितं मया ।
अवेक्षतां भवान्कोशं कोष्ठागारं गृहं बलम् ।। ६।१२७।५४,५६

आर्य राष्ट्र-नीति में राजा प्रजावर्ग की समष्टि—आत्मा—का प्रतिनिधि है, विश्व के अंतर्यामी नियंता का प्रत्यक्ष विग्रह-रूप है । राम ने वाली से कहा था कि 'राजा लोग दुर्लभ धर्म, जीवन और लौकिक अभ्युदय के दाता होते हैं, अतः उनकी निंदा, हिंसा तथा उनके प्रति आक्षेप नहीं करना चाहिए । वे वास्तव में देवता हैं, जो मनुष्य-रूप से इस पृथ्वी पर विचरते हैं । मनुष्य पाप करके यदि राजा के दिये हुए दंड को भोग लेते हैं, तो वे शुद्ध होकर पुण्यात्मा पुरुषों की भांति स्वर्गलोक में जाते हैं ।'[1] रावण के मतानुसार, 'तेजस्वी राजा अग्नि, इंद्र, सोम, यम और वरुण इन पांचों देवताओं के स्वरूप को धारण किये रहते हैं; उनमें इन पांचों के गुण—प्रताप, पराक्रम, सौम्य स्वभाव, दंड और प्रसन्नता—विद्यमान रहते हैं, अतः सभी अवस्थाओं में राजाओं का संमान और पूजन करना चाहिए (३।४०।१२-४) ।'

जहां प्रजागण राजा को अपने हृदय के आराध्य देवता के रूप में पूजते थे,

---

१. दुर्लभस्य च धर्मस्य जीवितस्य शुभस्य च । राजानो वानरश्रेष्ठ प्रदातारो न संशयः ।। तान्न हिंस्यान्न चाक्रोशेन्नाक्षिपेन्नप्रियं वदेत् । देवा मानुषरूपेण चरन्त्येते महीतले ।। ४।१८।४१-२; राजभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः । निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ।। ४।१८।३१

वहां उसमें सभी सद्‌गुणों और शुभ शक्तियों को प्रतिबिंबित देखने की भी आशा रखते थे। वाल्मीकि के अनुसार, 'आदर्श राजा गुणवान्, पराक्रमी, धर्मज्ञ, उपकार माननेवाला, सत्यवक्ता, दृढ़प्रतिज्ञ, सदाचारी, समस्त प्राणियों का हितसाधक, विद्वान्, सामर्थ्यशाली, प्रियदर्शन, मन पर अधिकार रखनेवाला, क्रोध को जीतनेवाला, कांतिमान्, अनिंदक और संग्राम में अजेय योद्धा होता है (१।१।२-४)।'

नारद के अनुसार, 'आदर्श राजा का व्यक्तित्व आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक होता है। उसके कंधे मोटे, भुजाएं बड़ी-बड़ी, ग्रीवा शंख के समान, ठोड़ी भरी हुई, छाती चौड़ी, गले के नीचे की हड्डी मांस से छिपी हुई, भुजाएं घुटनों तक लंबी, मस्तक सुंदर, ललाट भव्य, चाल मनोहर, शरीर मध्यम और सुडौल, देह का रंग स्निग्ध, वक्षःस्थल भरा हुआ और आंखें बड़ी होती हैं। मानसिक दृष्टि से वह बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, वक्ता, ज्ञानी, वेद-वेदांग के तत्त्व को जाननेवाला, धनुर्वेद में प्रवीण, धर्म का ज्ञाता, अखिल शास्त्रों का मर्मज्ञ, स्मरण-शक्ति से युक्त तथा प्रतिभासंपन्न होता है। नैतिक दृष्टि से वह धैर्यवान्, जितेंद्रिय, सत्यप्रतिज्ञ, पवित्र, यशस्वी, श्रीसंपन्न तथा अच्छे विचार और उदार हृदयवाला होता है (१।१।८-१९)।'

हनुमान् के अनुसार, 'आदर्श राजा पूर्ण चंद्र के समान मनोहर मुखवाला, पद्मपत्र के समान विशाल नेत्रों से युक्त, रूप और औदार्य से संपन्न, तेज, क्षमा, बुद्धि और यश से युक्त, सदाचार, धर्म और चातुर्वर्ण्य का रक्षक, परम प्रकाशस्वरूप, राजनीति में पूर्ण शिक्षित, ब्राह्मणों का उपासक, ज्ञानी, शीलवान्, विनम्र, वेद-वेदांग का परिनिष्ठित विद्वान् और सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार शुभ अंग-प्रत्यंगों से युक्त होता है (५।३५।८-११)।'

अयोध्या की जनता के अनुसार, 'आदर्श राजा वीर्यवान्, स्थिरप्रज्ञ, विद्वान्, सभी विद्याओं और वेद-वेदांगों को भलीभांति जाननेवाला, मधुर-भाषी, सज्जन; ईर्ष्या, असूया और मात्सर्य से दूर, वृद्धों और ब्राह्मणों का प्रतिपूजक, सदैव शांत, कृतज्ञ, सदाचारी, शील-संपन्न, मार्दव और कोमलता से युक्त, क्षमावान्, प्रजाप्रिय, दूसरों के अंतर्गत विचारों को तुरंत ताड़नेवाला, दयालु, आलस्य और अभिमान से शून्य, धर्म, अर्थ और काम का ज्ञाता, गंभीर मंत्र को गुप्त रखनेवाला, भाषा-ज्ञान में निपुण, संगीत, वाद्य और चित्रकारी का विशेषज्ञ, शत्रु पर आक्रमण और प्रहार करने में कुशल, सेना-संचालन में निपुण, दोष-दृष्टि से रहित, अमित तेजस्वी,

रूपवान्, पराक्रमी, वाहर और भीतर से शुद्ध, युक्तियां देने में बृहस्पति के समान, नीरोग, तरुण, असाधारण वक्ता, सुंदर विग्रह से सुशोभित, देश-काल के तत्त्व को समझनेवाला और दीनता से रहित होता है (२।२।२८-४७)।'

राजा को व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा जन-हित का विशेष ध्यान रखना पड़ता था। जन-मत के सामने उसे झुकना पड़ता था। सगर-पुत्र असमंज का निर्वासन तथा सीता का परित्याग जन-मत की प्रवलता के ही परिणाम थे। राजा समस्त प्रजा का संरक्षक होता था, धर्मानुसार न्याय-वितरण करना उसका कर्तव्य था। चारों वर्णों को 'स्वकर्मनिरत' रखना उसका एक लक्ष्य था। बलि-षड्भाग (प्रजा की आय का छठा भाग) कर-रूप में पाने के बदले राजा पर दुष्टों के दमन और साधुओं के संरक्षण का भार आ पड़ता था। 'राज्य के भीतर कहीं पाप की प्रवलता होने पर, कहीं दुर्भिक्ष या महामारी होने पर, कहीं संघर्ष, अशांति या अकाल-मृत्यु होने पर तथा कहीं प्रजागण के मानव-जीवन के आध्यात्मिक आदर्श से च्युत होने पर सत्पुरुष राजा को ही उत्तरदायी मानते थे। वे ऐसा निश्चय करते थे कि राजा के जीवन में अवश्य कहीं अधर्म को आश्रय मिला है। जिस प्रकार राजा प्रजा का निर्णायक था, वैसे ही प्रजा भी राजा की निर्णायिका थी। राजा के पारिवारिक तथा राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक व्यापार पर प्रजा की तीव्र दृष्टि रहती थी, क्योंकि उसकी जीवन-धारा पर ही सारे राष्ट्र का हिताहित अवलंबित था। प्रजागण राजा के जीवन के संबंध में कैसी आलोचना करते हैं—गुप्तचरों द्वारा इसका संवाद प्राप्त करना तथा उसके अनुसार अपने आचरण का संशोधन करना या अपनेको दंड देना राजा का विशेष कर्तव्य माना जाता था। राजा का जीवन आदर्श होने पर तथा राजा और प्रजा के बीच सुमधुर संबंध प्रतिष्ठित होने पर ही राष्ट्र का अभ्युदय हो सकता है।"[1]

वाली के अनुसार, 'इंद्रियों का संयम, मन का निग्रह, क्षमा, धर्म, धैर्य, पराक्रम और अपराधियों को दंड देना ये राजा के गुण हैं; राजाओं को स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिए; नीति और विनय, दंड और अनुग्रह, इनका अविवेकपूर्वक उपयोग

---

१. अक्षयकुमार वंद्योपाध्याय—'रामायण की मर्म-वाणी'; 'कल्याण' का 'संक्षिप्त वाल्मीकिरामायणांक', पृ० १०

करना उनके लिए उचित नहीं।'[1] उन्हें अनावश्यक हिंसा से बचना चाहिए। जैसाकि लक्ष्मण ने राम से निवेदन किया था—एक के अपराध के लिए अनेक का संहार करना अनुचित है. (नैकस्य तु कृते लोकान् विनाशयितुमर्हसि, ३।६५।६)। धर्म की उपेक्षा करके अर्थ और काम के सेवन में ही निरत रहना राजा के पथ-भ्रष्ट होने का लक्षण है। उसे न्यायपरायण और लोकप्रिय बनने का प्रयत्न करना चाहिए। राज-काज में राजा को सक्रिय योग देना चाहिए।[2] जब सुग्रीव ने राज्य का कार्य मंत्रियों को सौंप दिया और उनके कार्यों की स्वयं देखभाल तक नहीं करने लगे, तब हनुमान् ने उलाहना देकर उन्हें सचेष्ट किया था।

राजा का दैनिक कार्यक्रम क्या होना चाहिए, इसका उदाहरण उत्तरकांड में वर्णित राम की दिनचर्या से प्राप्त होता है। प्रतिदिन सूर्योदय से पूर्व बंदिगण आकर स्तुति और संगीत द्वारा राजा राम को जगाते थे। उठने के पश्चात् राम स्नान करते, वस्त्राभूषण धारण करते तथा कुल-देवता, पितरों और विप्रों की पूजा करते थे। तदनंतर वह बाह्य कक्ष्या में जाकर सार्वजनिक कार्यों को निपटाते थे। यहां वह अमात्यों, पुरोहितों, सैनिक अधिकारियों, जानपदों, सामंत राजाओं, ऋषियों तथा पौरवर्गों के साथ सभा का संचालन करते थे। पौरकार्य में व्यस्त न होने पर वह मुनियों के धर्म-प्रवचन का श्रवण करते थे। अपराह्न का समय राम अपने अंतःपुर के अशोक-वन में सीता के साथ व्यतीत करते थे। दिन के शेष समय में वह मध्य कक्ष्या में गुप्तचरों आदि के साथ महत्त्वपूर्ण मंत्रणा करते थे (७।३७; ५३।४-६,१८; ४२।२७,३६; ४३।१)।

राजा को ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि उसके दर्शनार्थी सभी वर्ग उससे सरलतापूर्वक मिल सकें। स्त्री-पुरुष सभीको अपनी शिकायतें कहने के लिए राजा

---

१. साम दानं क्षमा धर्मः सत्यं धृतिपराक्रमौ। पार्थिवानां गुणा राजन्दण्डश्चाप्यपकारिषु ॥ नयश्च विनयश्चोभौ निग्रहानुग्रहावपि। राजवृत्तिरसंकीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः ॥ ४।१७।२६,३२

२. पौरकार्याणि यो राजा न करोति दिने दिने। संवृत्ते नरके घोरे पतितो नात्र संशयः ॥ ७।५३।६

के पास प्रातःकाल आने का अवसर मिलना चाहिए।[1] प्रतिदिन राजा को राजोचित वेश-भूषा में सभा-भवन में बैठकर जनता को दर्शन देना चाहिए।[2]

शिक्षा-दीक्षा, मंत्रियों, पुरोहितों तथा गुरुजनों का नियंत्रण, धर्म-निष्ठा, परलोक में यातना पाने का भय, परंपराओं और संस्कारों का समादर तथा लोकापवाद का डर राजाओं को मर्यादा में रहने को प्रेरित करते थे। राजा का व्यक्तित्व आदरणीय होते हुए भी इतना पवित्र या अलौकिक नहीं था कि अनाचार करने पर भी वह लोक-निंदा से बचा रहे। राम के साथ वन-प्रस्थान करने से पूर्व जब सीता को भी वल्कल-वेश धारण करना पड़ा, तब प्रजाजन 'धिक् त्वां दशरथम्' कहकर दशरथ को धिक्कारने[3] लगे थे। उन्होंने अयोध्या छोड़कर अन्यत्र जाने का भी निश्चय प्रकट किया था (**गच्छन्तमनुगच्छामो यत्र गच्छति राघवः**, २।३३।१६)। नगरत्याग प्रजा की ओर से राजा को दिया जानेवाला कठोरतम दंड होता था। रावण भी लोक-निंदा से बचा रहना चाहता था। जब उसने हनुमान् को मौत के घाट उतारने का आदेश दिया, तब विभीषण ने उसे स्मरण दिलाया था कि दूत का वध करना लोकदृष्टि में एक निंदित कार्य है (**लोकवृत्तेश्च गर्हितम्**, ५।५२।६)।

शासन-संचालन की समुचित व्यवस्था किये बिना राजा राज्य छोड़कर नहीं जा सकता था। गंगावतरण के आख्यान में कहा गया है कि तपस्या-हेतु वन-प्रस्थान करने से पूर्व राजा भगीरथ ने राज्य का प्रबंध मंत्रियों के सुपुर्द कर दिया था (**मन्त्रिष्वाधाय तद्राज्यम्**)। गंगावतरण होने पर जब वह पितरों का यथाविधि श्राद्ध संपन्न कर चुके, तब उन्होंने लौटकर राज्य की बागडोर सम्हाल ली थी (१।४२। १२; ४४।१८)। इसी प्रकार उत्तरकांड में, शंबूक की खोज में जाने से पहले, राम ने लक्ष्मण और भरत को अयोध्या का राज्य-भार सौंप दिया था। राजा की आज्ञा

---

१. **आहूयन्तां प्रकृतयः पुरोधा मन्त्रिणस्तथा। कार्यार्थिनश्च पुरुषाः स्त्रियो वा पुरुषर्षभ॥** ७।५३।५

२. **ततः प्रभाते विमलं कृतपूर्वाह्णिकक्रियः। अभिचक्राम काकुत्स्थो दर्शनं पौरकार्यवित्॥** ७।६०।२; **कच्चिद्दर्शयसे नित्यं मानुषाणां विभूषितम्। उत्थायोत्थाय पूर्वाह्णे राजपुत्र महापथे॥** २।१००।५१

३. **तस्यां चीरं वसानायां नाथवत्यामनाथवत्। प्रचुक्रोश जनः सर्वो धिक्त्वां दशरथं त्विति॥** २।३८।१

बिना युवराज को नगर छोड़ने का अधिकार नहीं था। भरत के चित्रकूट आने पर राम ने (जो तबतक दशरथ की मृत्यु से अनभिज्ञ थे) पूछा था कि पिता के जीवित रहते (उनकी आज्ञा के बिना) तुम यहां वन में कैसे आ गए ?[1] पुत्र को राज्य सौंपकर अवकाश-ग्रहण की अनुमति सभा से प्राप्त करनी पड़ती थी।

अयोध्याकांड के १००वें (कच्चित्) सर्ग में राम ने भरत से जो राजनीति-विषयक प्रश्न पूछे हैं, उनसे ज्ञात होता है कि राजाओं से कैसे आचार-व्यवहार की अपेक्षा की जाती थी। उन्होंने पूछा—"तुम समय पर जाग जाते हो ? रात के पिछले पहर में अर्थ-सिद्धि के उपायों पर विचार करते हो ? तुम अकेले या अधिक आदमियों के साथ तो गुप्त विषयों पर विचार नहीं करते ? तुम्हारा विचारा हुआ गुप्त मंत्र समूचे राष्ट्र में फैल तो नहीं जाता ? जिसका साधन बहुत छोटा और फल बहुत बड़ा (**लघुमूलं महोदयम्**, २।१००।१९) हो, ऐसे कार्य का निश्चय करने के बाद तुम उसे शीघ्र प्रारंभ कर देते हो ? उनमें विलंब तो नहीं करते ? तुम्हारे सब कार्य पूर्ण हो जाने पर अथवा पूरे होने के समीप पहुंचने पर ही दूसरे राजाओं को ज्ञात होते हैं ? कहीं ऐसा तो नहीं कि तुम्हारे भावी कार्यक्रम को वे पहले ही जान जाते हों ? तुम्हारे निश्चित किये हुए विचारों को, तुम्हारे या मंत्रियों के प्रकट न करने पर भी, दूसरे लोग तर्क और युक्तियों के द्वारा तो नहीं जान लेते ? तुम्हें और तुम्हारे अमात्यों को दूसरे के गुप्त विचारों का पता लगता रहता है ? जिन शत्रुओं को तुमने राज्य से निकाल दिया है, वे यदि फिर लौटकर आते हैं तो तुम उन्हें दुर्बल समझकर उनकी उपेक्षा तो नहीं करते ? काम-काज में लगे सभी लोग निडर होकर तुम्हारे सामने आते तो हैं, अथवा सदा तुमसे दूर तो नहीं रहते ? मध्यम स्थिति का अवलंबन करना ही अर्थ-सिद्धि का कारण होता है। नास्तिकता, असत्य-भाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानी पुरुषों का संग न करना, आलस्य, नेत्र आदि पांचों इंद्रियों के वशीभूत होना, राज्य-कार्यों के विषय में अकेले ही विचार करना, विपरीत बुद्धिवाले मूर्खों से सलाह लेना, निश्चित किये हुए कार्यों को शीघ्र प्रारंभ न करना, गुप्त मंत्रणा को प्रकट कर देना, मांगलिक कार्यों का अनुष्ठान न करना तथा सब शत्रुओं पर एक ही साथ चढ़ाई कर देना, ये राजाओं

---

१. **क्व नु तेऽभूत्पिता तात यदरण्यं त्वमागतः। न हि त्वं जीवितस्तस्य वनमागंतुमर्हसि ॥ २।१००।४**

के जो चौदह दोष हैं, तुम इनसे दूर रहते हो? दशवर्ग, पंचवर्ग, चतुर्वर्ग, सप्तवर्ग, अष्टवर्ग, त्रिवर्ग, तीन विद्या, छः गुण, इंद्रिय-निग्रह, दैवी और मानुषी बाधाएं, राजा के नीतिपूर्ण कार्य, विंशतिवर्ग, प्रकृतिमंडल, यात्रा (शत्रु पर आक्रमण), दंड-विधान (व्यूह-रचना), तथा संधि और विग्रह, इन सबकी ओर तुम यथार्थ रूप से ध्यान तो देते हो?"[1]

---

१. देखिये २।१००।१७-२१, ३७, ५२, ६५-७०। काम से उत्पन्न होनेवाले दस दोषों को 'दशवर्ग' कहते हैं। ये राजा के लिए त्याज्य हैं। मनु ने इनके नाम इस प्रकार गिनाये हैं—आखेट, जुआ, दिन में सोना, दूसरों की निन्दा करना, स्त्री में आसक्त होना, मद्य-पान, नाचना, गाना, बजाना और व्यर्थ घूमना। जल-दुर्ग, पर्वत-दुर्ग, वृक्ष-दुर्ग, ईरिण-दुर्ग और धन्व-दुर्ग, ये पांच प्रकार के दुर्ग 'पंचवर्ग' कहलाते हैं। इनमें आरम्भ के तीन प्रसिद्ध ही हैं। जहां किसी प्रकार की खेती नहीं होती, ऐसे प्रदेश को 'ईरिण' कहते हैं। बालू से भरी मरु-भूमि को 'धन्व' कहते हैं। गरमी के दिनों में वह शत्रुओं के लिए दुर्गम होती है। इन सब दुर्गों का यथासमय उपयोग करके राजा को आत्मरक्षा करनी चाहिए। साम, दान, भेद और दण्ड की चार प्रकार की नीति को 'चतुर्वर्ग' कहते हैं। राजा, मंत्री, राष्ट्र, किला, खजाना, सेना और मित्रवर्ग, ये परस्पर उपकार करनेवाले राज्य के सात अंग हैं, जिन्हें 'सप्त-वर्ग' कहते हैं। चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दोष-दर्शन, अर्थ-दूषण तथा वाणी और दंड की कठोरता, ये क्रोध से उत्पन्न होनेवाले आठ दोष 'अष्टवर्ग' माने गए हैं। किसी-किसीके मत से खेती की उन्नति करना, व्यापार को बढ़ाना, दुर्ग बनाना, पुल-निर्माण कराना, जंगल से हाथी पकड़कर मंगवाना, खानों पर अधिकार प्राप्त करना, अधीन राजाओं से कर लेना और निर्जन प्रदेश को आबाद करना, राजा के लिए उपादेय ये आठ गुण ही 'अष्टवर्ग' हैं। धर्म, अर्थ और काम को अथवा उत्साह-शक्ति, प्रभु-शक्ति तथा मंत्र-शक्ति को 'त्रिवर्ग' कहते हैं। त्रयी, वार्ता और दंडनीति, ये तीन विद्याएं हैं। इनमें तीनों वेदों को 'त्रयी' कहते हैं; कृषि और गो-रक्षा वार्ता के अंतर्गत हैं तथा नीति-शास्त्र का नाम दंडनीति है। संधि, विग्रह, दान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय, ये छः गुण हैं। इनमें शत्रु से मेल रखना 'संधि', उससे लड़ाई

रामायण में राम, सुग्रीव और विभीषण तथा (उत्तरकांड में) राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के पुत्रों के राज्याभिषेक का उल्लेख आया है। इनमें केवल राम और सुग्रीव के राज्याभिषेकों का ही अपेक्षाकृत विस्तार से वर्णन मिलता है।

राम के यौवराज्याभिषेक की तैयारी के विवरण, राम के वन-प्रस्थान से अनभिज्ञ सीता के उद्‌गार तथा युद्धकांड में राम के राज्याभिषेक के वर्णन, इन तीनों को

छेड़ना 'विग्रह', आक्रमण करना 'यान', अवसर की प्रतीक्षा में बैठे रहना 'आसन', दुरंगी नीति बरतना द्वैधीभाव और अपने से बलवान् राजा की शरण लेना 'समाश्रय' कहलाता है। आग लगना, बाढ़ आना, बीमारी फैलना, अकाल पड़ना और महामारी का प्रकोप होना, ये पांच दैवी बाधाएं हैं। राज्य के अधिकारियों, चोरों, शत्रुओं और राजा के प्रिय व्यक्तियों से तथा स्वयं राजा के लोभ से जो भय प्राप्त होता है, उसे मानवीय बाधा कहते हैं। शत्रु राजाओं के सेवकों में से जिनका वेतन न मिला हो, जो अपमानित किये गए हों, जो अपने स्वामी के किसी व्यवहार से कुपित हों तथा जिन्हें भय दिखाकर डराया गया हो, ऐसे लोगों को इच्छित वस्तु देकर फोड़ लेना राजा का 'कृत्य' (नीतिपूर्ण कार्य) माना गया है। बालक, वृद्ध, दीर्घ काल का रोगी, जातिच्युत, डरपोक, भीरु मनुष्यों को साथ रखनेवाला, लोभी, लालची लोगों को आश्रय देनेवाला, मंत्री-सेनापति आदि प्रकृतियों को असंतुष्ट रखनेवाला, विषयों में आसक्त, चंचल-चित्त मनुष्यों से सलाह लेनेवाला, देवता और ब्राह्मणों की निंदा करनेवाला, दैव का मारा हुआ, भाग्य के भरोसे पुरुषार्थ न करनेवाला, दुर्भिक्ष से पीड़ित, सैनिक कष्ट से युक्त (सेना-रहित), स्वदेश में न रहनेवाला, अधिक शत्रुओंवाला, अकाल (क्रूर ग्रह-दशा आदि से युक्त) और सत्य-धर्म से रहित, ये बीस प्रकार के राजा संधि के योग्य नहीं माने गए हैं; इन्हींको 'विंशतिवर्ग' का नाम दिया गया है। राज्य के स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सेना, राज्य के इन सात अंगों को 'प्रकृति-मंडल' कहते हैं। किसी-किसीके मत में मंत्री, राष्ट्र, किला, खजाना और दंड, ये पांच प्रकृतियां अलग हैं और बारह राजाओं के समूह को 'मंडल' कहते हैं (देखिये 'कल्याण' का 'संक्षिप्त वाल्मीकि-रामायण अंक', पृ० १६६)।

एक सूत्र में पिरोने पर रामायणकालीन राज्याभिषेक-प्रणाली की रूपरेखा प्राप्त की जा सकती है।[1]

राज्याभिषेक का समस्त प्रबंध राजपुरोहित के सुपुर्द रहता था। हवन, अभिषेक तथा अन्य कृत्यों के लिए इन आवश्यक वस्तुओं का पहले से संग्रह कर लिया जाता था—चारों समुद्रों, (गंगा आदि) पवित्र नदियों, सरोवरों और तीर्थों का जल, सुवर्ण, रत्न, देव-पूजन की सामग्री, सब प्रकार की ओषधियां, श्वेत पुष्पों की मालाएं, लावा, घी, मधु, नये वस्त्र, सुसज्जित राजकीय रथ, शस्त्रास्त्र, चतुरंगिणी सेना, उत्तम लक्षणों से युक्त हाथी, दो चंवर, ध्वजा, सुवर्ण-भूषित श्वेत छत्र, सांड़ के सींग, अनुलेपन, अंगराग, चंदन, अक्षत, प्रियंगु, दही, सुंदर एवं बहुमूल्य जूते, अग्नि के समान दैदीप्यमान सोने के सौ कलश, सोने से मढ़े हुए सींगोंवाला एक सांड़, व्याघ्र-चर्म, अभिषेक के लिए सोने का पीढ़ा (भद्रपीठ) तथा अन्य उपयोगी वस्तुएं। इनमें से आवश्यक वस्तुएं अग्निशाला में इकट्ठी करके रख दी जाती थीं। स्वस्ति-वाचन करनेवाले ब्राह्मणों के लिए आसन, दक्षिणा आदि का प्रबंध रहता था। अलंकृत कन्याएं एवं गणिकाएं भी उपस्थित रहती थीं। अभिषेक से एक दिन पहले, राजकुमार और उनकी पत्नी को उपवास-व्रत की दीक्षा दी जाती थी और वे दोनों ब्रह्मचर्यपूर्वक भगवान् नारायण का पूजन और हवन करते थे। राज्याभिषेक के प्रातःकाल ब्राह्मणों को मंदिरों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों में दही-दूध-घी आदि से संयुक्त उत्तम भोजन कराया जाता और प्रचुर दान-दक्षिणा दी जाती थी। नगर में सब ओर पताकाएं फहराई जातीं और राज-मार्गों पर छिड़काव कराया जाता था।

सभा के सदस्य, प्रमुख व्यापारी और नागरिक, श्रमिक संघों के प्रधान, सामंत राजा, मंत्रिजन, सैनिक अधिकारी तथा राजकीय कर्मचारी—इन सबसे अपेक्षा की जाती थी कि वे संस्कार आरंभ होने से पूर्व ही राजप्रासाद में आकर अपना-अपना आसन ग्रहण कर लें। अभिषेक-संस्कार प्रासाद की अग्निशाला में संपन्न होता था। पहले द्विजगण स्वस्तिवाचन-पूर्वक सपत्नीक राजकुमार को आशीर्वाद प्रदान करते, फिर वे दोनों दर्भयुक्त वेदी पर स्थापित अग्नि में हवन करते। तत्पश्चात् उन्हें भद्रासन पर बैठाया जाता और सर्वप्रथम ब्राह्मण और ऋत्विज उनका मंत्रोच्चारण-

---

१. देखिये २।३।८-२०; १४।३४-४१; १५।१-१२; २६।६-१८; ६।१२८।६८

पूर्वक पवित्र जल से अभिषेक करते, फिर क्रमशः कन्याएं, मंत्री, सैनिक अधिकारी और वैश्य उनका अभिषेचन करते थे।

इसके बाद राजकुमार नवीन कौशेय वस्त्र धारण करते, शरीर पर चंदन, गोरोचन और मनःशिला का अनुलेपन करते और पत्नी-सहित रत्नों से सुशोभित सुवर्णमय सभा-भवन में आकर दर्शन देते थे। यहां उन्हें समारोहपूर्वक राजपद पर प्रतिष्ठित किया जाता था। सपत्नीक राजकुमार को रत्ननिर्मित सिंहासन पर विराजमान किया जाता, पुरोहित द्वारा उनके सिर पर रत्नमय किरीट रखा जाता, उनपर श्वेत छत्र ताना जाता और चंवर डुलाये जाते थे। सामंतजन उन्हें विविध उपहार लाकर भेंट करते। राजा भी उपस्थित लोगों को पुरस्कार आदि देकर संतुष्ट करते थे।

तदनंतर नवाभिषिक्त राजा को पुष्परथ पर सवार कराके नगर में जुलूस निकाला जाता था। रथ में सोने की साज-सज्जा से युक्त चार श्वेत अश्व जुड़े रहते थे। राजा के बैठने के स्थान पर व्याघ्र-चर्म बिछा रहता था। अयोध्या-नरेशों के रथ का कोविदार-ध्वज दूर से ही लक्षित हो जाता था। सौ शलाकाओंवाले श्वेत राजकीय छत्र से उनपर छाया की जाती और दोनों ओर से चंवर डुलाये जाते थे। इनके डंडे सोने के बने तथा मणि-जटित रहते थे। राज्याभिषेक के समय उपस्थित रहनेवाले सभी अधिकारी जुलूस में राजा के साथ रहते थे।

आदर्श शासन-प्रबंध के अंतर्गत देश की समृद्धि होनी स्वाभाविक थी। राजा दशरथ के शासन-काल में सारे अयोध्यावासी प्रसन्न, धर्मात्मा, धन-धान्य-संपन्न तथा निर्लोभ थे। वे नाना प्रकार के वस्त्राभूषणों से सुसज्जित रहते, मालाएं और अंगराग धारण करते तथा बहुमूल्य खाद्य और पेय पदार्थों का सेवन करते थे। अपवित्र अन्न का भोजन करनेवाला, दान न देनेवाला तथा मन का निग्रह न करनेवाला कोई मनुष्य वहां दिखाई नहीं देता था। अयोध्यापुरी में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं था, जो अग्निहोत्र और यज्ञ न करता हो। क्षुद्र, चोर, दुराचारी अथवा वर्णसंकर का वहां नाम भी नहीं था। सभी मनुष्य स्त्री, पुत्र, पौत्र आदि परिवार के साथ सुख से रहते थे (१।६)।

राम-राज्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस समय विधवाओं का विलाप नहीं सुनाई पड़ता था, सर्पादि दुष्ट जन्तुओं का भय नहीं था, रोगों की आशंका नहीं थी, कोई चोर नहीं था, पाप का कोई स्पर्श भी नहीं करता था तथा बूढ़ों को

बालकों के अंत्येष्टि-संस्कार नहीं करने पड़ते थे। सभी लोग प्रसन्न थे, धर्मपरायण थे तथा राम को देखते हुए एक-दूसरे को कष्ट नहीं पहुंचाते थे। उस समय लोग दीर्घ-जीवी और पुत्र-पौत्र-संपन्न थे, तथा उन्हें किसी प्रकार का रोग या शोक नहीं होता था। वृक्षों की जड़ें मजबूत होती थीं और वे फल-फूलों से लदे रहते थे। मेघ यथेष्ट वर्षा करते थे और वायु सुखकारी होकर प्रवाहित होता था। सब लोग अपने-अपने कर्मों से संतुष्ट रहकर उन्हींका आचरण करते थे। सारी प्रजा सुखी, संतुष्ट और पुष्ट थी। दुर्भिक्ष का भय नहीं था। स्त्रियां सदा-सुहागिनी और पतिव्रता थीं। आग लगने का भय नहीं था। कोई प्राणी जल में नहीं डूबता था। वात, ज्वर या क्षुधा का डर नहीं था। सभी नगर और जनपद धन-धान्य से संपन्न थे (१।१।६०-३; ६।१२८।६८-१०४)।

तत्कालीन शासन-तंत्र के तीन मुख्य अंग सभा, मंत्रि-परिषद् तथा शासनाधिकारी (तीर्थ) थे। इन तीनों की सहायता से राजा शासन-संचालन करता था।

राम और दशरथ के युग की राज्य-सभा, लोक-सभा या धारा-सभा 'परिषद्', 'समिति', 'संसद्' या केवल 'सभा' कहलाती थी।[1] आज के युग में 'पार्लमेंट' या 'असेंबली' का जो महत्त्व है, कुछ-कुछ वैसा ही उस समय सभा या परिषद् का था। सभा के सदस्य 'प्रकृति', 'सभासद्' अथवा 'आर्यमिश्र' कहलाते थे। उन्हें 'आर्य' अर्थात् माननीय कहकर संबोधित किया जाता था। सामूहिक रूप से उन्हें 'आर्यगण' कहते थे।

सभा के सदस्य सरकारी और गैर-सरकारी दोनों होते थे। सरकारी सदस्यों में अमात्य-जन (क्षत्रिय), मंत्रिजन (ब्राह्मण ऋषि-मुनि) और सेनापति तथा गैर-सरकारी सदस्यों में राजागण (सामंत) और नगर-ग्राम के प्रतिनिधि होते थे। राजधानी के प्रतिनिधि 'पौर' और शेष राष्ट्र के प्रतिनिधि 'जानपद' कहलाते थे। सभा का यह 'पौर-जानपद' अंग ही सबसे अधिक शक्तिशाली था, क्योंकि देश के बहुमत का यही प्रतिनिधित्व करता था। पौर-जानपदों में राजधानी के नैगम

---

१. सामान्य जन-समूह के लिए भी 'सभा' और 'परिषद्' शब्द आये हैं—'समेत्य संघशः सर्वे चत्वरेषु सभासु च' (२।६।२०)। जहां सभा का अधिवेशन होता था, उस भवन को भी 'सभा' कहते थे—'समेत्य राजकर्तारः सभामीयुर्द्विजातयः' (२।६७।२)।

ग्रौर गणवल्लभ तथा देहात के ग्रामघोपमहत्तर (किसानों ग्रौर ग्वालों के प्रतिनिधि) समाविष्ट होते थे । ये वैश्य वर्ण ग्रौर व्यापारी वर्गों के प्रतिनिधि थे। इस प्रकार सभा में वर्णों, हितों ग्रौर प्रदेशों को प्रतिनिधित्व प्राप्त था । ये प्रतिनिधि सरकार द्वारा नियुक्त ग्रथवा जनता द्वारा निर्वाचित होते थे, यह स्पष्ट नहीं है, फिर भी 'नैगमाः, ग्रामघोपमहत्तराः, श्रेणीमुख्याः, गणवल्लभाः, जनमुख्याः' जैसे नामों से किसी-न-किसी प्रकार का चुनाव ध्वनित होता है ।

सभा के ग्रधिवेशन में वाहर से विशिष्ट व्यक्तियों को ग्रामंत्रित करने की प्रथा प्रचलित थी । जव वसिष्ठ ने दशरथ का उत्तराधिकारी चुनने के लिए ग्रयोध्या की सभा का विशेष ग्रधिवेशन बुलाया, तब उसमें भरत के मामा राजकुमार युधाजित् भी ग्रामंत्रित किये गए थे (२।८१।१३) । भरत से संबंधित होने के कारण युधाजित् की इस ग्रधिवेशन में विशेष रुचि रही होगी ।

सामान्यतः शासन-संबंधी सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर सभा का परामर्श लिया जाता था। राजा या युवराज के निर्वाचन, युद्ध की घोषणा, राजा के राज-त्याग या ग्रवसर-ग्रहण जैसे विषयों में सभा की स्वीकृति ग्रावश्यक होती थी । जब दशरथ ने वृद्धावस्था के कारण राम को राज्य-भार सौंपना चाहा, तब उन्होंने ग्रपनी सभा का एक विशेष ग्रधिवेशन वुलाया था । इसी प्रकार उनकी मृत्यु के बाद नया राजा चुनने के लिए ग्रयोध्या की सभा जुटी थी। भरत के हाथों दशरथ की ग्रंत्येष्टि हो चुकने के वाद राजपुरोहित वसिष्ठ ने सभा का पुनः एक विशेष ग्रधिवेशन बुलाया, जिसमें सभा तथा प्रजा की ग्रोर से उन्होंने, कैकेयी-दशरथ की इच्छानुसार, भरत को ग्रयोध्या की राजगद्दी स्वीकार करने को कहा था ।

रामायण में लोक-सभा की गति-विधि पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है । एक ग्रोर हमें दशरथ-जैसे वैधानिक शासक की सभा के शांतिकालीन ग्रधिवेशन का वर्णन मिलता है, तो दूसरी ग्रोर रावण-जैसे एकच्छत्र ग्रौर निरंकुश सम्राट् की परिषद् के युद्धकालीन ग्रधिवेशन का भी रोचक वृत्तांत प्राप्त होता है । इन ग्रधिवेशनों की तुलना यदि ग्राधुनिक संसद् की कार्रवाई से की जाय, तो दोनों में बहुत-कुछ समानता दिखाई देगी ।

सभासदों को उपस्थित होने की सूचना दूतों या संदेशवाहकों द्वारा पहुँचाई जाती थी। राजा की ग्रनुपस्थिति में सभा का ग्रधिवेशन पुरोहित या ग्रमात्यजन भी बुला सकते थे (२।८१।११-२;१।४६;६७।२;६।११।१७)। वाहर के सदस्यों के

लिए राजधानी में निवास-स्थान का प्रबंध होता था ।[1]

अयोध्या का संसद्-भवन राजप्रासाद का ही एक अंग था । राजा दशरथ अपने महल से निकलते ही संसद्-भवन में पहुँच गए थे और अधिवेशन की समाप्ति पर भवन से निकलकर राजमहल में चले गए थे (२।४।१,३;१०।६-१०) । इसके अतिरिक्त अयोध्या का सभा-भवन [2] तीनों ओर से खुला भी रहा होगा ; तभी तो दशरथ ने सभा में बैठे-बैठे ही राम को राज-मार्ग से आते हुए देख लिया था (**प्रासादस्थो दशरथो ददर्शायान्तमात्मजम्**, २।३।२७) । किंतु लंका में सभा-भवन राजप्रासाद से दूर एक अतिरिक्त भवन रहा होगा, क्योंकि रावण अपने महल से रथ पर सवार होकर एक राजकीय जुलूस में वहां पहुंचा था ।[3]

सभा का अध्यक्ष राजा होता था और उसकी अनुपस्थिति में राजपुरोहित । सबसे पहले सुसज्जित वेश-भूषा में राजा प्रवेश कर आसन ग्रहण करता था । रावण के सभासद् सुवर्ण, मुक्ता और मणियों से अलंकृत तथा उत्तम वस्त्रों, पुष्पमालाओं तथा अंगराग से सज्जित थे ।[4] अयोध्या की सभा के सभासद् सुंदर वस्त्रों तथा चंदन के लेप से प्रकाशमान थे (**वस्त्रांगरागप्रभया द्योतिता सा सभोत्तमा**, २।८२।२) ।

सभा-भवन में समुचित शिष्टाचार का पालन किया जाता था । राजा अथवा

---

१. जनपद से आनेवाले प्रतिनिधियों को 'पुरालय' अर्थात् राजधानी में निवास करनेवाले कहा गया है (२।१।५१) । एक अन्य स्थल पर राजा द्वारा बाहर से आनेवाले प्रतिनिधियों का निवास-स्थान आदि से सत्कार किये जाने की बात कही गई है—'तान्वेश्म नानाभरणैर्यथार्हं प्रतिपूजितान्' (२।१।४७) ।

२. सभा-भवन के गलियारे अथवा दर्शन-कक्ष प्रजा के लिए खुले रहते होंगे । यहीं से राम के मित्रों ने सभा की कार्रवाई देखी होगी और राम के यौवराज्याभिषेक का निश्चय होते ही वे कौसल्या को यह शुभ संवाद सुनाने दौड़े गए, 'तच्छ्रुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिणः । त्वरिताः शीघ्रमागत्य कौसल्यायै न्यवेदयन् ॥' २।३।४६-७

३. तमास्थाय रथश्रेष्ठं महामेघसमस्वनम् । प्रययौ रक्षसां श्रेष्ठो दशग्रीवः सभां प्रति ॥ ६।११।४

४. सुवर्णनानामणिभूषणानां सुवाससां संसदि राक्षसानाम् । तेषां परार्ध्यागुरुचन्दनानां स्रजां च गन्धाः प्रववुः समन्तात् ॥ ६।११।२६

सभापति के सिंहासन पर आसीन होने के पश्चात् अन्य सभासद् अपना आसन ग्रहण करते थे। बैठने के स्थान सभापति की दिशा में न्यायानुसार लगे रहते थे। राजा का आसन सभा-भवन के एक ओर बीच में लगा रहता था और उन्हींके पास युवराज बैठते थे (२।३।३४-५)। सामंत राजाओं, क्षत्रिय तथा वैश्य प्रतिनिधियों और ब्राह्मणों के लिए विशेष स्थान नियत थे। सभी अपने पद के अनुसार आसन ग्रहण करते थे। दशरथ की सभा में सारे सभासद संमानपूर्वक राजा की ओर मुंह करके बैठते थे (राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः, २।१।५०)। भाषण की अनुमति मिलने पर ही वे सभा को संबोधित करते थे।[1]

सभासदों के कर्तव्य के विषय में राम कहते हैं—"वह सभा सभा नहीं जहां वृद्ध न हों, वे वृद्ध वृद्ध नहीं जो धर्मयुक्त बात न कहते हों, वह धर्म धर्म नहीं जो सत्य न हो और वह सत्य सत्य नहीं जो निश्छल और स्वतःप्रेरित न हो। अर्ध-सत्य बातें कहना निंदनीय है। जो सभासद् सत्य बात जानते हुए भी मौन रहते हैं, उन्हें असत्य-वादी ही समझना चाहिए। जो सभासद् स्वार्थ, क्रोध या भयवश सत्य बात नहीं कहते, जबकि ऐसा करना उनका परम कर्तव्य है, वे नरक में दंड के भागी बनते हैं। प्रत्येक सभासद् का यह कर्तव्य है कि वह लोभ, भय अथवा पक्षपात किये बिना निःस्वार्थ भाव से सभा की कार्रवाई में अपनी योग्यता के अनुसार पूर्ण सहयोग दें।"[2]

तत्कालीन संसद् की कार्य-प्रणाली का विस्तृत परिचय वाल्मीकि-कृत दशरथ की सभा के वर्णन से मिलता है (२।२-३)। सभापति के नाते दशरथ ने सभासदों के संमुख खड़े होकर उन्हें गंभीर उच्च स्वर से संबोधित किया और अधिवेशन बुलाने का कारण बतलाया। उन्होंने कहा कि मैंने राज्य के शासन का दीर्घ समय तक अपनी

---

१. ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ २।२।२०; अथ रामेण संस्पृष्टाः सर्व एव सभासदः। ७।५९ (२)। ३१

२. न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम्। नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ॥ ये तु सभ्याः सदा ज्ञात्वा तूष्णीं ध्यायन्त आसते। यथा प्राप्तं न ब्रुवते ते सर्वेऽनृतवादिनः। जानन्न वाब्रवीत्प्रश्नान्कामात्क्रोधाद्भयात्तथा। सहस्रं वारुणान्पाशानात्मनि प्रति-मुंचति ॥ ७।५९ (३)। ३३-५

पूरी योग्यता और शक्ति के साथ संचालित किया है, किंतु अब मैं वृद्धावस्था के कारण शासन-भार से मुक्त होना चाहता हूं। तत्पश्चात् दशरथ ने यह प्रस्ताव रखा कि मेरे पुत्र राम को, जो युवक हैं तथा मुझसे योग्यता और सामर्थ्य में बढ़े-चढ़े हैं, युवराज-पद पर अभिषिक्त कर दिया जाय, यदि यह प्रस्ताव आप लोगों को रुचिकर, बुद्धिमत्तापूर्ण तथा कल्याणकारी प्रतीत होता हो। अपने प्रस्ताव का समर्थन करते हुए दशरथ ने राम की विशेषताओं पर प्रकाश डाला और सभा से निवेदन किया कि या तो आर्यगण मेरे प्रस्ताव को स्वीकार करें अथवा उससे अधिक उपयुक्त कोई और प्रस्ताव रखें—

यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम् ।
अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया ।। २।२।१६

इस प्रकार राजा को प्रस्ताव रखने-मात्र का अधिकार था। अंतिम चुनाव या निर्णय का अधिकार केवल सभा को प्राप्त था। दशरथ ने अंतिम निर्णय का भार सभासदों पर ही छोड़ दिया, अन्यथा वह स्वयं राम के चुनाव के पक्षपाती समझ लिये जाते। उन्होंने इस बात का आग्रह किया कि योग्य व्यक्ति को चुनने के लिए परिषद् का सर्वथा पक्षपातहीन निर्णय परम आवश्यक है।

सभा के संमुख किसी प्रस्ताव को रखने से पूर्व यह आवश्यक था कि राजा उसके विषय में अपनी मंत्रि-परिषद् के साथ विचार-विनिमय कर ले। दशरथ ने उक्त प्रस्ताव पर अपने मंत्रियों के साथ परामर्श करके यह पता लगा लिया था कि प्रजा उनके प्रस्ताव से कितनी सहमत होगी (**निश्चित्य सचिवैः सार्धं यौवराज्यममन्यत**, २।१।४२)।

दशरथ के भाषण का सभा ने तुमुल जयजयकार-ध्वनि से स्वागत किया।

यह दर्शनीय है कि दशरथ ने सभा पर अपना निर्णय लादने की चेष्टा नहीं की, अपितु अपने प्रस्ताव पर विचारपूर्वक निर्णय कर एक सर्व-संमत निश्चय प्रकट करने की प्रार्थना-भर की थी। एक वैधानिक शासक की मर्यादाओं को वह जानते थे।

राजा के आदेशानुसार सभा ने विचार-विनिमय के बाद सर्व-संमति से यह निर्णय किया कि राम ही दशरथ के उत्तराधिकारी बनने के योग्य हैं। प्रस्ताव उपस्थित किये जाने के बाद सभासदों का उसपर विचार करना उस आधुनिक परिपाटी का ही पूर्व-रूप है, जिसके अनुसार किसी प्रस्ताव-विशेष पर ऊहापोह करने के लिए संसद् के सभी या कुछ विशेष सदस्य एक प्रवर-समिति बना लेते हैं और फिर संसद् के

समक्ष अपना सुविचारित एवं परिपक्व निर्णय प्रकट करते हैं। वाल्मीकि ने यह नहीं बताया कि अपने प्रस्ताव पर बहस होते समय दशरथ ने सभापति का स्थान छोड़ दिया था अथवा नहीं। सभा के निर्णय की सूचना राजा को सभा के किसी एक प्रतिनिधि या प्रवक्ता ने आकर दी होगी, क्योंकि सभी सदस्यों का एक साथ चिल्लाकर निर्णय सूचित करना तो संगत नहीं जान पड़ता।

राम के पक्ष में सभासदों की संमति जान लेने पर दशरथ ने यह शंका प्रकट की कि मेरे धर्मपूर्वक शासन करते रहने पर भी आप राम को युवराज क्यों बनाना चाहते हैं ? इस पर सभा ने राम के गुणों का उल्लेख किया और यह सिद्ध किया कि राजा को प्रसन्न करने के लिए नहीं, अपितु सर्वोत्तम शासक चुनने की इच्छा से प्रेरित होकर ही यह निर्णय किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि सभा का यह कर्तव्य था कि वह अपने निर्णय की सकारण पुष्टि भी करे। राम को चुनने का कारण स्पष्ट करने के बाद सभा ने दशरथ से निवेदन किया कि सारे राज्य के ग्रामीण एवं नागरिक प्रजागण राम को युवराज के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं।

राजा दशरथ ने सभा का निर्णय सुना और अपने पुत्र को अयोध्या का भावी राजा चुनने के उपलक्ष्य में प्रसन्नता प्रकट की तथा सभा के प्रति आभार प्रदर्शित किया। इसके बाद उन्होंने अपने मंत्रियों को आदेश दिया कि सभा के निर्णय को कार्यान्वित करने के लिए शीघ्र कार्रवाई करें। राजा की इस तत्परता से प्रसन्न हो सभासदों ने उनका जयघोष किया।

आश्चर्य की बात है कि महाराज दशरथ ने सभा के इस निर्णय को क्रियान्वित नहीं किया—राम युवराज नहीं बनाये गए और उन्हें अंतःपुर के षड्यंत्र का शिकार हो वन चले जाना पड़ा। प्रजा ऐसा नहीं चाहती थी, राज्य के वरिष्ठ अधिकारी भी यह नहीं चाहते थे, पर एक रानी की मांगें अधिक प्रबल सिद्ध हुईं। राजा के निजी वचन की रक्षा के लिए जनता की मांग ठुकरा दी गई। इससे यह प्रमाणित होता है कि सभा की अनुमति बहुत-कुछ औपचारिक होती थी तथा असाधारण परिस्थितियों में राजा का निर्णय ही अंतिम होता था।

अब रावण की सभा के अधिवेशन की भी एक झांकी कर ली जाय। रावण यह भली भांति जानता था कि सफलता का मूल सत्परामर्श है (**मन्त्रमूलं हि विजयं प्रवदन्ति मनस्विनः, ६।६।५**)। एतदर्थ उसने भी एक परामर्शदात्री सभा या परिषद् बना रखी थी, जिससे वह संकट-काल में मंत्रणा किया करता था। रावण की

सभा में उसके सैन्य-अधिकारियों, मंत्रियों और बंधु-बांधवों का बाहुल्य था। वह स्वयं उसका अध्यक्ष था।

रामायण में रावण द्वारा अपनी सभा के दो अधिवेशन बुलाने का उल्लेख मिलता है—एक तो हनुमान् द्वारा लंका के अग्निकांड के पश्चात् और दूसरा लंका पर राम का आक्रमण होने के समय।

प्रथम अधिवेशन (६।६) में रावण ने सभासदों को पहले यह सूचना दी कि हनुमान् ने दुर्गम लंकापुरी का विध्वंस कर दिया है, और फिर उनकी संमति मांगी कि राम के विरुद्ध क्या कदम उठाया जाय (**तस्माद्वै रोचये मन्त्रं रामं प्रति महाबलाः** ६।६।५)। रावण ने राजाओं को तीन श्रेणियों में विभाजित करते हुए कहा कि जो राजा अपने हितकारियों के साथ परामर्श करके कार्यारंभ करता है, वह उत्तम श्रेणी का है; जो अकेला ही अपने कर्तव्य का विचार करता है, वह मध्यम है; तथा जो गुण-दोष का विचार न करके अहंकारवश कार्य आरंभ करता है, वह अधम है। इसी प्रकार निश्चयों को भी रावण ने तीन श्रेणियों में विभाजित किया। जिसमें शास्त्रोक्त दृष्टि से सब मंत्री एकमत होकर प्रवृत्त होते हैं, उसे उत्तम निश्चय कहते हैं; जहां प्रारंभ में अनेक प्रकार के मत-भेद होने पर भी अंत में सबका एकमत हो जाय, वह निश्चय मध्यम होता है; तथा जहां अपनी-अपनी बुद्धि की प्रधानता रखकर स्पर्धापूर्वक भाषण किया जाय, और ऐसे परस्पर-विरोधी मत प्रकट किये जायं जिनमें कल्याण की संभावना न हो, वह निश्चय अधम कहा जाता है।

रावण की सभा के अधिकांश सदस्यों को न नीति का ज्ञान था और न वे शत्रु की शक्ति के संबंध में ही कुछ जानते थे। उनमें चाटुकारिता और युद्ध के प्रति मोह था। उन्होंने रावण के पराक्रम की प्रशंसा करके उसे परामर्श दिया कि हनुमान् द्वारा किये गए अपमान का बदला अवश्य लिया जाय और प्रतिशोध-स्वरूप सीता को न लौटाया जाय। प्रहस्त, दुर्मुख, वज्रहनु आदि राक्षसों ने तमक-तमककर अपनी शेखी बघारी। केवल विभीषण ने विपरीत परामर्श दिया और कहा—"आप मेरे भाई हैं। मैं आपसे विनय करता हूं और आपके हित के लिए सच्ची बात कहता हूं कि राम को उनकी पत्नी लौटा दीजिये।" विभीषण की बात सुनकर रावण ने सभा भंग कर दी और वह अपने महल में चला गया।

राक्षस-सभा के राजकीय वैभव और विशेषाधिवेशन का परिचय उसकी दूसरी बैठक के वर्णन में मिलता है (६।११-२)। प्रातःकाल होने पर रावण सोने

की जाली और मणि-मुक्ताओं से विभूषित रथ पर चढ़कर सभा-भवन में गया। रथ में प्रशिक्षित घोड़े जुते हुए थे। उसके साथ-साथ ढाल-तलवार आदि सब प्रकार के शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित राक्षस चले। वे चित्र-विचित्र वेश नें आभूषणों से सज-धजकर उसके आगे, पीछे और दायें-बायें चल रहे थे। इनमें कुछ रथों पर, कुछ मतवाले हाथियों पर और कुछ उछलते-कूदते घोड़ों पर सवार थे। रावण के सिर पर शुभ्र छत्र तना हुआ था। दोनों ओर से चंवर और पंखे झूल रहे थे। राज-पथ पर चलनेवाले राक्षसों के रथों से एवं सहस्रों शंखों और तुरहियों की ध्वनि से समस्त वातावरण गूंज रहा था। मार्ग में खड़े लोग हाथ जोड़कर और सिर झुका-कर उसका अभिवादन कर रहे थे। राक्षसों की जय-जयकार के साथ रावण अपनी राज्य-सभा में पहुंचा।

सभा-भवन के फर्श में सोने-चांदी का काम किया हुआ था। बीच-बीच में स्फटिक जड़ा था। उसपर सुनहरा कालीन बिछा था। छः सौ राक्षस योद्धा सभा-भवन की रक्षा के लिए तैनात थे। रावण का सिंहासन वैदूर्य-मणियों का बना हुआ था। उसपर अत्यंत कोमल मृग-चर्म बिछा था। सभासदों के लिए सुंदर चौकियां रखी थीं। भूमि पर भी बैठने का प्रबंध था। सभा में सदस्यों को बैठाने का प्रबंध शुक्र और प्रहस्त नामक राक्षसों के अधीन था। अयोध्या की लोक-सभा की भांति लंका की सभा में भी सदस्यगण चाहे जहां नहीं बैठ सकते थे। उन्हीं आसनों पर उन्हें बैठना पड़ता था, जो उनके लिए नियत थे।

रावण ने अध्यक्ष-स्थान ग्रहण करके समस्त सभासदों को तुरंत बुला लाने के लिए दूतों को आदेश दिया, क्योंकि अधिवेशन में महत्त्व की मंत्रणा होनेवाली थी। दूतों ने घर-घर जाकर सभासदों को रावण के आदेश से अवगत किया। आदेश पाते ही कोई रथ पर, कोई घोड़े पर, कोई हाथी पर, तो कोई पैदल ही सभा-भवन की ओर चल पड़ा। अपने वाहन बाहर छोड़कर सदस्यों ने पैदल ही भवन में प्रवेश किया। भीतर आने पर उन्होंने राजा का चरण-स्पर्श किया। राजा ने उनका संमान करके उन्हें आसन ग्रहण करने को कहा। थोड़ी ही देर में भवन बुद्धिमान् अमात्यों, नीति-निपुण मंत्रियों तथा सैकड़ों सैन्य अधिकारियों से खचाखच भर गया। सबसे अंत में विभीषण ने आकर अपने अग्रज को प्रणाम किया। सभासदों में से कोई भी शोरगुल नहीं करता था, कोई जोर से नहीं बोलता था, न कोई असत्य-भाषण ही करता था; सभी राजा की ओर उन्मुख होकर बैठे थे—

न चुक्रुशुर्नानृतमाह कश्चित्सभासदो नापि जजल्पुरुच्चैः।
संसिद्धार्याः सर्व एवोग्रवीर्या भर्तुः सर्वे ददृशुश्चाननं ते ॥ ६।११।३०

युद्धकालीन अधिवेशन होने के कारण रावण ने विशेष सावधानी बरती थी। उसने सभा-भवन और नगर-दुर्ग की रक्षा का प्रबंध करने के लिए प्रहस्त को आज्ञा दी। प्रहस्त के लौट आने तक सभा उसकी प्रतीक्षा करती रही। प्रहस्त ने भवन के रक्षकों की संख्या दुगुनी कर दी और लौटकर रावण से निवेदन किया कि अब निश्चित होकर अधिवेशन प्रारम्भ कीजिये (कुरुष्वाविमनाः क्षिप्रं यदभिप्रेतमस्ति ते, ६।१२।५)।

रावण ने अपने अध्यक्षीय भाषण में सर्वप्रथम सभासदों की पूर्व-सेवाओं के लिए उन्हें धन्यवाद दिया—"आप सबकी सहायता से ही मैंने देवासुर-संग्राम में विजय प्राप्त की थी।" सीता का हरण कर लेने की सूचना रावण ने अपने सभासदों को नहीं दी थी, पर अब याचना-भरे स्वर में उसने कहा—"वे दोनों राजकुमार सीता का पता पाकर सुग्रीव आदि वानरों को साथ लिये समुद्र के उस तट पर आ पहुंचे हैं। आप लोग ऐसी युक्ति बतायें कि जिससे वे मारे जायं और सीता को न लौटाना पड़े। मेरी दृष्टि में सीता के समान तीनों लोकों में कोई स्त्री नहीं है। उसके मनोहर सौंदर्य और गुणों पर मैं मुग्ध हूं।"

रावण का प्रलाप सुनकर कुंभकर्ण को क्रोध आ गया और उसने कहा—"महाराज, आपको चाहिए था कि सीता को हर लेने से पहले हमसे परामर्श करते। आपने विना विचार किये एक अनुचित काम कर डाला।" पर बाद में कुंभकर्ण को, सरकारी सदस्य होने के कारण, राजा का समर्थन करना ही पड़ा। उसने आगे कहा—"यद्यपि आपने यह काम अपनी योग्यता से बढ़कर कर डाला है, फिर भी आपके शत्रुओं का संहार करके मैं सब ठीक कर दूंगा।"

विभीषण ने रावण को उसके सर्वनाश से सावधान कर देना अपना कर्तव्य समझा। उसने भाई को सलाह दी कि आप क्षमा-याचना के साथ राम के पास सीता को पहुंचा दें। विभीषण के बाद प्रहस्त, इंद्रजित् आदि अन्य सभासदों ने राम के विरुद्ध युद्ध-घोषणा करने का समर्थन किया और विभीषण को कायर बताया। रावण ने विभीषण को देशद्रोही और कुलकलंक-जैसे विशेषणों से संबोधित किया और उन-पर यह आरोप लगाया कि शत्रु ने तुम्हें रिश्वत दी है। इन आरोपों को सुनकर विभीषण ने अपनेको अपमानित अनुभव किया और वह सभा-भवन छोड़कर चले गए।

इस प्रकार रावण की सभा में कोई विरोधी दल नहीं था, फिर भी कुंभकर्ण और विभीषण के विरोधी भाषण एक निरंकुश शासन में प्रजातांत्रिक पद्धति का आभास देते हैं। रावण के सभा-भवन की सुरक्षा के लिए जो सैनिक प्रबन्ध होता था, वह आज भी देखा जा सकता है।

राजा लोग देश का शासन एक मंत्रि-परिषद् की सहायता से चलाया करते थे। अश्वमेध करने के समय, युवराज को कार्यवश बाहर भेजने के समय, युवराज के योग्य वधू का चुनाव करते समय, सभा के समक्ष किसी प्रस्ताव को रखने-से पूर्व, युद्ध-घोषणा करने से पूर्व तथा अन्य कठिन समस्याओं का हल करने के लिए राजा मंत्रि-परिषद् से परामर्श करता था। इसमें दो प्रकार के सदस्य होते थे—(१) गुरुजन (गुरवः), जो एक परामर्शदात्री समिति के रूप में काम करते थे। इनसे राजा महत्त्वपूर्ण कार्य आरंभ करने से पूर्व, परामर्श लिया करता था। ये सभी ब्राह्मण वर्ण के होते थे और 'मंत्रिणः' भी कहलाते थे। (२) अमात्य या सचिव, जिन्हें आज की भाषा में 'कैबिनेट' या मंत्रि-मंडल कहा जा सकता है। प्रत्येक सचिव को एक विभाग सौंपा जाता था।

गुरुजनों अथवा मंत्रियों तथा अमात्यों अथवा सचिवों का अंतर राम के एक कथन से प्रकट होता है। चित्रकूट पर उन्होंने भरत से पूछा था—"तुम अपने अमात्यों और मंत्रियों से परामर्श तो करते रहते हो?"[1] यहां मंत्रियों से राम का अभिप्राय परामर्शदाता गुरुजनों से ही है। वानर और राक्षसों में भी मंत्रि-परिषद् के ये दोनों विभाग स्पष्ट प्रकट होते हैं। हनुमान् को सुग्रीव का सचिव (४।३।२२) और उन परामर्शदाताओं को, जिन्होंने वाली को मृत समझकर सुग्रीव के राज्याभिषेक का आग्रह किया था, मंत्री कहा गया है (४।६।२०-१)। विभीषण अपने जिन चार साथियों को लेकर राम की शरण में आये थे, वे उनके अमात्य थे। रावण के साथ उसके सचिव भी दिग्विजय के लिए गये थे, जबकि उसकी सभा के परामर्शदाता मंत्र-तत्त्वज्ञ मंत्री थे।

महाराज दशरथ की मंत्रि-परिषद् (अमात्य और गुरुजन दोनों) महर्षि वसिष्ठ के नेतृत्व में काम करती थी, जो राजपुरोहित और वास्तविक प्रधान मंत्री थे।

---

१. अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च बुद्धिमद्भिश्च मन्त्रिभिः। सर्वकार्याणि संमन्त्र्य महान्त्यपि हि कारय॥ २।११२।१७

अमात्यों के साथ उनका निकट संपर्क था। सभी राजकीय मामलों में दशरथ अपने पुरोहित, अमात्यों और मंत्रियों के साथ परामर्श करते थे।

परामर्शदाता गुरुजन ये आठ व्यक्ति थे—सुयज्ञ, जावालि, कश्यप, गौतम, मार्कंडेय, कात्यायन, वसिष्ठ और वामदेव। इनमें से वसिष्ठ और वामदेव ऋत्विज भी थे (१।७।४-५)। ये सभी ब्रह्मर्षि और 'वेदपारग' थे। कुल-परंपरा से ये राजा के सलाहकार बने हुए थे और अपनी आयु, बुद्धिमत्ता तथा शास्त्र और परंपरा के ज्ञान के कारण सुविख्यात थे।

जहां अमात्यगण सदैव राजा के सान्निध्य में रहा करते थे, वहां गुरुजन आवश्यकतानुसार परामर्श के लिए बुलाये जाते थे। जब महाराज दशरथ अश्वमेध यज्ञ करने के औचित्य पर विचार कर रहे थे, जब महाराज राम पर एक ब्राह्मण ने कुशासक होने का आरोप लगाया था, तथा जब सीता की पवित्रता की सार्वजनिक परीक्षा लेने का प्रश्न उठा था, तब गुरुजन परामर्श के लिए आमंत्रित किये गए थें। अपने अगाध धर्मशास्त्रीय ज्ञान और अनुभव तथा नीति, इतिहास और परंपराओं से विस्तृत परिचय के कारण वे राजा के बड़े सहायक सिद्ध होते थे। साधारण और असाधारण धर्मों के निर्णय में उनकी संमति प्रमाण-स्वरूप होती थी। संकटकालीन स्थिति में जब राजा का पद रिक्त होता था, वे 'राजकर्तारः' के रूप में नूतन राजा की नियुक्ति करते थे। कोई स्वार्थ न रहने के कारण यह कार्य उनके लिए विशेष उपयुक्त था।

महाराज दशरथ के निधन के तुरंत बाद ही उनके परामर्शदाता गुरुजन संमिलित होकर सभा-भवन में गये और अमात्यों-सहित प्रधान मंत्री महर्षि वसिष्ठ को संबोधित करके बोले कि अराजकता के अनेक दोष हैं, इसलिए इक्ष्वाकु-वंश के राजकुमारों में से जिसे आप उपयुक्त समझें, राजा बना दें।[1] इस प्रकार गुरुजनों ने राजा नियुक्त करने का अपना अधिकार मुनिवर वसिष्ठ को सौंप दिया। ऐसा करना तत्कालीन परिस्थिति में वांछनीय भी था, क्योंकि दशरथ उत्तराधिकारी नियुक्त किये बिना परलोक जा चुके थे तथा राम और भरत भी राजधानी में नहीं थे। इसलिए राजा किसे बनाया जाय, इसका तुरंत निर्णय करना आवश्यक था।

---

१. इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद्राजा विधीयताम्। अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात्॥ २।६७।८

आपसी मतभेद के कारण कहीं इसमें विलंब न हो, इसलिए समस्त गुरुजनों ने प्रधान मंत्री को यह अधिकार सौंप देने की बुद्धिमत्ता प्रदर्शित की, क्योंकि वही सबसे अधिक नीतिज्ञ, निष्पक्ष एवं सार्वजनीन आदर के पात्र थे। जब वसिष्ठ ने राजकुमार भरत को उनके ननिहाल से बुला भेजने का प्रस्ताव किया, तब उसका सभीने अनुमोदन किया। दशरथ की अंत्येष्टि संपन्न हो जाने के बाद इन्हीं गुरुजनों ने राजकर्ता की हैसियत से भरत को राज-पद प्रदान किया था। अमात्यों को ऐसा करने का अधिकार नहीं था।

दशरथ के आठ अमात्य या सचिव थे—धृष्टि, जयंत, विजय, सिद्धार्थ, अर्थसाधक, अशोक, मंत्रपाल और सुमंत्र (१।७।३)। अमात्यों में क्या-क्या गुण होने चाहिए, इसका पता हमें राम के उस उपदेश से चलता है, जो उन्होंने भरत को चित्रकूट पर दिया था। उन्होंने कहा—"क्या तुमने अपने ही समान शूरवीर, शास्त्रज्ञ, जितेंद्रिय, कुलीन और बाहरी चेष्टाओं से मन की बात समझ लेनेवाले सुयोग्य व्यक्तियों को ही अमात्य बनाया है? अच्छी मंत्रणा ही राजाओं की विजय का साधन है। नीति-शास्त्र के ज्ञाता एवं मंत्र को गुप्त रखनेवालों में श्रेष्ठ अमात्यों द्वारा ही राजा भली भांति सुरक्षित रहता है। मेधावी, शूरवीर, चतुर एवं नीतिज्ञ अमात्य यदि एक भी हो तो वह राजा या राजकुमार को बहुत बड़ी संपत्ति प्राप्त करा सकता है। तात, तुमने प्रधान व्यक्तियों को प्रधान, मध्यम श्रेणी के मनुष्यों को मध्यम और छोटी श्रेणी के लोगों को छोटे कार्यों में ही नियुक्त किया है न? जिनकी भली भांति परीक्षा कर ली गई है, जो पुरखों के समय से ही काम करते आ रहे हों, तथा जो बाहर-भीतर से पवित्र और श्रेष्ठ हैं, ऐसे अमात्यों को तुम उत्तम कार्यों में नियुक्त करते हो (२।१००।१५-६,२४-६)?"

दशरथ की मंत्रि-परिषद् के सदस्यों के विषय में कहा गया है कि वे सबके-सब विद्वान्, विनयशील, संकोची, चतुर, जितेंद्रिय, श्री-संपन्न, महात्मा, शस्त्र-विद्या के ज्ञाता, पराक्रमी, यशस्वी, राज्य-कार्य में सावधान, राजा की आज्ञा के अनुसार कार्य करनेवाले, तेजस्वी, क्षमावान् और हँसकर बात करनेवाले थे। उनमें कोई ऐसा न था, जो काम, क्रोध या स्वार्थ के वशीभूत होकर कभी झूठ बोलता हो। अपने या शत्रु-पक्ष के राजाओं की कोई भी बात उनसे छिपी नहीं रहती थी। दूसरे राजा क्या करते थे, क्या कर चुके हैं और क्या करना चाहते हैं—ये सभी बातें उन्हें गुप्तचरों द्वारा मालूम रहती थीं। वे सभी व्यवहार में कुशल थे। उनके सौहार्द की

अनेक अवसरों पर परीक्षा हो चुकी थी। वे मौका पड़ने पर अपने पुत्र को भी उचित दंड देने में नहीं हिचकते थे और अपराध न होने पर शत्रु की भी हिंसा नहीं करते थे। सबमें शौर्य और उत्साह था। सभी राजनीति के अनुसार कार्य करते और अपने राज्य के भीतर रहनेवाले सपुरुषों की रक्षा के लिए सदा उद्यत रहते थे। वे ब्राह्मण और क्षत्रियों को कष्ट न पहुंचाकर न्यायोचित ढंग से राजा का खजाना भरते थे। वे नीति-रूपी नेत्रों से देखते हुए सदा सजग रहते थे और अपने गुणों के कारण महाराज की विशेष कृपा के पात्र थे। उन्हें संधि और विग्रह के उपयोग और अवसर का अच्छी तरह ज्ञान था। वे राजकीय मंत्रणा को गुप्त रखने में समर्थ और सूक्ष्म विषय का विचार करने में कुशल थे (१।७)।

श्री ग्रिफिथ के अनुसार,[१] दशरथ के तीन अमात्य सैन्य-व्यवस्था, दो अमात्य अर्थ एवं वित्त तथा दो अमात्य कानून और न्याय-विभाग सम्हालते थे। आठवें अमात्य के अधीन रथ आदि वाहनों का विभाग था। रामायण में विभागों का ऐसा बंटवारा कहीं उल्लिखित नहीं है। ग्रिफिथ का कहना है कि दशरथ के अमात्यों के नाम उनके व्यक्तिगत नाम नहीं हैं, अपितु उनके कार्य के सूचक हैं। धृष्टि, जयंत और विजय इन तीन नामों का अर्थ क्रमशः साहस, इंद्र का विजयी पुत्र तथा युद्ध में सफलता है। इसलिए इन तीनों को सैन्य-विभाग का सचिव माना जा सकता है। सिद्धार्थ का शाब्दिक अर्थ सफल व्यक्ति है। अर्थ या धन-संग्रह करने में सफलता-प्राप्त व्यक्ति भी उसका अर्थ हो सकता है। अर्थ-साधक से तात्पर्य अर्थ अथवा व्यवहार में निपुण व्यक्ति है। इस प्रकार सिद्धार्थ और अर्थ-साधक वित्त-सचिव माने जा सकते हैं। छठे अमात्य का नाम अशोक अर्थात् शोक-रहित था। कोई मंत्री प्रजा को शोकग्रस्त तभी करेगा, जब वह कानून और न्याय के दुरुपयोग से उसे कष्ट पहुंचाये। इसलिए अशोक नामक अमात्य के अधीन न्याय-विभाग रहा होगा। मंत्रपाल का काम मंत्रों अर्थात् ऋक्-यजुः-साम जैसे पवित्र मंत्र-शास्त्रों का संरक्षण रहा होगा, इसलिए उसे धर्म-विभाग का संचालक माना जा सकता है। राजा राष्ट्र का धार्मिक अध्यक्ष होता था, और उसे व्यावहारिक एवं धार्मिक नियमों को सुचारु रूप से क्रियान्वित करना पड़ता था, इसलिए बहुत संभव है कि धर्म का विभाग एक विशिष्ट अमात्य के जिम्मे कर दिया गया हो। आठवें अमात्य सुमंत्र के अधीन विविध विभाग रखे गए होंगे। सुमंत्र

१. पी० सी० धर्मा—'द रामायण पॉलिटी', पृ० ५१-२

दशरथ और राम दोनों के स्तुतिपाठक, सारथि और प्रिय निजी सचिव थे। रामायण के कथानक में सुमंत्र ने वसिष्ठ के ही समान महत्त्वपूर्ण योग दिया है।

अमात्यों के कर्तव्य विविध थे। समूचे राष्ट्र और नगर में पूर्ण शांति बनाये रखने का उत्तरदायित्व उनका था। मिथ्यावादी, दुष्ट और परस्त्री-लंपट मनुष्यों की उन्हें जानकारी रखनी पड़ती थी। लोगों में कानून का भय बनाये रखना, उन्हें सत्य, नीति, धर्म और सदाचार के नियमों का उल्लंघन करने से रोकना, अमात्यों का काम था। आज की तरह अमात्यों का काम अपने-अपने विभाग की नीति का संचालन करना था। दैनंदिन कार्यों का वहन विभागीय अधिकारी करते थे, जो 'तीर्थ' कहलाते थे। रावण की सभा के वर्णन में उसके अमात्यों को **'सर्वज्ञा बुद्धिदर्शनाः'** तथा गुरुओं (परामर्शदाता मंत्रियों) को **'निश्चितार्थेषु पण्डिताः'** कहा गया है (६।११।२५)।

राम के समय में व्यावहारिक धर्म और शास्त्रीय धर्म के विभाग दो अमात्यों के अधीन थे, जो क्रमशः 'व्यवहारज्ञ' और 'धर्मपारग नीतिज्ञ' कहलाते थे। जब राजा धर्मासन पर विराजमान होकर न्याय-वितरण करता था, तब ये दोनों अमात्य उसके साथ रहते थे। शासन-व्यवस्था में अमात्यजन राजा के निकट-संपर्क में रहते थे। अपने-अपने विभागों का उत्तरदायित्व होने पर भी उन्हें राजा से बराबर आदेश लेते रहना पड़ता था। शासकीय मामलों में राजा को कम-से-कम तीन-चार अमात्यों से विचार-विमर्श अवश्य करना पड़ता था। राम ने भरत को यह राय दी थी कि एक साथ कई लोगों से परामर्श करना ठीक नहीं।[1] अमात्यों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे प्रस्तुत समस्या पर सभी दृष्टियों से विचार करके अपना निश्चय राजा को बतायें (६।६।७-८)।

अमात्यजन तथा गुरुजन (मंत्रिगण) सभा के 'पदेन' सदस्य हुआ करते थे और उसकी कार्रवाई में सक्रिय भाग लेते थे। राजा अथवा सभा के निर्देशों को कार्यान्वित करने का भार अमात्यों पर होता था। मुनिकुमार ऋष्यशृंग को अपने राज्य में बुलाने के विषय पर राजा रोमपाद ने पहले अपने मंत्रियों से चर्चा की और निर्धारित योजना को पूरा करने का काम अमात्यों को करना पड़ा। यात्राओं,

---

१. कच्चिन्मंत्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह। मंत्रिभिस्त्वं यथोद्दिष्टं चतुर्भिस्त्रिभिरेव च। कच्चित्समस्तैर्व्यस्तैश्च मंत्रं मंत्रयसे बुध ॥ २।१००।७१

जलूसों, अभियानों आदि में अमात्य राजा के साथ रहा करते थे।

जैसाकि मारीच ने रावण से कहा, सचिवों को यह अधिकार था कि वे राजा को दुष्कर्मों की ओर प्रवृत्त होने से रोकें।[1] जबर्दस्ती और अधिक कर वसूल करने तथा प्रजाजनों को अत्यधिक कठोर दंड देने से राजा को रोकना मंत्रियों का काम था।[2] जब सुग्रीव राम को दिये गए अपने वचन को भूल गए और सुरा-पान में लीन रहने लगे, तब उनके सचिव हनुमान् ने उन्हें सावधान किया था। इसी प्रकार जब रावण सीता का वध करने को उतारू हो गया, तब उसके अमात्य सुपार्श्व ने उसे इस पाप से बचाना अपना कर्तव्य समझा था (६।६२।५८)।

मंत्रियों के आचरण के विषय में रावण की बड़ी विचित्र धारणा थी। मारीच के हितकर किंतु अप्रिय उपदेश पर रावण ने उसे मार डालने की धमकी दी थी। शुक और सारण को भी, कटु सत्य कहने के कारण, रावण के कोप का भाजन बनना पड़ा।

अमात्यों को कार्य-संचालन करते समय सुंदर वेश-भूषा धारण करनी पड़ती थी (**सुवाससः सुवेषाश्च**, १।७।१६)। अमात्यों की बैठक राजप्रासाद में हुआ करती थी। अमात्यों को राजधानी छोड़ने का अधिकार नहीं था, क्योंकि उन्हें दैनिक शासन-प्रबन्ध की देखरेख करनी पड़ती थी। राम के विवाहोत्सव में संमिलित होने जब दशरथ मिथिला गये, तब वह प्रधान मंत्री (पुरोहित) तथा गुरुजनों (मंत्रियों) को अपने साथ लेते गए थे (१।६९।४-५); अमात्यगण स्पष्टतः शासन सम्हालने के लिए अयोध्या में ही रह गए थे। नंदिग्राम से शासन-संचालन करते समय भरत के साथ केवल उनके पुरोहित एवं मंत्रिजन थे (**वृतो मंत्रिपुरोहितैः**, २।११५।६)। अमात्य अथवा सचिव राजधानी में ही रहकर अपने विभागों का काम करते थे। वनवास से लौटने पर राम के स्वागत एवं राज्याभिषेक का प्रवन्ध इन्हीं सचिवों ने किया था (६।१२८।२३-४)।

तीर्थों (शासनाधिकारियों) के अस्तित्व का संकेत चित्रकूट पर राम-भरत-

---

१. तुलना कीजिये—**बध्याः खलु न वध्यन्ते सचिवास्तव रावण। ये त्वामुत्पथमारूढं न निगृह्णन्ति सर्वशः॥** देखिये ३।४१।६-८

२. तुलना कीजिये—**कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजिताः प्रजाः। राष्ट्रे तवावजानन्ति मंत्रिणः कैकयीसुत॥** २।१००।२७

संवाद में हुआ है (२।१००।३६), पर इन विभिन्न अधिकारियों के नामों का कोई उल्लेख नहीं है। टीकाकारों के अनुसार ये अधिकारी संख्या में अठारह होते थे जिनके नाम ये थे—मंत्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, दौवारिक (द्वारपाल), आंतरवंशिक (राजप्रासाद का प्रबंधक), कारागाराधिकृत (जेल-अधिकारी), अर्थसंचयकृत्, कार्य-नियोजक (मुख्य सचिव), प्राड्विवाक् (न्यायाधीश), सेनानायक, नगराध्यक्ष, कर्मांतिक (जायसवाल के अनुसार खानों और कारखानों का अधिकारी), सभ्य (सभा-सचिव), धर्माध्यक्ष (मुख्य न्यायाधीश), दंडपालक (मजिस्ट्रेट या पुलिस-कमिश्नर), दुर्गपाल (किले का प्रबन्धक) और राष्ट्रांतरपाल (सीमान्त प्रदेश का राज्यपाल)।

न्याय-वितरण की पद्धति बड़ी सरल, सस्ती और तात्कालिक थी। उन दिनों न पेशेवर वकील थे और न अदालती खर्च का ही कोई झमेला था। न्याय-तंत्र में कोई जटिलता नहीं थी, क्योंकि मुकदमे का फैसला राजा स्वयं करता था और वादी, प्रतिवादी उसके पास बेरोकटोक पहुँच सकते थे। न्याय निष्पक्ष था तथा मुकदमे का निर्णय शीघ्र किया जाता था। मुकदमेबाजी भी कम होती थी, क्योंकि प्रजा निष्पक्षता या शीघ्रता से फैसला करनेवाले कठोर शासक से भय खाती थी और कानून के उल्लंघन से बचे रहने में ही अपना कल्याण समझती थी।

प्राचीन भारत के राजा परंपरा से स्थापित राजधर्म के अनुसार न्याय-शासन करते थे। तत्कालीन न्याय का एक स्पष्ट सिद्धांत यह था कि योग्य न्यायाधीशों द्वारा जांच-पड़ताल कराये बिना अभियुक्त को दंड नहीं मिलना चाहिए; क्योंकि यह मान्यता प्रचलित थी कि निरपराध होने पर भी जिन लोगों को मिथ्या दोष लगाकर दंड दिया जाता है, उनकी आंखों से जो आंसू निकलते हैं, वे पक्षपातपूर्ण शासन करनेवाले राजा के पुत्र और धन-धान्य का नाश कर डालते हैं।[1] साथ ही, राजा का यह भी कर्तव्य था कि भ्रष्ट न्यायाधीशों के कारण या अन्य किसी कारणवश अपराधी व्यक्ति दंड पाने से कहीं बच न जाय। असहाय दरिद्र और साधन-संपन्न धनी के बीच मुकदमों का फैसला निष्पक्षता से कराने का दायित्व राजा पर ही था।

१. यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि राघव। तानि पुत्रपशून्घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः॥ २।१००।५९

न्याय के उक्त सिद्धांत निम्नलिखित प्रश्नों से स्पष्ट हो जाते हैं, जो राम ने भरत से चित्रकूट पर पूछे थे—

कच्चिदार्योऽपि शुद्धात्मा क्षारितश्चापकर्मणा ।
अदृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद्वध्यते शुचिः ।।
गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः ।
कच्चिन्न मुच्यते चौरो धनलोभान्नरर्षभ ।।
व्यसने कच्चिदाढ्यस्य दुर्बलस्य च राघव ।
अर्थं विरागाः पश्यन्ति तवामात्या बहुश्रुताः ।। २।१००।५६-८

अर्थात्, "कभी ऐसा तो नहीं होता कि कोई मनुष्य किसी श्रेष्ठ, निर्दोष और शुद्धात्मा पुरुष पर भी दोष लगा दे और, शास्त्र-ज्ञान में कुशल विद्वानों से उसके विषय में विचार कराये बिना ही, लोभ आदि के कारण उसे दंड दे दिया जाय ? जो चोरी में पकड़ा गया हो, जिसे किसीने चोरी करते समय देखा हो, पूछताछ से भी जिसके चोर होने का प्रमाण मिल गया हो तथा जिसके विरुद्ध चोरी का माल बरामद होने-जैसे बहुत-से सबूत हों, ऐसे चोरों को भी तुम्हारे राज्य में धन के लालच से छोड़ तो नहीं दिया जाता ? यदि धनी और गरीब में कोई विवाद छिड़ा हो और वह राज्य के न्यायालय में निर्णय के लिए आया हो, तो तुम्हारे अमात्य धन आदि के लोभ से तो उस मामले पर विचार नहीं करते ?"

न्यायाधीशों के लिए उत्तरकांड में 'धर्मपालक' शब्द आया है। कानून और राजनीति के विशिष्ट ज्ञान के कारण ही वे इस पद पर नियुक्त किये जाते थे। पक्षपात और रिश्वत से बचे रहने की उनसे अपेक्षा की जाती थी। भरत ने माता कौसल्या से कहा था कि राम को वन भेजनेवाले को वही पाप लगे जो पक्षपात करनेवाले न्यायाधीश (मध्यस्थ) को लगता है।[1]

राम-राज्य के सर्वोच्च न्यायालय की गति-विधि का परिचय उत्तरकांड से प्राप्त होता है।[2] न्यायालय की बैठक सभा-भवन में प्रतिदिन प्रातःकाल हुआ करती थी जबकि राजा और न्यायाधीश अपने नित्य-कर्म से निवृत्त हो चुकते थे। प्रजा के

१. भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः । तेन पापेन युज्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ।। २।७५।५८, टीका देखिये ।
२. देखिये सर्ग ५९ के बाद के प्रक्षिप्त सर्ग ।

सभी वर्गों को—चाहे वे नर हों या नारी—राजा के संमुख उपस्थित होकर अपनी शिकायतें रखने का अधिकार था। जिस आसन पर बैठकर राजा मुकदमों का फैसला करता था, वह 'धर्मासन' कहलाता था।

सर्वोच्च न्यायालय का अध्यक्ष स्वयं राजा हुआ करता था। उसके अतिरिक्त अन्य न्यायाधीश भी होते थे, यथा, पुरोहित वसिष्ठ, 'धर्मपारग' और 'व्यवहारज्ञ' ब्राह्मण मंत्रिजन, परंपरा और लोकाचार के ज्ञाता अनुभवी ऋषि-मुनि, क्षत्रिय अमात्य, सभा के अर्थशास्त्र-पारंगत सदस्य, प्रमुख व्यापारी (नैगम) तथा राजा के भाई। इनमें ऋषि-मुनि राजा को धर्म और सदाचार-संबंधी वादों में परामर्श देते थे। मंत्रिजन अपने शासन-अनुभव के आधार पर यह बतलाते थे कि अमुक फैसला कार्यरूप में परिणत किया जा सकता है अथवा नहीं और उसकी राजनीतिक प्रतिक्रिया क्या होगी। क्षत्रिय अमात्य कूटनीति में अभ्यस्त थे तथा सामरिक मामलों और विदेश-नीति से संबंधित प्रश्नों पर अपनी राय देते थे। साथ ही, वे क्षत्रिय-जाति के अधिकारों की रक्षा का भी ध्यान रखते थे। प्रमुख व्यापारी वाणिज्य-व्यवसाय के मामलों में राजा को परामर्श देते थे तथा वैश्यवर्ग के हितों को सुरक्षित रखते थे। राजा के भाई संभवतः राजकीय विशेषाधिकार-प्राप्तों की रक्षा के लिए नियत रहते थे।

राजा का यह कर्तव्य था कि वह ऐसा प्रबंध करे कि जिससे प्रत्येक कार्यार्थी (शिकायत लेकर आनेवाला व्यक्ति) न्यायालय में तुरंत प्रवेश पा सके। राजा नृग ने अपने द्वार पर दो ब्राह्मण कार्यार्थियों को बहुत देर तक ठहराये रखा था। इस अपराध के लिए नृग को शाप का भागी बनना पड़ा (७।५३।१६-८)। महाराज राम के पूर्वज राजा निमि ने भी ऐसा ही अपराध किया था। जब वसिष्ठ अपनी शिकायत सुनाने उनके यहां आये, तब निमि सो रहे थे; तुरंत सुनवाई न होने के कारण वसिष्ठ ने उनको शाप दे दिया (७।५५।१५-७)। इसके विपरीत राम-राज्य के न्यायालय इस बात के लिए प्रसिद्ध थे कि वहां निष्पक्ष और तात्कालिक न्याय प्राप्त होता था, राजा या न्यायाधीश के समक्ष उपस्थित होने की तुरंत अनुमति मिलती थी और स्टांप, फीस या वकीलों का कोई बखेड़ा नहीं था। राजा का त्वरित एवं कठोर न्याय-शासन लोगों को एक-दूसरे के अधिकारों का संमान करने को प्रेरित करता था (**राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन् परस्परम्**, ६।१२८।१००), इसलिए लोग मुकदमेबाजी का कम ही आश्रय लेते थे और परिणामतः

राम-राज्य की अदालतों में अधिक काम नहीं था (**दृश्यते न च कार्यार्थी रामे राज्यं प्रशासति, ७।५९(१)।१०**) ।

वाल्मीकि ने इन कृत्यों को अपराधों की श्रेणी में गिना है—राजद्रोह, झूठी गवाही, कुमारिकाओं पर बलात्कार, पराई स्त्रियों का अपहरण, न्यास (ट्रस्ट)-संपत्ति का दुरुपयोग, चोरी, डकैती, ब्रह्महत्या, सैनिकों को निर्धारित वेतन न देना, युद्ध में पीठ दिखाना, बालकों, स्त्रियों, वृद्धों और राजाओं की हत्या, आग लगाना, जलाशय में विष मिला देना और गुरु-स्त्री-गमन ।

इन अपराधों का दंड यातना-मात्र देने से लेकर प्राण-दंड तक होता था। फांसी के लिए सवेरे का समय नियत रहता था। लंका में विलाप करते हुए सीता ने कहा था कि दो मास की अवधि पूरी होने पर राक्षसाधम रावण मुझे वैसे ही मृत्यु के घाट उतार देगा, जैसे रात्रि के अंत में चोर का वध कर दिया जाता है (**बद्धस्य वध्यस्य यथा निशान्ते राजोपरोधादिव तस्करस्य, ५।२८।७**) ।

राजमार्गों पर व्यवस्था बनाये रखने के लिए पुलिस-कर्मचारियों की नियुक्ति का भी संकेत मिलता है। पुलिस के सिपाही लाठी से लैस (**'दंडायुधधराः'**) रहते थे। लंका के रास्ते में हनुमान् ने विभिन्न शस्त्रास्त्र धारण किये हुए अनेक सैनिकों को देखा था। क्योंकि कवि ने कुछ सैनिकों को खूंख्वार शस्त्रों से सज्जित बताया है और दूसरों को दंडों अर्थात् लाठियों से लैस बताया है (५।४१।१६), अतः यह ध्वनित होता है कि ये लाठीधारी (दंडायुधर) सैनिक लंका के मार्गों पर पुलिस का काम करने के लिए राज्य की ओर से नियुक्त थे। रावण-वध के बाद जब विभीषण जानकी को पालकी में बैठाकर राम के पास लाये, तब अंगा और पगड़ी पहने इन्हीं पुलिसवालों ने अपने हाथों के डंडों से वानरों और राक्षसों की भीड़ को हटाया था।[1] उधर राम के अयोध्या लौटने की घड़ी में भरत ने यह आदेश जारी किया था कि राजमार्ग पर भीड़-भाड़ न होने देने के लिए सैकड़ों व्यक्ति तैनात किये जायं (**राजमार्गमसम्बाधं किरन्तु शतशो नराः, ६।१२७।१०**)। स्पष्टतः ये व्यक्ति सड़कों पर व्यवस्था बनाये रखने के लिए नियुक्त पुलिस-कर्मचारी थे ।

'बंधन' (४।५५।१०) और 'बद्ध' (५।२८।७)-जैसे शब्दों का प्रयोग

---

१. **कंचुकोष्णीषिणस्तत्र वेत्रझर्झरपाणयः। उत्सारयन्तस्तान् योधान् समन्तात्परिचक्रमुः ।। ६।११४।२१**

कारागृहों की ओर संकेत करता है। अंगद ने भयभीत होकर कहा था कि मेरे चाचा सुग्रीव क्रूर और निर्दयी हैं; यदि मैं अवधि बीतने के बाद सीता को ढूंढ़े बिना किष्किधा लौटा तो वह या तो मुझे तीव्र यातना देंगे अथवा कैद में डाल देंगे (उपांशुदण्डेन हि मां बन्धनेनोपपादयेत्, ४।५५।१०)।

जब अंगद-जैसा युवराज भी यातनाओं के आतंक से भयभीत था, तब कोई आश्चर्य नहीं यदि सामान्य कैदियों पर उनका व्यापक प्रयोग किया जाता हो। अशोकवाटिका में विलाप करते हुए सीता ने यातना देने की पद्धतियों का उल्लेख किया था और निश्चय किया था कि मुझे ऐसी कितनी ही यातनाएं क्यों न दी जायं, मैं रावण के वशीभूत न हूंगी—

छिन्ना भिन्ना प्रभिन्ना वा दीप्ता वाग्नौ प्रदीपिता।
रावणं नोपतिष्ठेयं किं प्रलापेन वश्चिरम्॥ ५।२६।१०

यहां सीता ने शरीर को शूल से छेद डालना या तलवार से दो भागों में काट डालना, कुल्हाड़ी से उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालना, कैदी को आग पर सेकना या जला डालना आदि यातनाओं की ओर संकेत किया है। गला घोंटकर कैदियों को मार डालने का भी तरीका प्रचलित था। सीता की राक्षसी पहरेदारनियों ने सीता का गला घोंटकर उनका काम तमाम कर डालने का विचार कर लिया था (**कंठमस्या नृशंसायाः पीडयाम किमास्यते,** ५।२४।४१)।

गुप्तचरों को 'चर', 'चार', 'प्रणिधि', 'चारक' अथवा 'चारण' कहा जाता था। भारत के प्राचीन राजनीतिकारों ने चरों को राजतंत्र के लिए अनिवार्य बताया है। अयोध्या में एक नियमित गुप्तचर-विभाग था, जो आधुनिक समय के सी० आई० डी० विभाग का समकक्ष माना जा सकता है। दशरथ के मंत्रिजन चरों द्वारा शत्रुओं की गति-विधि से अपने को अवगत रखते थे।[1] राम ने भरत से चित्रकूट पर पूछा था कि तुम चारणों द्वारा अपने मंत्रियों और अधिकारियों की गति-विधि से सुपरिचित रहते हो (**वेत्सि तीर्थानि चारणैः,** २।१००।३६)?

गुप्तचर दो प्रकार के होते थे—नागरिक गुप्तचर और सैनिक गुप्तचर। उत्तरकांड में जिन जासूसों से राम को सीता-विषयक लोकापवाद की सूचना मिली

---

१. **तेषामविदितं किंचित्स्वेषु नास्ति परेषु वा। क्रियमाणं कृतं वापि चारेणापि चिकीर्षितम्॥** १।७।९

थी, वे नागरिक गुप्तचर थे। सुग्रीव ने भी हनुमान् को ऐसा ही गुप्तचर बनाकर राम-लक्ष्मण का मनोभाव जानने के लिए भेजा था। सैनिक गुप्तचरों का दायित्व अधिक कठिन था। उन्हें सदा राजभक्त, वीर और निर्भय बने रहना पड़ता था।[1] शत्रु-सेना का बलाबल जानने के लिए राजा और सेनापति उन्हीं पर निर्भर रहते थे। लंका के सुरक्षा-साधनों का पता लगाने के लिए राम ने विभीषण के अमात्यों से जासूसी कराई थी।

नगरों का स्वायत्त शासन नागरिकों की स्थानीय समितियों के सुपुर्द रहता था, जैसे गण और उनके सभापति गणवल्लभा, नैगम-जैसे व्यापार-संघ और उनके सभापति नैगमवल्लभ, तथा पौर और श्रेणीमुख्य-जैसी स्वायत्त समितियां। राजधानी की व्यवस्था 'पौर' समिति के अधीन थी। नगर-व्यवस्था को 'पौरकार्य' कहते थे। राजा या युवराज नगर-प्रबंध-समिति का अध्यक्ष होता था। क्षत्रिय सैनिक-अधिकारी, वैश्य व्यापारी, विभिन्न उद्योग-धंधों में लगे कारीगर, राजा की उदारता पर निर्वाह करनेवाले कतिपय ब्राह्मण, सेवा-कार्य में संलग्न शूद्र तथा दास लोग अयोध्या की जनसंख्या के मुख्य अंग थे। नगर-प्रबंध-समिति के कार्य ये थे—नगर-संनिवेश, राजमार्ग की देखरेख, मरम्मत और छिड़काव, नगर में जल की व्यवस्था (अयोध्या में शुद्ध, मधुर और स्वच्छ जल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था; जल-प्राप्ति के स्रोत सरित्, नदी, नद, प्रस्रवण, निर्झर, वापी, कूप, तटाक, पल्वल, सरस्, उद्भेद और नलिनी थे), नगर में प्रकाश के लिए दीपों और दीप-वृक्षों की व्यवस्था, यातायात का नियंत्रण, उत्सवों के अवसर पर नगर की सजावट, उद्यान और उनकी व्यवस्था आदि। ग्रामों और घोषों की स्वायत्त समितियों के अध्यक्ष 'ग्राम-महत्तर' और 'घोष-महत्तर' कहलाते थे। गांव के मुखिया के अर्थ में 'ग्रामणी' शब्द रामायण में नहीं आया है।

---

१. चरन्प्रत्यायिकान् शूरान् धीरान् विगतसाध्वसान्। ६।२६।१८

: १४ :

युद्ध

प्राचीन अथवा प्रागैतिहासिक भारत में आर्यों और अनार्यों के निरंतर संपर्क से अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विकास के लिए पर्याप्त अवकाश था। उत्तरी भारत का आर्य-साम्राज्य तथा लंका का राक्षस-साम्राज्य, दोनों अपने-अपने प्रभाव का विस्तार करने में लगे थे और इस प्रसंग में आर्यों और राक्षसों के बीच अनेक भयंकर युद्ध लड़े गए। जहां आर्यावर्त में राक्षसों ने लवणासुर, ताटका तथा खर-दूषण को तैनात कर अपने प्रभाव-क्षेत्र की वृद्धि की, वहां आर्यों ने भी वानर-जाति से मित्रता कर दक्षिण में अपने प्रभुत्व का विस्तार किया। इस प्रकार तत्कालीन राजनीति में संधि-विग्रह के अनेक अवसर उपस्थित थे, जिनके अध्ययन से सैन्य-संचालन, युद्ध-प्रणाली, कूटनीतिक संबंध, सैनिक शिष्टाचार आदि की अनेक सूचनाएं प्राप्त की जा सकती हैं।

सैन्य-विभाग का निर्देशन स्वयं राजा अपने अमात्यों की सहायता से करता था। दशरथ के अमात्य **दृढविक्रमाः, युक्ता बलस्य च परिग्रहे** और **वीराः** थे (१।७।७,११-२)। युद्ध या संधि की घोषणा करने का अंतिम अधिकार राजा को ही था।

लंका में सैन्य-विभाग एक मंत्रि-विशेष के अधीन रहा होगा। रावण की युद्ध-परिषद् में विभीषण ने ऐसे मंत्री की विशेषताएं बताते हुए कहा था कि उसे स्वपक्ष और शत्रु-पक्ष के बलाबल का पता होना चाहिए, अपने राज्य तथा शत्रु-राज्य की स्थिति, वृद्धि और क्षय की जानकारी होनी चाहिए तथा उसे विचारपूर्वक अपने राजा को हितकर परामर्श देना चाहिए।[1]

तत्कालीन नगर दुर्गों के रूप में बनाये जाते थे। ये दुर्ग सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रों, आक्रमण-प्रत्याक्रमण के साधनों तथा कूटागारों (तहखानों, तिलस्मों) से युक्त

---

१. परस्य वीर्यं स्वबलं च बुद्ध्या स्थानं क्षयं चैव तथैव वृद्धिम्। तथा स्वपक्षेऽप्यनुमृश्य बुद्ध्या वदेत्क्षमं स्वामिहितं स मन्त्री॥ ६।१४।२२

थे। दुर्ग चार प्रकार के होते थे—नादेय (समुद्र या नदी से घिरा हुआ, जैसे लंका), पार्वत (पहाड़ियों से घिरा हुआ, जैसे किष्किधा), वन्य (घने जंगलों में घिरा हुआ, जैसे लंका) और कृत्रिम (चहारदीवारी तथा खाई से घिरा हुआ, जैसे अयोध्या, लंका और सांकाश्या)।

सेना के चार भाग होते थे—पैदल (पदाति), घुड़सवार (सादी), रथी और गजारोह। इसीलिए वह 'चतुरंगबल' कहलाती थी। सैनिकों की श्रेणियां भी चार प्रकार की थीं (६।१७।२४)—मित्र-बल (मित्र राजाओं के सैनिक), आटवि-बल (जंगली जातियों के सैनिक), भृत्य-बल (वैतनिक सैनिक, जिन्हें आजकल 'स्टैंडिंग आर्मी' कहा जाता है) और द्विषद्बल (शत्रु को छोड़कर आये हुए सैनिक)। पैदल सेना दो भागों में बंटी थी—तलवार-भाले से लड़नेवाले सैनिक तथा धनुष-बाण से लड़नेवाले सैनिक। सैनिकों के हाथी-घोड़ों की देखभाल करने के लिए 'अश्वबंध' और 'कुंजरग्रह' नियत रहते थे (२।९१।५७)। लंका-युद्ध में त्रिशिरा राक्षस सांड़ पर बैठकर रण-भूमि की ओर गया था।[1] आवागमन का मार्ग, तंबू, पुल आदि बनानेवाले खनकों और परिसारकों का दल सेना के आगे जाया करता था। खाद्य सामग्री तथा अन्य आवश्यक सामान एक और दल के सुपुर्द रहते थे। सेना के पीछे व्यापारी, सैनिकों की स्त्रियां तथा दास-वर्ग रहते थे।

सेनाध्यक्ष को सेनानी, सेनापति या सेनानायक कहते थे। उसे राजा से आदेश लेने पड़ते थे और उसके अधीन कई बलाध्यक्ष और यूथपति होते थे। राजा और सेनापति युद्ध-परिषद् की राय से कार्य करते थे। भारतीय महासागर के तट पर राम और सुग्रीव ने परामर्श करने के लिए अपनी युद्ध-परिषद् की बैठक बुलाई थी। प्रमुख सैन्य-अधिकारियों का निर्वाचन उनकी योग्यता, राज्य-भक्ति, साहस एवं चातुर्य के आधार पर किया जाता था।[2] सेना का सबसे विश्वसनीय अंग वह था, जिसमें 'कुल-पुत्र' (प्रतिष्ठित कुलोत्पन्न व्यक्ति) होते थे (६।३।२७)। दशरथ, सुग्रीव और रावण की सेना में महत्त्वपूर्ण सैन्य-पदों पर ऐसे ही विश्वस्त व्यक्ति

---

१. वृषेन्द्रमास्थाय शशिप्रकाशमायाति योऽसौ त्रिशिरा यशस्वी। ६।५९।१९

२. कच्चिद्धृष्टश्च शूरश्च धृतिमान्मतिमाञ्छुचिः। कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः॥ बलवन्तश्च कच्चित्ते मुख्या युद्धविशारदाः। दृष्टापदाना विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः॥ २।१००।३०-१

नियुक्त थे, जिन्हें कुल-परंपरा से अच्छे संस्कार प्राप्त हुए थे तथा जो द्रव्य के लिए नहीं, वरन् राष्ट्र, धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए सबकुछ उत्सर्ग कर देने को कटिबद्ध रहते थे।

अयोध्या में सैनिकों का अपना अलग वर्ग था। वे 'भट' (१।५४।८) या 'योध' (२।८२।२५) कहलाते थे। यह संज्ञा उन सभी क्षत्रियों के लिए प्रयुक्त होती थी, जिनका पेशा केवल लड़ना होता था। लंका और किष्किंधा में सैनिकों का कोई अलग वर्ग नहीं था, वहां तो प्रत्येक पुरुष सैनिक था।

राम-राज्य के आदर्श सैनिक से वेदों और शस्त्रास्त्रों का ज्ञान अपेक्षित था। हाथी, रथ और घोड़े पर से युद्ध करने की उसे शिक्षा दी जाती थी। साम, दान, भेद और दंड से उसे अभ्यस्त रहना पड़ता था (६।७१।२८-९)। अयोध्या, किष्किंधा और लंका के सैनिक प्रायः विवाहित थे। विवाहित सैनिकों से सेना की स्थिरता बनी रहती थी, क्योंकि गृहस्थ सैनिक देश और राजा के लिए ही नहीं, अपने परिवार के लिए भी शत्रु का सामना करने के लिए उद्यत रहेंगे। सैनिकों को पुरस्कार और प्रीति-पूर्ण व्यवहार से संतुष्ट रखा जाता था।[1] राम ने भरत से पूछा था कि 'सैनिकों को देने के लिए नियत किया हुआ समुचित वेतन और भत्ता तुम समय पर दे देते हो? देने में विलंब तो नहीं करते? यदि समय बिताकर भत्ता और वेतन दिये जाते हैं तो सैनिक अपने स्वामी पर बहुत असंतुष्ट रहते हैं और इसके कारण बहुत अनर्थ हो जाता है।'[2] युद्ध की समाप्ति पर सैनिकों को उपहार तथा युद्ध की लूट का हिस्सा दिया जाता था। लंका-विजय के बाद राम ने विभीषण से कहा था कि इन वानरों ने प्राणों का मोह त्याग कर मुझे विजय दिलाई है, इसलिए मेरी ओर से कृतज्ञता-रूप में इन्हें रत्न तथा विविध प्रकार का धन प्रदान कर इनका संमान करो; जो राजा सेना को दान-मान से प्रसन्न नहीं रखता, उसे वह छोड़ देती है (६।१२२।४-९)।

---

१. बलं च सुभृतं वीर हृष्टतुष्टमनुद्धतम्। संभाषासंप्रदानेन रंजयस्व नरोत्तम ॥ ७।६४।५

२. कच्चिद्बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम्। संप्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विलम्बसे ॥ कालातिक्रमणे ह्येव भक्तवेतनयोर्भृताः। भर्तुरप्यतिकुप्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान्कृतः ॥ २।१००।३२-३

उस युग के सैनिकों को सुंदर और भड़कीले वस्त्राभूषण पहनने तथा अपने वाहनों को अलंकृत करने का बड़ा शौक था। सुरा-पान भी उनमें प्रचलित था। वे अपने साथ पालतू पशु-पक्षी ले जाया करते थे। लंका के सैनिकों के घर बड़े वैभवशाली, गवाक्षों से युक्त, मुक्ता-प्रवाल से सुशोभित, चंदन-अगुरु से सुवासित, सोने-चांदी के पात्रों, बहुमूल्य शयनासनों और मणि-रत्नों से सज्जित तथा कंबल, चंवर, कस्तूरी, व्याघ्र-चर्म, नाना प्रकार से वस्त्रों, अस्त्र-शस्त्रों तथा कवचों से संपन्न थे (६।७५।७-२७) अयोध्या के सैनिक विलासी जीवन के अभ्यस्त थे। उनके स्नान-प्रसाधन के लिए दासियां नियुक्त रहती थीं। अंगराग, चंदन, दंत-धावन, अंजन, दर्पण, कंघा आदि सामग्री का वे प्रतिदिन उपयोग करते थे। इसीलिए महर्षि भरद्वाज ने भरत के साथ उनका आतिथ्य करते समय उन्हें ये सब वस्तुएं भेंट की थीं (२।९१।५२-८१)।

अपने साथियों से भेंट होने पर सैनिक अपने वस्त्रों को हिलाकर उनका स्वागत करते थे। जब हनुमान् आकाश-मार्ग द्वारा लंका से लौट रहे थे, तब सारे वानर वृक्षों पर चढ़कर उनके स्वागत में उत्साह से अपने वस्त्रों को रह-रहकर हिलाने लगे थे।[1]

सैनिकों में 'सौभ्रातृमिलन' की प्रथा प्रचलित थी, जिसके अनुसार युद्ध समाप्त होने पर दोनों पक्षों के सैनिक पूर्व-वैर भुलाकर नई मित्रता स्थापित करते थे। एकता, सौहार्द और आत्मीयता की स्वस्थ भावनाओं के संचार के लिए यह प्रथा बड़ी उपादेय थी। राम-रावण-युद्ध के बाद दोनों पक्षों के सैनिकों ने एक-साथ मिलकर जयघोष किया और सारा वैर भुलाकर परस्पर आलिंगन किया था। वाली-वध के बाद भी राम और वाली के अनुयायियों में प्रेम और मित्रता का ऐसा ही संबंध स्थापित हुआ था।

सैनिक अनुशासन बड़ा कठोर था। अपने बिखरे हुए सैनिकों को शीघ्र इकट्ठा होने का आदेश भेजते समय सुग्रीव ने यह स्पष्ट कह दिया था कि जो सैनिक मेरी आज्ञा पाने के दस दिन के अंदर उपस्थित नहीं होगा, उसका वध कर दिया जायगा।[2]

---

१. ते प्रीताः पादपाग्रेषु गृह्य शाखामवस्थिताः। वासांसि च प्रकाशानि समाविध्यन्त वानराः ॥ ५।५७।२६

२. अहोभिर्दशभिर्ये च नागच्छन्ति ममाज्ञया। हन्तव्यास्ते दुरात्मानो राजशासनदूषकाः ॥ ४।३७।१२

लंका की चढ़ाई में भी सुग्रीव ने यह चेतावनी दे दी थी कि जो सैनिक पीठ दिखायेगा अथवा आदेश के अनुसार नहीं लड़ेगा, उसे मार डाला जायगा।[1]

राम स्वयं कठोर अनुशासक थे। लंकाभियान करते समय उन्होंने वानरों को मार्ग में पड़नेवाले नगरों और ग्रामों को बचाकर चलने का आदेश दिया था; क्योंकि उन्हें भय था कि सैनिकगण नागरिकों को त्रस्त करेंगे और उनकी संपत्ति को हानि पहुंचा देंगे। राम को 'भीमकोप' कहा गया है।[2] सभी वानर उनसे भय-भीत थे।

रामायणकालीन सैनिक-शिष्टाचार एवं नैतिकता भी उल्लेख-योग्य है। राजाओं और योद्धागण से सामरिक परंपरा का पालन अपेक्षित था। युद्ध से पराङ्मुख होकर भाग जाना अपनी कीर्ति में बट्टा लगाना था[3] और स्वामी के हितार्थ युद्ध-भूमि में प्राण-त्याग करना पुण्योत्पादक था।[4] स्त्रियों, युद्ध में सक्रिय भाग न लेनेवालों (भय के मारे छिप जानेवालों), संधि की याचना करनेवालों तथा शरणागतों को मारना पाप था, किंतु युद्ध का आमंत्रण स्वीकार करना प्रत्येक स्वाभिमानी के लिए अनिवार्य था। किसी व्यक्ति पर अकारण ही वार करना, किसी अन्य से लड़ते हुए सैनिक पर हमला करना, किसी एक व्यक्ति के अपराध के कारण असंख्य लोगों को मौत के घाट उतार देना तथा शरणागत को शरण न देना निंदनीय था। नील के साथ लड़ते हुए रावण पर वार करना हनुमान् ने अनुचित समझा था (**अन्येन युद्धमानस्य न युक्तमभिधावनम्**, ६।५९।७२)। सोते हुए, शस्त्रास्त्रों से हीन, थके हुए, नशे में चूर या स्त्रियों से घिरे हुए शत्रु पर वार

---

१. **यश्च वो वितथं कुर्यात्तत्र तत्राप्युपस्थितः। स हन्तव्योऽभिसंप्लुत्य राजशासन-दूषकः॥ ६।७५।४३**

२. **रामस्य शासनं ज्ञात्वा भीमकोपस्य भीतवत्। वर्जयन्नगराभ्याशांस्तथा जन-पदानपि॥ ६।४।३८-९**

३. **त्यक्तयुद्धसमुत्साहाः शूरत्वं क्व नु वो गतम्। पृष्ठतो न व्रजध्वं मामग्रतो यान्तमाहवे। शूरैरभिजनोपेतैरयुक्तं हि निवर्तितुम्॥ ६।८२।३-४**

४. **कृती शूरो रणे जेता स्वाम्यर्थे त्यक्तजीवितः। इन्द्रस्यातिथिरेवैषः...॥ ७।२३ (३)। १३-४**

करना अनुचित था।[1] जब रावण थक गया, तब राम ने उसे घर लौट जाने के लिए और विश्राम के पश्चात् नये रथ में नया धनुष लेकर आने के लिए कहा था (६।५९।१४०-१)। फिर भी शत्रु की कमजोरियों से लाभ उठाना अज्ञात नहीं था। लक्ष्मण ने यज्ञ-कर्म में व्यस्त इंद्रजित् पर वार किया था और राम ने छिपकर वाली पर बाण चलाया था। उत्तरकांड में शत्रुघ्न ने लवणासुर पर अकस्मात् आक्रमण किया था, जब उसके पास उसका विख्यात शूल नहीं था। हनुमान ने लंका में शत्रु-दृष्टि से बचने के लिए छद्म वेश धारण किया था।

समुचित कारण के बिना लड़ाई ठान लेना राजाओं के लिए अनुचित था। शत्रु को यह पूर्व-सूचना देनी चाहिए कि निर्धारित मांगें पूरी न होने पर युद्ध घोषित कर दिया जायगा। वाली ने राम से कहा था कि अकारण ही किसीपर आक्रमण कर देना अशोभनीय है तथा उदासीन (तटस्थ) के प्रति युद्ध छेड़ना अनुचित है।[2] रावण ने मारीच से शिकायत की थी कि राम ने जनस्थान-स्थित मेरी सेना का, सूचना दिये बिना ही, नाश कर डाला[3] और, उत्तेजित न किये जाने पर भी, मेरी भगिनी को विरूप कर दिया।[4]

रामायण में वर्णित युद्धों की समीक्षा से ज्ञात होता है कि युद्ध के प्रायः ये आठ कारण होते थे—(१) अपहृत नारियों को मुक्त करने तथा अत्याचारी का नाश करने के लिए, उदाहरणार्थ राम-रावण युद्ध; (२) प्रतिशोध के लिए; परशुराम ने समस्त क्षत्रिय-जाति का नाश करने की इसलिए ठानी थी कि उनके पिता की एक क्षत्रिय राजा ने हत्या कर दी थी; (३) मित्रों की सहायता के लिए; राम-रावण युद्ध में सुग्रीव आदि वानरों ने राम के मित्र-रूप में भाग लिया था;

---

१. युद्धस्य कालो विज्ञातः साधु भो साधु रावण। यः क्षीबं स्त्रीगतं चैव योद्धुमुत्सहसे नृपम्॥ ७।३२।२८-९

२. पराङ्मुखवधं कृत्वा कोऽत्र प्राप्तस्त्वया गुणः।...उदासीनेषु योऽस्मासु विक्रमोऽयं प्रकाशितः॥ ४।१७।१६,४६

३. तेन संजातरोषेण रामेण रणमूर्धनि। अनुक्त्वा परुषं किंचिच्छरैर्व्यापारितं धनुः॥ ३।३६।७-८

४. येन वैरं विनाऽरण्ये सत्त्वमास्थाय केवलम्। कर्णनासापहारेण भगिनी मे विरूपिता॥ ३।३६।१२-३

दशरथ ने इंद्र की सहायता के लिए शंबरासुर से मोर्चा लिया था; (४) नारी के लिए; वाली और मायावी के बीच एक स्त्री की प्राप्ति के लिए (स्त्रीकृतं) युद्ध हुआ था तथा सीता को पाने में असफल राजाओं ने जनक पर हमला बोल दिया था; (५) भूमि, सोने और चांदी के लिए, जैसाकि वाली ने मरते समय राम को बताया था (भूमिर्हिरण्यं रूपं च निग्रहे कारणानि च, ४।१७।३१)। उत्तरकांड में युद्ध के तीन और कारण निर्दिष्ट हैं—(६) सार्वभौम सत्ता स्थापित करने के लिए; रावण ने दिग्विजय की इच्छा से तत्कालीन राजाओं को चुनौती दी थी; (७) राज्य-विस्तार के लिए; राम ने गांधार, कारुपथ और चंद्रकांत के राजाओं को परास्त कर उनके प्रदेश अपने राज्य में मिला लिये थे; (८) कुशासक पड़ोसी राजाओं को दंड देने के लिए; राम के आदेशानुसार शत्रुघ्न ने लवणासुर के राज्य पर आक्रमण कर उसे कोसल-साम्राज्य में मिला लिया था।

प्राचीन भारत में युद्ध का आश्रय अंतिम उपाय के रूप में ही लिया जाता था। उससे पहले साम, दान और भेद की युक्तियों से इष्ट-सिद्धि की चेष्टा की जाती थी। इनमें असफल होने पर ही दंड-प्रयोग किया जाता था।[1] युद्ध में प्राप्त होनेवाली विजय अस्थिर (युद्धसिद्धिर्हि चंचला, ५।४६।१७) होती है, यह रावण भी भली-भांति जानता था। युद्ध टालने के लिए राजागण दूतों का उपयोग करते थे। अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की स्थापना में, संधि और विग्रह के निर्णय में, ये दूत महत्त्वपूर्ण योग देते थे।

राजा ऐसे ही दूत चुनता था, जो व्यवहार-कुशल, राजभक्त और चतुर होते थे। उन्हें राजा के आदेशों का अक्षरशः पालन करना पड़ता था। जो दूत अपने स्वामी की आज्ञा की अवहेलना कर स्वयं अपना मत प्रकट करता है, उसके लिए वध का विधान किया गया है।[2] पकड़े जाने पर गुप्तचर जहां वध का पात्र होता था, वहां दूत अवध्य माना जाता था, क्योंकि वह अपने स्वामी का संदेशवाहक-मात्र होता है, पराधीन होता है (ब्रुवन्परार्थं परवान्न दूतो वधमर्हति, ५।५२।१९)।

---

१. अप्युपायैस्त्रिभिस्तात योऽर्थः प्राप्तुं न शक्यते। तस्य विक्रमकालांस्तान्युक्तानाहुर्मनीषिणः ॥ ६।९।८

२. यस्तु हित्वा मतं भर्तुः स्वमतं संप्रधारयेत्। अनुक्तवादी दूतः सन्स दूतो वधमर्हति ॥ ६।२०।१८

फिर भी सिर मूंडकर, अंग-भंग कर, कोड़े लगाकर अथवा दाग कर उसे दंडित किया जा सकता था।[1] राम की ओर से अंगद ने लंका में दूत-कर्म किया था।

दूत की स्थिति अवध्य होने के कारण, कई बार, गुप्तचर भी पकड़े जाने पर अपने को दूत घोषित कर देते थे। हनुमान् ने, गुप्तचर होने पर भी, रावण के समक्ष अपने को निर्भीकता से राम-दूत बतलाया था (दूतोऽयमिति विज्ञाय राघवस्यामितौजसः, ५।५०।१६)। रावण के गुप्तचरों—शुक और सारण—ने भी अपने को रावण का दूत बतलाकर वानरों के बंधन से मुक्ति पाई थी, और लौटती बार वे रावण के लिए राम का संदेश ले गए थे (६।२०।१६-२०)।

वर्षा-काल में सामरिक तैयारियां स्थगित कर दी जाती थीं (स्थिता हि यात्रा वसुधाधिपानाम्, ४।२८।१५)। ग्रीष्म-काल में सेना को नदी पार कराया जाता था।[2] वर्षांत में, शरत्काल के प्रारंभ में, सामरिक अभियान किये जाते थे।[3] राम ने प्रस्रवण पर्वत पर वर्षा के चार मास शरत्काल की प्रतीक्षा में बिताये थे। वर्षा-काल समाप्त होते ही, 'श्वेत आकाश, निर्मल चंद्र-मंडल तथा चांदनी से लिपी शरत्काल की रात्रि को देखकर',[4] उन्होंने सुग्रीव को सीतान्वेषण कराने को प्रेरित किया था। शत्रुघ्न ने मधुपुरी पर आकस्मिक आक्रमण करने के लिए वर्षा-ऋतु में भी अभियान किया था।[5]

शांति-काल में सेना के एकत्र किये जाने का वर्णन कवि ने भरत की चित्रकूट-यात्रा के सिलसिले में किया है। चित्रकूट जाने का निश्चय करने के बाद भरत ने

---

१. वैरूप्यमंगेषु कशाभिघातो मौण्ड्यं तथा लक्षणसंनिपातः। एतान्हि दूते प्रवदन्ति दण्डान् वधस्तु दूतस्य न नः श्रुतोऽस्ति ॥ ५।५२।१५

२. यथा ग्रीष्मावशेषेण तरेयुर्जाह्नवीजलम्। ७।६४।११

३. कार्तिके समनुप्राप्ते त्वं रावणवधे यत। ४।२६।१७; अन्योन्यवैरेण समायुतानामुद्योगकालोऽद्य नराधिपानाम् ॥ ४।३०।३७; ४।३०।६०-भी देखिये।

४. पाण्डुरं गगनं दृष्ट्वा विमलं चन्द्रमण्डलम्। शारदीं रजनीं चैव दृष्ट्वा ज्योत्स्नानुलेपनाम् ॥ ४।३०।८

५. स ग्रीष्मे अपयाते तु वर्षारात्र उपागते। हन्यास्त्वं लवणं सौम्य स हि कालोऽस्य दुर्मतेः ॥ ७।६४।१०

अमात्य सुमंत्र को आज्ञा दी कि सेना को शीघ्र एकत्र कर यात्रा प्रारंभ की जाय। तदनुसार सुमंत्र ने सैन्य-अधिकारियों द्वारा यथोचित व्यवस्था करवा दी। सेना के इकट्ठा होते ही उसे सुसज्जित-सुसंगठित किया गया। यात्रा का उद्देश्य सैन्य अधिकारियों तथा प्रमुख नागरिकों को बता दिया गया था (२।८२।२२-३२)।

युद्ध-काल में सेना के एकत्रीकरण का वर्णन राक्षसों और वानरों की सामरिक तैयारियों के प्रसंग में मिलता है। राम की चढ़ाई के समय रावण के सैनिक लंका नगरी में ही रह रहे थे। लंका में रावण ने असंख्य राक्षस सैनिकों का संग्रह कर रखा था। रावण ने अपने बलाध्यक्षों को आदेश दिया कि शीघ्र ही धौंसा (भेरी) बजाकर सैनिकों को इकट्ठा किया जाय, पर उन्हें इसका कारण न बताया जाय।[1] परिस्थितिवश इस सैनिक हलचल का कारण प्रकट न करना ही आवश्यक समझा गया।

राक्षस-सेना के विपरीत वानर-सेना बहुत बिखरी हुई थी और उसका संग्रह करना तत्काल संभव न था। सुग्रीव ने अपने सेनापति नील को आदेश दिया कि मेरी सेना पंद्रह दिन के भीतर किष्किधा में इकट्ठी हो जाय तथा सभी यूथपति अपनी-अपनी सेना के साथ आ जायं (४।२९।२२)। नील ने तुरंत ही इस आज्ञा का पालन किया और दूतों को प्रेषित कर दिया। कुछ समय बाद सुग्रीव ने, लक्ष्मण के कोप से भयभीत हो, पहले भेजे गए वानरों से जल्दी कराने के लिए (त्वरणार्थम्) तथा पराक्रमी वानरों को साम-दान आदि उपायों द्वारा बुला लाने के लिए पुनः कई वेगवान् वानर भेजे (४।३७)। सैनिकों के आ जाने पर उन्हें अलग-अलग दलों में संगठित किया गया, जिनका प्रत्येक का अपना पृथक बालध्यक्ष था (**निवेशयित्वा विधिवद्बलानि बलं बलज्ञः प्रतिपत्तुमीष्टे**, ४।३९।४४)।

ज्ञात प्रदेशों में कूच करते समय सेना के पड़ाव की व्यवस्था पूर्व-नियोजित होती थी, जैसाकि भरत-सेना की चित्रकूट-यात्रा से स्पष्ट है। इन पड़ावों में अनेक शिविर लगाये जाते थे तथा आवागमन के मार्गों और क्रय-विक्रय स्थलों की योजना रहती थी। राजशिविर की प्रतिष्ठा शुभ मुहूर्त में की जाती थी। उसका निर्माण ईंट-चूने के पक्के फर्श पर किया जाता तथा सुभीते से रहने के लिए उसमें पर्याप्त

---

१. **शीघ्रं भेरीनिनादेन स्फुटं कोणाहतेन मे। समानयध्वं सैन्यानि वक्तव्यं न च कारणम्॥ ६।३२।४३**

स्थान रखा जाता था (२।८०।१३-७)। आगे कूच करते समय इन शिविरों को जलाकर नष्ट कर दिया जाता था (**आवासमादीपयताम्**, २।८९।१५), जिससे शत्रु उनका उपयोग न कर सकें।

तत्कालीन सामरिक अभियानों का विशद परिचय राम के लंका-अभियान के वर्णन से प्राप्त होता है। आक्रमणकारी सेनापति के लिए शत्रु-प्रदेश के दुर्गों, प्रवेश-मार्गों, नगर-द्वारों की स्थिति, शत्रु-सेना की संख्या और गतिविधि, शत्रु के प्रतिरक्षात्मक साधन आदि की पूरी जानकारी प्राप्त कर लेना आवश्यक था। राम ने अपनी आक्रमण-योजना बनाने से पहले लंका के विषय में इन सब बातों की सूचना हनुमान् से प्राप्त कर ली थी (६।३)। कूच करने से पूर्व राम ने सेना के निर्बल और अनावश्यक अंगों को किष्किंधा में ही रह जाने का आदेश दे दिया था,[१] जिससे वे स्वदेश पर किसी आकस्मिक आक्रमण का सामना कर सकें।

सेना का अग्र-भाग 'मूर्धन्' कहलाता था, जबकि दायें-बायें के भाग 'पार्श्व' और मध्य भाग 'कुक्षि' या 'उरस्' कहलाते थे। किष्किंधा से लंका का मार्ग बीहड़ जंगलों और पहाड़ियों में से होकर जाता था, अतः सुरक्षा की दृष्टि से राम ने प्रधान सेनापति नील को आज्ञा दी कि तुम चुने हुए सैनिकों को लेकर सेना के शीर्ष-भाग में प्रयाण करो और देखते रहो कि मार्ग निरापद है अथवा नहीं। इस अग्रगामी टुकड़ी का यह भी कर्तव्य था कि वह पीछे आनेवाली सेना के लिए ऐसे ही मार्गों को चुने जो अन्न-जल से परिपूर्ण हों। राम जानते थे कि शत्रु लोग मार्ग में छिपकर बैठे रहते हैं तथा अन्न-जल में विष भी मिला देते हैं। इन संभावित संकटों से सावधान रहने के लिए उन्होंने नील को सतर्क कर दिया था तथा जंगलों और घाटियों में छिपे हुए शत्रु-सैनिकों का पता लगाते रहने का आदेश दे दिया था (६।४।९-१२)।

वानरों-सेना के दाहिने पार्श्व का नेतृत्व गज, गवय और गवाक्ष-जैसे निर्भीक वानर कर रहे थे। बायें पार्श्व की रक्षा गंधमादन नामक बलवान् वानर कर रहा था। राम, लक्ष्मण और सुग्रीव सेना के मध्य भाग में रहकर सैनिकों का उत्साह-वर्धन कर रहे थे। इस बात का पूरा ध्यान रखा गया था कि वानरराज सुग्रीव और सर्वोच्च अधिनायक राम खतरों से भली भांति सुरक्षित रहें, क्योंकि अभियान की सफलता उन्हींकी कुशल-क्षेम पर निर्भर थी। सेना का पृष्ठ-भाग बुद्धिमान् जांब-

१. यत्तु फल्गु बलं किंचित्तदत्रैवोपपद्यताम्। ६।४।१३

वान् के अधीन था। इन सभी अधिकारियों का यह कर्तव्य था कि वे सैनिकों को निरंतर सचेष्ट रखें और उन्हें कूच करते रहने का प्रोत्साहन देते रहें (६।४।१५-२०)।

किष्किंधा में वानर-सैनिकों को जिस शीघ्रता से संगठित किया गया था, उसी तत्परता से लंका की ओर अभियान भी किया गया। रात और दिन जंगलों में से कूच करती हुई राम की सेना दक्षिणी समुद्री तट पर विद्युत्-वेग से जा पहुंची। महेंद्र पर्वत की चढ़ाई पार करके वह उसके दक्षिणी ढाल से नीचे की ओर उतरी और शीघ्रता से उसने हिंद महासागर के तट पर स्थित जंगल में पड़ाव डाला। समूचे मार्ग में कोई दूसरा पड़ाव डालने की सूचना नहीं मिलती।

समुद्र-तट पर डालने के लिए सुग्रीव ने सेना को तीन भागों में बांट दिया। पड़ाव में गश्ती दलों की भी समुचित व्यवस्था की गई थी। मैंद और द्विविद वानरों को छावनी पर बराबर निगरानी करते रहने और योद्धाओं को असावधान न होने देने का कार्य सौंपा गया।[1] क्योंकि यह एक अज्ञात देश था, अतः राम ने सारी सेना को संगठित रूप में एक ही स्थान पर रखा और छावनी के बाहर किसी भी सैनिक के जाने पर रोक लगा दी थी। उन्होंने यह कठोर आज्ञा जारी कर दी थी कि प्रत्येक नायक अपनी-अपनी टुकड़ी पर नियुक्त रहे और किसी भी दशा में अपना स्थान न छोड़े, क्योंकि संभव था कि शत्रु कहीं छिपा हुआ हो (**स्वां स्वां सेनां समुत्सृज्य मा च कश्चित्कुतो व्रजेत्**, ६।४।१०३)।

नल-सेतु का निर्माण होते ही राम ने द्रुत वेग से सेना को समुद्र पार कराया और लंका-तट पर फल-मूलों से युक्त एक सघन स्थल में मोर्चाबंदी की।[2] प्रधान सेनापति की आज्ञा से वानर सैनिक रात के समय लंका में लुक-छिपकर घूम-फिर सकते थे।[3]

---

१. **विचेरतुश्च तां सेनां रक्षार्थं स ेतो दिशम्। ६।५।२; गच्छन्तु वानराः शूरा ज्ञेयं छन्नं भयं च नः। ६।४।१०२**

२. **वानराणां हि सा तीर्णा वाहिनी नलसेतुना। तीरे निविविशे राज्ञा बहुमूल-फलोदके ॥ ६।२२।८३**

३. **अन्ये तु हरिवीराणां यूथान्निष्क्रम्य यूथपाः। सुग्रीवेणाभ्यनुज्ञाता लंका जग्मुः पताकिनीम् ॥ ६।३६।१३**

आक्रमण आरंभ करने से पहले राम ने परामर्श करने के लिए अपनी सेना के प्रधान अधिकारियों की एक युद्ध-समिति बुलाई और उसके निश्चयानुसार अपनी सेना को सुवेल पर्वत पर स्थापित किया। पर्वत की सबसे ऊंची चोटी पर चढ़कर उन्होंने अपने बलाध्यक्षों के साथ शत्रु के समस्त प्रदेश का विहगावलोकन किया और आक्रमण की योजना बनाई। इसके बाद तुरंत ही उन्होंने अपनी सेना के साथ लंका-दुर्ग पर कूच किया और उसे घेर लिया।

पुल और रास्तों की रक्षा का राम ने विशेष रूप से ध्यान रखा था। जब वानर-सेना सेतु पार कर रही थी, तब विभीषण और उनके चारों साथी लंका-तट पर पहरा देते रहे, जिससे समुद्र पार करती हुई सेना पर शत्रु हमला न कर सके।[१] युद्ध के दौरान में भी राम पुल की रक्षा के प्रति असावधान नहीं थे। जब एक बार कुम्भकर्ण ने वानर-सेना में भारी आतंक मचा दिया, तब राम ने नील को पीछे के रास्तों और पुलों की रक्षा का विशेष ध्यान रखने का आदेश दिया था।[२]

लंका-दुर्ग का घेरा डालने के बाद राम ने राजधर्म के अनुसार अंगद को दूत बनाकर रावण के पास यह संदेश भेजा कि बिना शर्त आत्मसमर्पण करके सीता को लौटा दो अथवा लड़ाई के मैदान में उतर आओ। रावण समझौते के लिए तैयार नहीं हुआ। इसपर वानरों ने दुर्ग की खाई को चट्टानों पेड़ों, कीचड़ आदि से पाट दिया और चहारदीवारी को तोड़-फांदकर नारे लगाते हुए अंदर के दुर्ग को घेर लिया। वानर-सेना को चार भागों में बांट दिया गया था और प्रत्येक भाग एक-एक सुयोग्य बलाध्यक्ष के अधीन था। लंका के उत्तरी प्रवेश-द्वार की रक्षा रावण कर रहा था, अतः इस स्थान पर स्वयं राम उपस्थित थे।

सेना की विभिन्न प्रकार के व्यूहों में रचना की जाती थी, यथा श्येन, सूची, वज्र, शकट, मकर, दंड, पद्म आदि। राम को गरुड़-व्यूह विशेष प्रिय था। बिखरे हुए दुर्ग में से जो-जो राक्षस-सैनिक द्वार से बाहर निकलने की चेष्टा करते, उनसे वानर योद्धा जूझ जाते। इस प्रकार जब शत्रु के अधिकांश सेनाध्यक्ष और सैनिक

---

१. ततः पारे समुद्रस्य गदापाणिर्विभीषणः। परेषामभियार्थं (घातार्थं) मतिष्ठत्सचिवैः सह ॥ ६।२२।७६-७

२. गच्छ सैन्यानि सर्वाणि व्यूह्य तिष्ठस्व पावके। द्वाराण्यादाय लंकायाश्चर्याश्चास्याथ संक्रमान् ॥ ६।६१।३४

मारे गए, तब सुग्रीव ने राम की अनुमति से लंका में आग लगा दी। परिणाम यह हुआ कि दुर्ग में छिपी हुई फौजों को बाहर निकल को बाध्य होना पड़ा। रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद तथा अन्य सभी प्रमुख राक्षस-वीर राम और उनके साथियों द्वारा मारे गए।

वानरी सेना में केवल पदाति सैनिक थे। नख और दांत ही उनके आयुध थे (नखदंष्ट्रायुधाः, ६।१४।३)। वाली और सुग्रीव ने लड़ते समय नखों, तमाचों, घूंसों, लातों और हाथों की मार का खुलकर प्रयोग किया था। वानरों के वज्रतुल्य घूंसों और तमाचों की चोट खाकर राक्षस लोग खून उगलने लगते थे, उनके मुंह और नेत्र फट जाते थे। शत्रु के वाहनों का भी वानर थप्पड़ों और घूंसों से काम तमाम कर देते थे। किन्तु इन आयुधों का उपयोग शत्रु को पकड़ पाने पर ही किया जा सकता था अतः दूरस्थ शत्रु पर वानर वृक्ष और चट्टानें फेंककर धावा किया करते थे। हनुमान् ने यह गर्वोक्ति की थी कि हजारों की संख्या में वृक्ष और शिलाएं फेंककर मैं एक नहीं सहस्र रावणों का मुकाबला कर सकता हूं। कभी-कभी वानर किसी प्रतिपक्षी का शस्त्र छीनकर उसका उसीके विरुद्ध उपयोग करते थे। अनेक राक्षस योद्धाओं की वानरों के हाथों अपने ही शस्त्रों से मृत्यु हुई थी।

मल्ल-युद्ध या कुश्तीबाजी उस समय की सर्वाधिक प्रचलित युद्ध-प्रणाली थी। उसे बाहु-युद्ध, द्वंद्व-युद्ध, मुष्टि-युद्ध (घूंसेबाजी), गदा-युद्ध आदि के नाम भी दिये गए हैं। इनमें थोड़ा-बहुत भेद अवश्य था, पर सबमें पैंतरेबाजी की कुशलता पर ही हार या जीत निर्भर करती थी। वानर और राक्षस ही मल्ल-युद्ध का आश्रय लिया करते थे, शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में निपुण आर्य-योद्धा नहीं। मल्ल या कुश्तीबाज भिड़ जाने से पहले कसकर लंगोटी पहन लेते, खूब गरजते और एक-दूसरे को ललकारते थे। लड़ते समय बीच-बीच में वे एक-दूसरे को डांटते भी जाते थे। रामायण में सबसे रोमांचकारी मल्ल-युद्ध रावण और सुग्रीव के बीच हुआ है (६।४०)। उस समय वानर-सेना सुवेल पर्वत पर डेरा डाले पड़ी थी और रावण नगर के गोपुर की छत पर बैठा हुआ था। उसे देखते ही सुग्रीव क्रोध से उबलकर सुवेल के शिखर पर से ही गोपुर की छत पर कूद पड़े और उन्होंने रावण के मुकुट को खींचकर जमीन

---

१. न रावणसहस्रं मे युद्धे प्रतिबलं भवेत्। शिलाभिश्च प्रहरतः पादपैश्च सहस्रशः ॥ ५।४२।३५

पर गिरा दिया। इसपर रावण ने सुग्रीव को अपनी भुजाओं में उठाकर जमीन पर दे मारा। सुग्रीव ने भी गेंद की तरह उछलकर रावण को पटक लगाई। अब वे दोनों आपस में गुंथ गए। दोनों के ही शरीर पसीने से तर और खून से लथपथ हो गए। राक्षसराज और वानरराज दोनों में घूंसे, थप्पड़, कोहनी और पंजों की मार से घोर युद्ध होने लगा। गोपुर के चबूतरे पर एक-दूसरे को उछालते हुए वे आपस में गुंथकर इतने झुक गए कि उस चबूतरे से ही जा लगे। लड़ते-लड़ते वे किले की खाई में गिर गए; वहां कुछ देर पृथ्वी-तल का स्पर्श किये पड़े रहे, फिर सांस लेते हुए खड़े हो गए और एक-दूसरे को बाहु-पाश में जकड़कर आपस में बंध गये। दोनों कसरती जवान थे तथा युद्ध की शिक्षा और बल से संपन्न थे। उन्होंने निम्नलिखित दांव-पेंचों का प्रयोग किया था—

मार्जार अवस्थान—अपने शिकार की ओर ध्यान लगाकर निश्चल भाव से खड़ी दो बिल्लियों की-सी मुद्रा में मल्लों का वार करने के लिए खड़ा रहना।

मंडल—मंडल चार प्रकार के होते हैं—'चारि', 'करण', 'खंड' और 'महा-मंडल'। एक पैर आगे करके बढ़ना 'चारि' कहलाता है। दोनों पैर एक साथ बढ़ाकर आगे आने को 'करण' कहते हैं। करण की शैली में कई बार आगे बढ़ने को 'खंड' कहते हैं, जबकि तीन-चार प्रकार से खंडों का प्रयोग करना 'महामंडल' कहलाता है। उक्त सभी मंडल दायें या दायें या दायें-बायें प्रयुक्त होने पर क्रमशः 'सव्य', 'अपसव्य' और 'सव्यापसव्य' कहलाते थे।

स्थान—कदमों का विभिन्न प्रकार से आगे-पीछे, टेढ़े-मेढ़े संचालन करना 'स्थान' कहलाता है। स्थान अर्थात् पाद-विन्यास छः प्रकार के होते हैं—'वैष्णव', 'समपाद', 'वैशाख', 'मंडल', 'प्रत्यालीढ' और 'अथालीढ'। इनमें बाघ, सिंह, कुत्ते, बिल्ली आदि की झपटने की मुद्रा का अनुकरण किया जाता है।

गोमूत्रक—बहते हुए गोमूत्र के समान टेढ़ी-मेढ़ी गति, जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है।

गत-प्रत्यागत—आगे बढ़ना और पीछे हटना।

तिरश्चीनगत—उल्लू, बाज आदि शिकारी पक्षियों की तरह तिरछी चाल से झपटना।

वक्रगत—दायें-बायें होकर झपटना।

प्रहार-वर्जन—शीघ्रता से हटकर शत्रु के वार को व्यर्थ कर देना।

वर्जन—शत्रु के वार को अपने वार से रोकना।

परिधावन—हमला करने की नीयत से प्रतिपक्षी के चारों ओर दौड़ना।

अभिद्रवण—प्रतिपक्षी का तेजी के साथ सामना करना।

आप्लाव—मेंढक की तरह रुक-रुककर प्रतिपक्षी की ओर बढ़ना।

सविग्रह अवस्थान—आक्रमणात्मक मुद्रा में निर्भय खड़े रहना।

परावृत्त—प्रतिपक्षी के वार से बचने के लिए सामने न आना।

अपावृत्त—बग़ल से होकर निकल जाना अथवा खड़े-खड़े बिना मुड़े पीछे की ओर हटना।

अपद्रुत—प्रतिपक्षी की जांघ आदि पकड़ने के इरादे से शरीर को सिकोड़कर झुकते हुए आगे बढ़ना।

अवप्लुत—प्रतिपक्षी को लात मारने के लिए नीचा मुंह करके कूदना।

उपन्यस्त—विरोधी की भुजाएं पकड़ने के लिए छाती तानकर बांहें फैलाना।

अपन्यस्त—विरोधी की पकड़ से बचने के लिए बांहों को इधर-उधर फेंकना।

इनमें बहुत-से दांव-पेंच आज भी किसी-न-किसी रूप में भारतीय पहलवानों द्वारा अपनाये जाते हैं।

युद्ध में मर जानेवाले राम-पक्षीय योद्धा रण-भूमि में ही पड़े रहते थे, पर राक्षस-मृतकों के शव तुरंत ही समुद्र में फेंक दिये जाते थे,[1] क्योंकि रावण को भय था कि उनकी अधिक संख्या देखकर बचे-खुचे राक्षस कहीं आतंकित न हो जायं।

रात के समय युद्ध प्रायः बंद कर दिया जाता था। खर सूर्यास्त से पहले ही राम के साथ युद्ध समाप्त कर देना चाहता था, क्योंकि अंधेरे में सैन्य-संचालन करना और निशाने पर बाण मारना कठिन हो जाता था; किंतु लंका-युद्ध में इंद्रजित् और रावण ने रात में भी राम और उनके वानर सैनिकों से मुठभेड़ की थी।

आर्य और राक्षस सैनिक सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रों का प्रयोग किया करते थे। तलवारें तीन तरह की होती थीं—'असि', 'खड्ग' और 'ऋष्टि'। असि लंबी, खड्ग छोटी और ऋष्टि दुधारी तलवार थी। राम की असि में सोने की मूठ लगी

१. ये हन्यन्ते रणे तत्र राक्षसाः कपिकुंजरैः। हता हतास्तु क्षिप्यन्ते सर्व एव तु सागरे॥ ६।७४।७२

थी । 'कोदंड' धनुष को कहते थे । बाण 'तूणी' या कलाप में रखे जाते थे । छिपी कटारी 'कूट' कहलाती थी । 'वज्र' लोहे का दंड, 'मुद्‌गर' लोहे का हथौड़ा, 'परश्वध' युद्ध का कुठार (परशु) तथा 'चक्र' चक्राकार आयुध था, जिसके बीच में काटनेवाली अराएं और परिधि पर चारों ओर नोकें निकली हुई थीं । 'शूल' बर्छा और 'त्रिशूल' तीन फलवाला बर्छा था। ये दोनों भाले के समान थे। शक्ति भी एक प्रकार का भाला थी। वाल्मीकि के अनुसार 'उसमें आठ घंटियां लगी थीं, उसमें से एक डरावनी आवाज निकलती थी, मय ने उसे छल और कलापूर्वक निर्मित किया था; वह अमोघ, शत्रु के जीवन-शोणित का पान करनेवाली और वायु में विद्युत्-गति से चलनेवाली थी, तथा उसके पीछे एक रेखा अंकित होती जाती थी' (६।१००।२६-३५) । 'अशनि' गदा को कहते थे । गदा में कभी-कभी सुवर्ण-पट्ट लगा रहता तथा लोहे की कीलें जड़ी रहती थीं । 'परिघि' लोहे के कांटों से जड़ा डंडा था। 'शतघ्नी', जैसाकि इसके नाम से प्रकट है, एक बार में सौ व्यक्तियों का संहार करती थी, पर इसके आकार-प्रकार के विषय में मत-भेद है । उसके ये अनेक अर्थ लगाये जाते हैं—(१) चारों ओर से असंख्य तेज लोहे के छुरों से बिंधा हुआ दंड, (२) दुर्ग की दीवार पर रखा हुआ एक विशाल स्तंभ, जिसके धरातल पर असंख्य तीक्ष्ण नोकें हों; (३) सैकड़ों पत्थर एक बार में फेंकने का यंत्र, जिसे आधुनिक तोप का पूर्व-रूप कहा जा सकता है; (४) तोपनुमा यंत्र से फेंका जानेवाला एक बड़ा पत्थर, जिसमें लोहे की अराएं लगी हों । अन्य शस्त्रों में उल्लेखनीय ये थे—प्राश, पट्टिश, पाश, तोमर, मुसल और क्षेपणी (ढेलवांस या गुलेल) ।

अस्त्रों में बाण (शर या नाराच) ही सबसे अधिक प्रयोग में लाये जाते थे । अमोघ बनाने के लिए उन्हें कभी-कभी मंत्रों से अभिषिक्त करके छोड़ा जाता था । ये मंत्र उनके 'प्रयोग' (छोड़ने) और 'संहार' (लौटाने) के गुप्त विधि-विधान रहे होंगे । बाण का 'प्रयोग' करते समय किसी मंत्र-विशेष का जप किया जाता, जिससे वह किसी विशिष्ट आकृति को ग्रहण कर ले या विशिष्ट का कार्य साधक बन जाय, तथा 'संहार' के समय निवारक मंत्र का जप किया जाता, जिससे अभिमंत्रित बाण में आई हुई शक्ति चली जाती और वह अपने पूर्व-रूप में आ जाता था । राम को विश्वामित्र से अनेक अस्त्रों के प्रयोग और संहार की शिक्षा मिली थी ।

बाणों में पंखों की पूंछ (पत्रयुक्त) लगी होती थी । कभी-कभी वे सुवर्ण-मंडित (रुक्मपुंख) भी होते थे । विष से पुते बाणों का भी प्रयोग प्रचलित था

(आशीविषोपमम्)। बाणों के नानाविध आकार-प्रकार होते थे। पी० सी० धर्मा[1] ने रामायण से इन-इन बाणों के नामों का संकलन किया है—अधोगति, अग्निदीप्त-मुख, अंजलिक, अर्धचंद्र, अर्धनाराच, आशीविषानन, आशुग, ईहामृगमुख, उल्कामुख, काकमुख, कंकमुख, कंकपत्रिन्, कर्णिन्, खरमुख, क्षुर, क्षुरप्र, कुक्कुटवक्त्र, ग्रहवक्त्र, गृध्रमुख, चंद्रवक्त्र, धूम्रकेतुमुख, नक्षत्रवक्त्र, नतपर्व, नाराच, नागमय, पंचास्य, प्रसन्नाग्र, भल्ल, मकरानन, मार्गण, रुक्मपुंख, लेलिहान, वराहमुख, वत्सदंत, विद्युज्जिह्व, विपाट, व्यादितास्य, व्याघ्रमुख, शल्य, शिलीमुख, सिंहमुख, श्रृंगालवदन, सूर्यमुख, श्वानवक्त्र तथा श्येनमुख।

बचाव के आयुध या जिरहबख्तर भी कई प्रकार थे, यथा वर्म या कवच, अभेद्य कवच, आर्षभ-चर्म, गोधा (धनुष के चिल्ले की चोट से बचने के लिए बाईं कलाई पर बांधने का चमड़ा), तनुत्राण, मर्मत्राण, अंगुलित्राण और शिरस्त्राण। घोड़ों की सुरक्षा के लिए 'उरश्छद' काम में लाया जाता था।

---

१. देखिए 'द रामायण पॉलिटी', पृ० ८४-५

संदर्भ-ग्रंथ

अनंत सदाशिव अलतेकर — 'पोज़ीशन आफ़ वीमेन इन हिंदू सिविलिज़ेशन', वाराणसी, १९३८;

'प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति', प्रयाग, १९४८

अवनींद्रनाथ ठाकुर — 'सम नोट्स ऑन इंडियन आर्टिस्टिक एनाटॉमी', कलकत्ता, १९१४

आनंदकुमार स्वामी — 'द डान्स आफ़ शिव', न्यूयार्क, १९२४

आशुतोष मुखर्जी रजत-जयंती ग्रंथ, ओरिएंटेलिया, भाग १, २, कलकत्ता, १९२२

ई० डब्ल्यू० हॉपकिंस — 'द ग्रेट एपिक आफ़ इंडिया', न्यूयार्क, १९०१

ए० ए० मैक्डानल — 'ए हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर', लंदन, १९००

एन० ए० गोरे — 'ए बिब्लिऑग्राफी आफ़ द रामायण', पूना १९४३

एम० विंटरनित्स — 'ए हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर', जिल्द १, कलकत्ता, १९२७

एस० वी० विश्वनाथ — 'इंटरनेशनल लॉ इन एन्श्यंट इंडिया', लंदन, १९४०;

'रेशियल सिंथेसिस आफ़ हिंदू कल्चर', लंदन, १९२८

एस० सी० सरकार — 'ऐज्यूकेशनल आइडियाज़ एंड इन्स्टीट्यूशंस इन एन्श्यंट इंडिया';

'सम ऐस्पैक्ट्स आफ़ दि अर्लिएस्ट सोशल हिस्ट्री आफ़ इंडिया'

'कल्याण' मासिक — 'रामायणांक' तथा 'संक्षिप्त वाल्मीकि-रामायणांक' वर्ष ५ और १८

कामिल बुल्के — 'राम-कथा', प्रयाग, १९५०

के० वी० रंगास्वामी आयंगर — अभिनंदन-ग्रंथ, मद्रास, १९४०

चंद्रशेखर पांडेय तथा शांतिकुमार नानूराम व्यास — 'संस्कृत-साहित्य क़ी रूपरेखा', कानपुर, १९५४

चिंतामणि विनायक वैद्य — 'द रिडिल आफ़ द रामायण', बंबई, १९०६

जे० एन० समद्दर — 'लेक्चर्स आन द ऐकानामिक कंडिशन्स इन एन्श्यंट इंडिया', क़लकत्ता, १९२२

जे० जे० मेयर — 'सेक्स्चुअल लाइफ इन एन्श्यंट इंडिया', लंदन, १९३०

जे० म्युग्रर 'ग्रोरिजिनल संस्कृत टेक्स्ट्स', भाग २, लंदन, १८७१
टी० परमशिव, ग्रय्यर 'रामायण एंड लंका', बंगलौर, १९४०
नंदलाल दे 'द ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ग्राफ़ एन्श्यंट एंड मिडीवल इंडिया', लंदन, १९२७
नरेंद्रनाथ लॉ 'स्टडीज़ इन इंडियन हिस्ट्री एंड कल्चर'
नवीनचंद्र दास 'ए नोट ग्रॉन द एन्श्यंट ज्योग्राफी ग्राफ़ एशिया कंपाइल्ड फ्रॉम वाल्मीकि रामायण', कलकत्ता, १८९६;
'ए नोट ग्रॉन दि एंटीक्विटी ग्राफ़ द रामायण', कलकत्ता, १८९९
पंढरीनाथ एच० वालावलकर 'हिंदू सोशल इन्स्टीट्यूशन्स', बंबई, १ ३९
पांडुरंग वामन काणे 'हिस्ट्री ग्राफ़ धर्मशास्त्र', जिल्द २, भाग १, पूना, १९४१
पी० सी० धर्मा 'द रामायण पॉलिटी', मद्रास, १९४१
बेनीप्रसाद 'द स्टेट इन एन्श्यंट इंडिया', इलाहाबाद, १९२८
भगवतशरण उपाध्याय 'कालिदास का भारत', बनारस, १९५४
भंडारकर ग्रोरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट 'ट्वेंटीफाइव ईयर्स ग्राफ़ ऐपिक एंड पुराणिक रिसर्च', पूना, १९४२
मन्मथनाथ दत्त वाल्मीकि-रामायण का ग्रंग्रेजी-भाषांतर, ३ भाग, कलकत्ता, १८८९-९१
महाराष्ट्रीय 'रामायण समालोचना', पूना, १९२७
रमेशचंद्र दत्त 'हिस्ट्री ग्राफ़ सिविलिज़ेशन इन एन्श्यंट इंडिया', लंदन, १८९३
रमेशचंद्र मजूमदार 'ग्राउटलाइन ग्राफ़ एन्श्यंट इंडियन हिस्ट्री एंड सिविलिज़ेशन', कलकत्ता, १९२७
राधाकुमुद मुखर्जी 'ए हिस्ट्री ग्राफ़ इंडियन शिपिंग एंड मैरीटाइम ऐक्टीविटी', लंदन, १९१२
वासुदेवशरण ग्रग्रवाल 'भारत की मौलिक एकता', इलाहाबाद, १९५४
वाल्मीकि 'रामायण', बंबई, १९१२-२०
शांतिकुमार नानूराम व्यास 'संक्षिप्त वाल्मीकि-रामायण', दिल्ली, १९५५

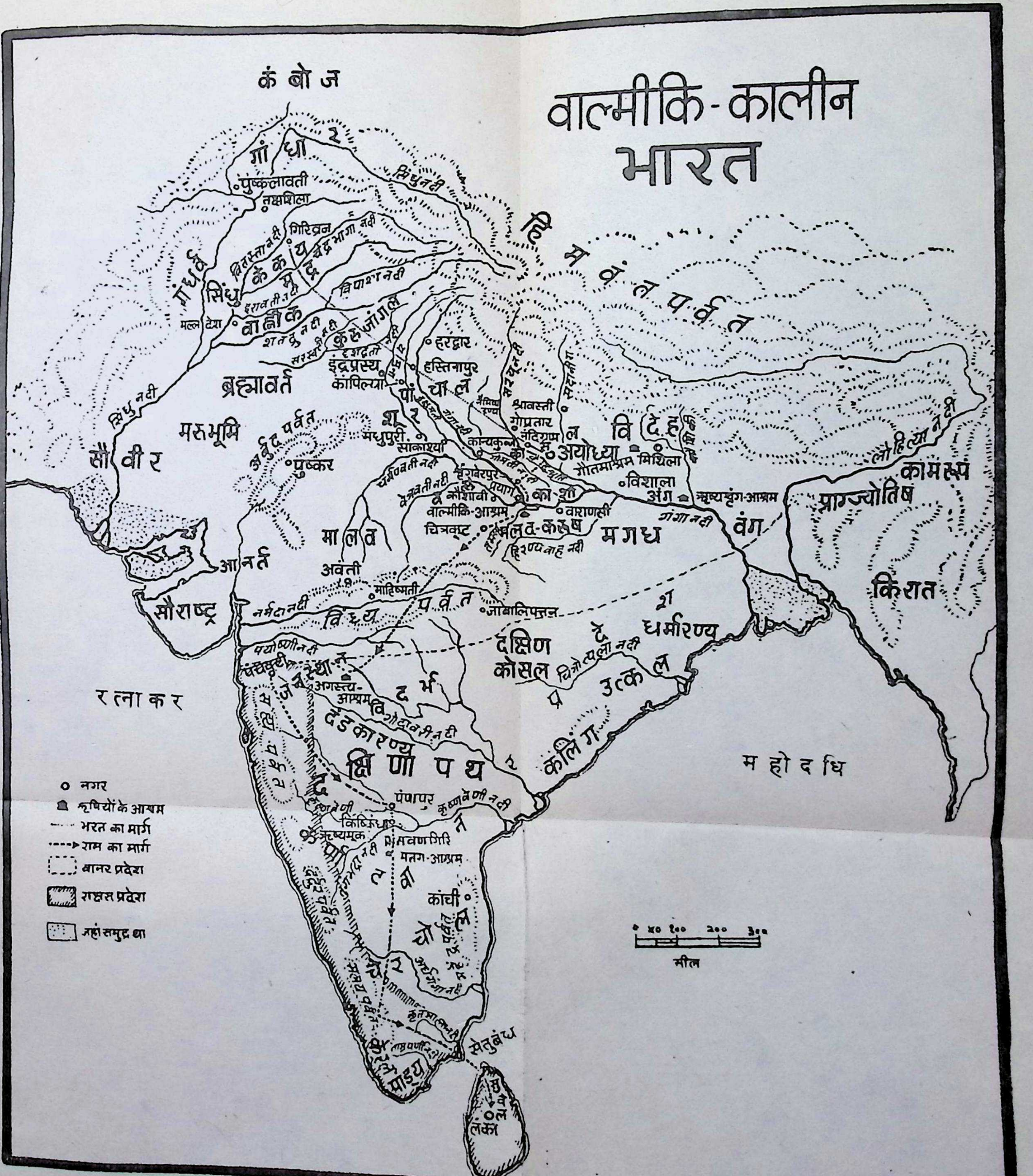
वाल्मीकि-कालीन भारत
कंबोज
गांधार
पुष्कलावती
तक्षशिला
गिरिव्रज
केकय
सिंधु
वाल्हीक
कुरुजांगल
हरद्वार
हस्तिनापुर
इंद्रप्रस्थ
कांपिल्या
पांचाल
ब्रह्मावर्त
मरुभूमि
सौवीर
अर्बुद पर्वत
पुष्कर
मधुपुरी
सांकाश्यी
कान्यकुब्ज
श्रावस्ती
गोप्रतार
नंदिग्राम
अयोध्या
विदेह
मिथिला
गौतमाश्रम
विशाला
अंग
ऋष्यशृंग-आश्रम
वंग
प्राग्ज्योतिष
कामरूप
लौहित्या नदी
किरात
हिमवत पर्वत
सिंधु नदी
विपाशा नदी
शतद्रु नदी
कौशांबी
प्रयाग
काशी
वाराणसी
वाल्मीकि-आश्रम
चित्रकूट
मलत-करूष
मगध
हिरण्यवाह नदी
गंगा नदी
मालव
अवंती
माहिष्मती
सौराष्ट्र
आनर्त
विंध्य पर्वत
नर्मदा नदी
जाबालिपत्तन
दक्षिण कोसल
धर्मारण्य
उत्कल
कलिंग
पयोष्णी नदी
अगस्त्य-आश्रम
विदर्भ
दंडकारण्य
गोदावरी नदी
दक्षिणापथ
रत्नाकर
महोदधि
पंपापुर
कृष्णावेणी नदी
किष्किंधा
ऋष्यमूक
प्रस्रवणगिरि
मतंग-आश्रम
कांची
चोल
सेतुबंध
लंका
पाण्ड्य
ताम्रपर्णी नदी
नगर
ऋषियों के आश्रम
भरत का मार्ग
राम का मार्ग
वानर प्रदेश
राक्षस प्रदेश
जहां समुद्र था
0 50 100 200 300
मील

[illegible]

परिशिष्ट

वाल्मीकि-कालीन स्थान-परिचय

अगस्त्य-आश्रम—नासिक से चौबीस मील दक्षिण-पूर्व ।

अर्धगंगा—कावेरी ।

अपर ताल—रामपुर के उत्तर में रामगंगा का तटवर्ती प्रदेश

अपर विदेह—रंगपुर और दीनाजपुर ।

अर्बुद—आबू पर्वत ।

अयोध्या—सरयू के दक्षिण तट पर स्थित ।

अंग—गंगा के उत्तर-दक्षिण भागलपुर का इलाका, जिसमें मुंगेर भी शामिल है ।

अवंती—मालवा की प्राचीन राजधानी ।

अंशुमती—यमुना नदी का एक प्राचीन नाम ।

आनर्त—उत्तरी गुजरात ।

इक्षुमती—फर्रुखाबाद जिले की इक्षुला या ईखन नदी ।

इंद्रप्रस्थ—दिल्ली ।

इरावती—रावी ।

इल्वल—ऐलौरा ।

उज्जिहान—उभानी, बदायूं ।

उत्कल—उड़ीसा ।

उत्तर कुरु—तिब्बत और पूर्वी तुर्किस्तान ।

उत्तरगा या उत्तानिका—रामगंगा नदी ।

उशीनीर—दक्षिणी अफगानिस्तान ।

ऋष्यमूक—बिलारी जिले में हंपी के उत्तर में स्थित पर्वत ।

ऋष्यशृंग आश्रम—भागलपुर जिले में माधीपुर तहसील में सिंहेश्वर ।

कंबोज—पामीर, बदख्शां ।

करूष—बघेलखंड ।

कर्णाट—दक्षिण भारत का एक प्रदेश, जिसमें आजकल बेलगांव, धारवाड, बीजापुर बिलारी आदि स्थित हैं ।

कर्मनाशा—बिहार के शाहाबाद जिले की पश्चिमी सीमा पर एक नदी ।

कलिंग—उड़ीसा से दक्षिण तथा द्रविड़ देश से उत्तर-पूर्वी घाट का एक प्रदेश ।

कांची—कांजीवरम् ।

कान्यकुब्ज—कन्नौज ।

कांपिल्य—कंपिल, फर्रुखाबाद ।

कामाश्रम—बलिया जिले में सरयू-गंगा के संगम पर । अब सरयू पूरब में हट गई है ।

कामरूप—असम ।

कारुपथ—सिन्धु नदी के पश्चिमी किनारे पर बन्नू जिले में स्थित कालाबाग या काराबाग। राम ने लक्ष्मण-पुत्र चंद्र केतु को यहां का राजा बनाया था ।

कालिंदी—यमुना नदी का एक प्राचीन नाम ।

काशी—वह जनपद, जिसकी राजधानी वाराणसी थी ।

किष्किधा—बिलारी जिले में, हंपी से चार मील दूर, तुंगभद्रा नदी पर स्थित वर्तमान अनागोंदी ।

किरात—भारत का पूर्वी सीमा-प्रदेश ।

कुरुजांगल—हस्तिनापुर के उत्तर-पश्चिम की ओर सरहिंद में ।

कुलिंद—सहारनपुर जिला ।

कुशावती—भड़ोंच से अड़तीस मील उत्तर-पूर्व । राम के पुत्र कुश द्वारा स्थापित ।

कूटिकोष्टिका—कौसिला नदी, रामगंगा की पूर्वी शाखा ।

कृष्णवेणी—कृष्णा और वेणा नदियों की संयुक्त धारा ।

कृतमाला—वैगा नदी, जिसपर मदुरा स्थित है ।

केकय—झेलम और चिनाव के मध्य का प्रदेश । आधुनिक शाहपुर-गुजरात ।

केरल—कनाडा, मलाबार, त्रावणकोर

कैलास—मानसरोवर से पच्चीस मील उत्तर ।

कोसल (उत्तर)—अवध ।

कौशांबी—प्रयाग से तीस मील पश्चिम यमुना के बायें किनारे पर स्थित कोसम नामक एक प्राचीन गांव ।

कौशिकी—कोसी नदी, गंगा की एक शाखा ।

गंधर्व—कुनार तथा सिंधु नदियों के बीच काबुल नदी के किनारे का प्रदेश ।

गांधार—तक्षशिला से काबुल तक का प्रदेश ।

गिरिव्रज—केकय राज्य की राजधानी। झेलम पर स्थित गिरिझक या जलालपुर । इसका नाम राजगृह भी था ।

गोकर्ण—गंगोत्री से दो मील आगे गोमुखी, जहां भगीरथ ने गंगा को भूतल पर लाने के लिए तप किया था ।

गोप्रतार—फैजाबाद में सरयू नदी पर स्थित गुप्तार । यहीं राम ने इह-लीला समाप्त की थी ।

गोमती—जिसपर लखनऊ स्थित है ।

गौतमाश्रम—तिरहुत में, जनकपुर से चौबीस मील दक्षिण-पश्चिम की ओर, जरैल परगने के अहियार

गांव का अहल्या-स्थान ।

चंद्रभागा—चिनाव ।

चंपा—भागलपुर ।

चर्मण्वती—चंबल ।

चित्रकूट—चित्रकूट स्टेशन के समीप कामतानाथ गिरि ।

चित्रोत्पला—महानदी ।

चेर—मलाबार का कुछ हिस्सा तथा कोयबट्टूर ।

चोल (द्रविड़)—कृष्णा और कावेरी नदियों के बीच का प्रदेश ।

जनस्थान—औरंगाबाद तथा कृष्णा और गोदावरी के बीच का प्रदेश ।

जाबालिपत्तन—जबलपुर ।

तक्षशिला—पूर्वी गांधार की राजधानी। रावलपिंड़ी जिले में तक्षिला गांव।

तमसा—इस नाम की दो नदियां रामायण से सूचित होती हैं। एक अयोध्या से दक्षिण सरयू और गोमती के बीच में बहती है, जिसका नाम वेदश्रुति भी है, तथा दूसरी गंगा के दक्षिण में टोंस, जिसके तट पर वाल्मीकि का आश्रम स्थित था।

ताम्रपर्णी—तिन्नेवेली जिले मे तांबरवारी नदी ।

दक्षिण कोसल—छत्तीसगढ़ ।

दक्षिणापथ—नर्मदा का दक्षिणवर्ती भारतीय प्रायद्वीप । मूल रूप से यह ऊपरी गोदावरी की आर्य-बस्तियों का सूचक था ।

दंडकारण्य—चित्रकूट से लेकर गोदावरी तक का वन-प्रदेश; डा० भंडारकर के अनुसार महाराष्ट्र ।

दर्दुर पर्वत—नीलगिरि ।

दशार्ण—भेलसा, वेत्रवती तथा बुंदेलखंड की अन्य छोटी नदियों का प्रदेश ।

दृशद्वती—सरस्वती और यमुना के बीच में कुरुक्षेत्र की चितांग नदी ।

धर्मारण्य—कृतयुग में उत्कल में आर्यों का अधिनिवेश (राम से पूर्व) ।

नलिनी—बंगाल की पद्मा नदी । इसे ब्रह्मपुत्र नदी भी माना जाता है ।

नंदिग्राम—अयोध्या से एक कोस । आधुनिक नंदगांव । फैजाबाद से आठ-नौ मील दक्षिण ।

नैमिषारण्य—गोमती नदी पर स्थित । आधुनिक निमसर, लखनऊ से पैंतालीस मील उत्तर-पश्चिम ।

पंचवटी—नासिक ।

पयोष्णी—ताप्ती ।

पर्णाशा—बनास ।

पंपासर—तुंगभद्रा की एक सहायक नदी, जो ऋष्यमूक पर्वत से निकलती है ।

पंचाल—रुहेलखंड ।

पांड्य—तिनेवेल्ली और मदुरा जिले ।

पुष्कलावती—स्वात और काबुल

नदियों के संगम पर स्थित, वर्तमान चारसद्दा ।

प्रलंब—पश्चिमी रुहेलखंड में, बिजनौर से आठ मील उत्तर मुंदावर या मुंदोरा ।

प्रस्रवण पर्वत—तुंगभद्रा नदी-वर्ती एक पर्वत-माला ।

प्राग्ज्योतिष—कामरूप की राजधानी, आधुनिक गोहाटी ।

बाल्हीक—बल्ख ।

ब्रह्मावर्त—सरस्वती और दृशद्वती के बीच की भूमि ।

मगध—दक्षिणी बिहार ।

मतंग-आश्रम—बिलारी जिले में पंपा के पास ।

मतंग-वन—पंपा के पश्चिमी तीर पर ।

मत्स्य—अलवर, भरतपुर ।

मद्र-चिनाब के पूर्व में उत्तरी पंजाब का एक जनपद ।

मधुपुरी—मथुरा ।

मध्यप्रदेश—सरस्वती, हिमालय, प्रयाग और विंध्य के मध्य का देश ।

मधुमंत—दंडकारण्य में स्थित ।

मंदाकिनी—चित्रकूटा या पयस्विनी नदी, जो ऋष्यवान् पर्वत से निकलकर चित्रकूट में बहती हुई यमुना में जा मिलती है ।

मलद—गंगा के पूर्वी किनारे का जनपद, जो अब मालदा कहलाता है ।

मलय गिरि—पश्चिमी घाट का दक्षिणी भाग ।

मल्ल देश—मुलतान जिला ।

महेंद्र पर्वत—पूर्वी घाट में गंजाम जिले में ।

महोदधि—बंगाल की खाड़ी ।

मागधी—सोन नदी ।

माल्यवान् पर्वत—किष्किधा के पास । प्रस्रवण-पर्वतमाला का एक शिखर ।

मालिनी—प्रलंब और अपरताल नामक प्राचीन जिलों के बीच बहनेवाली चुक (शुक) नदी, जो अयोध्या से पचास मील उत्तर सरयू में गिरती है ।

माहिष्मती—नर्मदा-स्थित महेश्वर । इंदौर से चालीस मील दक्षिण ।

मिथिला—विदेह में जनकपुर से दक्षिण एक नगर ।

मैनाक—लंका और भारत के मध्यवर्ती समुद्र में स्थित एक पर्वत ।

यवद्वीप—जावा ।

रत्नाकर—अरब सागर ।

रसातल—पश्चिमी तारतार ।

राजगृह—केकय देश की राजधानी गिरिव्रज का दूसरा नाम । बौद्ध काल में यह नाम मगध की प्राचीन राजधानी का था ।

रामगिरि—नागपुर से चौबीस मील

उत्तर में रामटेक, जहां राम ने शंबूक-वध किया था।

लंका—परंपरानुसार वर्तमान श्रीलंका (सीलोन)। कुछ विद्वानों के अनुसार पूर्वी मध्य प्रदेश, मैडगास्कर, अरब सागर के मलय द्वीप या आस्ट्रेलिया।

लवपुर—लाहौर। राम-पुत्र लव द्वारा स्थापित।

लोहित्या—ब्रह्मपुत्र।

वत्स—प्रयाग से पश्चिम का प्रदेश, जिसकी राजधानी कौशांबी थी।

वाराणसी—बनारस।

वाल्मीकि-आश्रम—गंगा के दक्षिण में, तमसा नदी पर स्थित, प्रयाग से दस कोस। प्रयाग से चित्रकूट जाते समय राम यहां आये थे। किंतु उत्तरकांड के अनुसार यह गंगा पर कानपुर से चौदह मील आधुनिक बिठूर है।

वितस्ता—झेलम।

विदर्भ—बरार।

विदिशा—भेलसा।

विदेह—तिरहुत।

विपाशा—व्यास नदी।

विशाला—मुजफ्फरपुर (बिहार) जिले में वेसाड़। रामायण के समय में यह गंगा के उत्तरी किनारे पर स्थित थी। यही बौद्ध काल की वैशाली थी।

विश्वामित्र-आश्रम—बक्सर का चरित्र-वन।

वेत्रवती—बेतवा।

वेदश्रुति—कोसल जनपद में सरयू के दक्षिण में सबसे पहले मिलनेवाली एक छोटी नदी, जिसे राम ने अपनी वनवास-यात्रा में पार किया था। इसका वर्तमान नाम तानसा या तमसा है।

वंग—बंगाल।

शतद्रु या शुतुद्रि—सतलज।

शाल्मली—चंद्रभागा की सहायक नदी।

शूर—मथुरा के आसपास का प्रदेश।

शृंगवेरपुर—सिंगरौर, प्रयाग से अठारह मील वायव्य दिशा में गंगा-तट पर स्थित।

श्रावस्ती—राप्ती पर स्थित सहेत-महेत।

सदानीरा—राप्ती।

सरयू—घाघरा।

सरस्वती—घग्घर।

सह्य—सह्याद्रि, पश्चिमी घाट।

सांकाश्या—फर्रुखाबाद जिले में फतेहगढ़ के पश्चिम की ओर तेईस मील इक्षुमती नदी पर कपित्थ नाम से प्रसिद्ध।

सिद्धाश्रम—शाहाबाद जिले में बक्सर का पश्चिमी भाग।

सिंधु—उत्तरी सिंधु नदी का देश।

सुतीक्ष्ण-आश्रम—मंदाकिनी के उद्‌गम के पास, बुंदेलखंड की भूतपूर्व पन्ना रियासत में।

सुवर्ण द्वीप—सुमात्रा।

सौराष्ट्र—काठियावाड़।

स्यंदिका—गोमती और गंगा के बीच कोसल की दक्षिणी सीमा पर बहनेवाली सई नदी।

सौवीर—उत्तरी सिंध।

हस्तिनापुर—दिल्ली और मेरठ से उत्तर-पूर्व में गंगा पर स्थित।

हिरण्यवाह—सोन नदी।

ह्लादिनी—केकय और शतद्रु के बीच की कोई नदी, जिसे भरत ने अयोध्या लौटते समय पार किया था।

त्रिकूट—दक्षिणी-पूर्वी लंका का एक पर्वत।

अनुक्रमणिका

अगस्त्य का दक्षिण-अभियान २८
अजाविक २२७
अतिकाय की शिक्षा ४०
अनिप्रणय और अप्रणय १४३
अध्यात्म-रामायण ५
अनुराग, दर्शन-जन्य १४१, पारस्परिक १४१-४२
अनुलोम विवाह १०८-०९
अनृत २१२
अंतःपुर १२४-२७, १८१-८२, २०५
अंतर्वर्ती काल २५१
अपराधों के प्रकार २८०
अपहरण, स्त्रियों का १९५
अप्सराएं २०-२२
अभियान, सामरिक २९२-९५
अमरावती २४२
अमात्य (सचिव) २७१-७६
अय्यर, टी० परमशिव ९, २३५
अरजा १०९, १४४, १९७-९८
अरत्नि २३५
अराजक राज्य २१०
अर्थ का तात्पर्य २१०,—का महत्त्व २१०-११
अलबर्ट, चार्ल्स ८
अलंकृत नारी, प्रणय का अन्वयर्थ उद्दीपन १३८
अश्वतरी (खच्चर) २२४
असती स्त्रियां २०६-०७
असुर २०
अस्पृश्य ८७
अहल्या का परित्याग १५५-५६
आकाश-युद्ध ४५, २४६
आंध्र २३
आर्थिक जीवन २०९-४८, —का आधार २०९,—समृद्धि २४७—४८
आर्य-अनार्य १४-२२, विवाह-सबंध ३७
आर्ष विवाह ११७
आर्षभ चर्म २२७
आसुर विवाह ११७
आश्रम ९१-९६, —और वर्ण ९४-९६
ईर्ष्या, स्त्रियों में २०५-६
उत्सुकता, नारी में २०१
उद्यान, प्रणय की रंगस्थलियां १३७-३८
उद्योग-धंवे २२५-३१
उपनयन-संस्कार ९१
उपाध्याय, बलदेव ९३
ऊंट २२४, २४३
ऋग्वेद ७३, २२०
ऋतु-काल १४३, १६६
ऋषि-पत्नियां १४०-४१
ऋष्यशृंग १३७
एकपत्नी-व्रत १२८-२९
औजार, खेती के २१९-२०
और्ध्वदैहिक क्रिया में पत्नी का योग १६७
कन्या १४६-५१, पति-वरण में स्वतंत्र नहीं १०९, विवाह के समय आयु

१११-१३, विवाह-योग्य कन्या के लिए चिंता १४६-४७, —का परित्याग १४७-४८,—के प्रति उदार व्यवहार १४८, —का विवाहित जीवन सुखी बनाने की चिंता १४८-४६, —की मांगलिकता १४६, —की शिक्षा १४६-५१, क्रीड़ा १५०-५१
कन्या-धन ११८-१६, १६५
करंदीकर, विष्णु २१८
कर्मांतिक २३५
कस्तूरी २२७
काणे, पां० वा० ६५
काम का प्रभाव १३२-३४, —का अव्यर्थ उद्दीपन, नारी १३८
काम-सबंध, धर्म-संगत १४२-४३
काम-सेवन का समय १४२-४३
कारागृह २८१
कालागुरु २२८
कालिदास ६
किन्नर २०-२१
किष्किंधा ५६, गुफा में स्थिति ५६-५७, —का वैभव ६१
कीथ ८
कुटीर-उद्योग २२५-२८
कुत्ते २२४
कुथा (ऊनी कालीन) २२७
कुंभकर्ण का राजनीतिक ज्ञान ४४
कुल-पुत्र २८४-८५
कृत्तिवासीय रामायण ५
कृषि २१०-२०, आजीविका का सामान्य साधन २११-१२, राजकीय संरक्षण २१२, —की समृद्धि २१२-१३,—की उन्नत स्थिति २२०
केरल २३
केरी, विलियम ७
कैकेयी का परित्याग १५६-५७
कैकेयी की माता का परित्याग १५६
कौटिल्य ६
कोसल, दो १३१-३३, आर्थिक समृद्धि २४७, क्षेत्रफल २४६
कौसल्या, दशरथ की बहन? १३१-३२, आदर्श नारी १६३-६४
खजूर २२७
खनिज २२८-३०
गण २३६
गणतंत्र का अभाव २४६
गधे २२४, २४३
गंधर्व २०-२१
गर्भ-पात १७३
गर्भवती १७२-७३
गांधर्व विवाह ११७
ग्रामणी २८२
गुप्तचर २८१-८२, २८६-६०, राक्षसों में—४५, वानरों में—५८
गृध्र १७-१८
गृहस्थाश्रम ६१–६३, १४२
गैरिक २२८
गोजिन २२७
गो-पालन २१०, २२१-२२
गोरेशियो ८, ७२
गोलांगूल ५७
गो-वत्स-प्रेम (मातृ-प्रेम का प्रतीक) १७४
गो-संवर्धन २२२
गौ, विनिमय का माध्यम २३३
घोड़े २२३-२४
घोष, नगेंद्रनाथ १३
घोष, पशु-प्रधान गांव २२१

चपलता, स्त्रियों में २०४-०५
चर्म-उद्योग २२६-२७
चांडाल ८७-८८
चामर-व्यजन (व्याल-व्यजन) २२७
चारण २०-२१
चेर १६
चोल २३
जल-मार्ग २४४-४६
जातक ८
जाति-परिवर्तन ८७-९०
जांबूनद २२८, (सिक्के) २३४
जिरहबख्तर २९९
तक्कोल २२७
तपस्या, राक्षसों में ३७-३८
तमाल २२७
तलवार २९७-९८
तारा की प्रतिभा ६८-६९
तीर्थ (शासनाधिकारी) २७६
दक्षिण-रूप में स्त्री १९०
दंड (डंडा) २३४
दंड (न्याय) ८४
दंडनीति २१०
दशरथ की कैकेयी के प्रति प्रगाढ़ प्रीति १३७, —की कामपरायणता १४३, —की सभा २६३-६७
दहेज-प्रथा ११८
दांव-पेंच (कुश्ती के) २९६-९७
दांपत्य प्रणय में पुरुष की अगवानी १३४-३५,—में शारीरिक आकर्षण १३५-३६, राम-सीता का— १४०-४१, —की चरम परिणति १४२-४३
दास, अविनाशचंद्र १७
दास, नवीनचंद्र ३४, ५१
दीक्षितार, वी० आर० रामचंद्र १९, २३, ५०
दुर्ग २८३-८४
दुर्भिक्ष २१५-१७
दूत २८९-९०
देव २०
द्रोण २३४, द्रोणाचार्य ७७
द्विज ७५, ९१, —के सामान्य कर्तव्य-कर्म ७५
द्विवेदी, हजारीप्रसाद १२
धर्म, अर्थ, काम में श्रेष्ठ कौन १४५
धर्म-रति १४२
धर्मा, पी० सी० २, २७४, २९९
धातुएं २२८-२९
धान्यकोश २२८-२९
नकाब ४४-४५
नख और दांत (आयुध) २९५
नर-मांस-भक्षण १५, ३४-३५, ४८
नर-रक्त-पान ३५
नल-सेतु का निर्माण २४१
नवजात शिशु की रक्षा १७३
नाग १६, १८-१९
नारिकेल २२७
नारी, काम का उद्दीपन १३८, —घर में १४६-१८३, —कन्या-रूप में १४६-५१, पत्नी-रूप में १५१-७०, माता-रूप में १७०-७५, विधवा-रूप में १७६-७९, पर्दा में १७९-८२, वेश्या-रूप में १८२-८३, —समाज में १८४-२०९, —स्वातंत्र्य १८४-८८, इंद्रियार्थ १९१, संपत्ति-रूप में १८९-९२, —के प्रति शिष्टाचार १९२-९६, अपहृत नारियां १९६-

२००, —के प्रति कटूक्तियां २०१-०८
नारी और नागिन २०७
नारी-सौंदर्य का आदर्श १५७-६१
नावें २४४-४६
निकुंभिला ३६
निर्यास २२७
निषाद १६-१७
निष्क २३४
नैगम २३८-३६
नौ-सेना २४५-४६
न्याय-व्यवस्था, २७७-८०, —के सिद्धांत २७७-७८
न्यायाधीश २७८-७६
पतंजलि ६
पति का देवत्व १५२
पति-पत्नी की आयु में अंतर ११२-१३ —के पारस्परिक संबंधों का आदर्श १२३-२४, की अनुरूपता १४१, —का धार्मिक क्रियाओं में सहयोग १६६
पतिव्रता की प्रशंसा १५३-५४
पत्नी १५१-७१ नव-विवाहिता १५१
पुरुष-सौंदर्य के लक्षण ११४-१६
पुरुषों की उद्दाम वासना १३४-३५
पुलिस २८०
पुत्रवधू १५१
पैतृक स्नेह १०४
पैशाच विवाह ११७-१८
प्रतिलोम-विवाह १०६
प्रतीकवाद (टोटेमिज्म) १७-१८
प्रविभाग २३४
प्रशासन २४८-८२
प्राजापत्य विवाह ११६-१७
प्रेम १३२-४२, —में काम-चेतना १३५-३६, क्रीड़ाओं में स्त्रियों की रुचि १३२-३४, —से उद्भूत काव्य-कल्पनाएं १३६, —का आदर्श १४०-४५
प्रोषितभर्तृका १६२
फलोद्योग २२०
फ्रेजर, जान ५१
बलिषड्भाग ८४, २११, २४८
बहुपति-प्रथा १२६
बहु-पत्नी-प्रथा १२४-२८, १८६-६१
बाण २६८-६६
बुल्के, कामिल ६
बेंत-उद्योग २२८
ब्रह्मचर्याश्रम ६१-६२
ब्रह्मराक्षस ३६, ५२
ब्राह्मण ७५-८६, ८८–६०, के कर्तव्य-कर्म ७५, —की जीविका के साधन ७६-७७, —की पांच प्रकार के ब्राह्मण ७७-७८ —का विशेषाधिकार ७८-८२, —की लोकप्रियता का रहस्य ८२-८३, क्षत्रियों से संबंध ८४-८६
ब्राह्म विवाह ११६, —रथ ८१
भगवद्दत्त ८
भागवत १४६
भास ६
भूमि के चार भाग २१८
मजूमदार, रमेशचंद्र १७
मदिरा का सेवन, राक्षसों में ३५, वानरों में ५६, प्रणय-क्रीड़ाओं में १३७-३८
मधु २२७
मनःशिला २२८

मनुष्य का पूर्णत्व १६४
मंत्रिजन (गुरुजन) २७१-७२
मंत्रि-परिषद् २७१-७६
मरीच २१३,२२७
मलद-करूष २१३
मल्ल-युद्ध २६५-६७
महानारियां १४६
महाभारत ५, ६-१५, २३, ७७, ८०, १४६
माता १७०-७५, —का गौरव १७०, पथभ्रष्ट माता के पुत्र १७२, गर्भवती १७२-७३, संतान के व्यक्तित्व-निर्माण में माता का योग १७३-७४, — के प्रति स्नेह १७५ — के लिए पति या पुत्र, कौन अधिक स्नेह-पात्र १७५
माप-तोल २३४-३५
मार्शमैन, जोशुआ ७
मुष्टिक ८७
मृग-चर्म २२६-२७
मेयर, जे० जे० १७७
मैक्डानल ८
मोदी, पी० एम० ६१
मोनियर विलियम्स ८
म्युअर, जे० १६, ५७
यक्ष १६, १८
यज्ञ-याग, राक्षसों में ३८, —में पत्नी का योग १६७-६८, १८५-८६
याकोबी ८, ६
यातनाएं २८१
यातायात २३६-४६
यान २४२
युद्ध २८३-६६,—के कारण २८८-८६
योजन २३५
यौन इच्छा १०४
यौन संबंध, एक स्वाभाविक कृत्य १२७ —समागम, एक उदात्त कर्तव्य १४२
रजत (सिक्के) २३४
रथ २४२-४३
ब्राह्म—८१
रस-विद्या २२६
राजा, आमदनी और खर्च २११, २४७-४८, कुल-परंपरागत २४६-५० मनुष्य-रूप में देवता २५२-५३, आदर्श २५३-५४, — के कर्तव्य २५४-५६, — का दैनिक कार्यक्रम २५५-५६, —को मर्यादा में रखने-वाले कारण २५६
राज्यतंत्र, मर्यादित २४६-५०
राज्याधिकार हस्तगत करने के तीन उपाय २५१
राज्याभिषेक २५६-६१,—में पत्नी का योग १६७
राम का विष्णुत्व ६-७, चातुर्वर्ण्य के रक्षक ६१, —के जीवन का सिद्धांत ६५, पारिवारिक प्रभाव १०६-०७,—सीता-विवाह ११६-२३, —की पत्नी, एक या अनेक ? १२८-२६, —सीता के दांपत्य प्रेम की अलौकिकता १४०, एक समाज-सुधारक १८१-८२, —का वनवास से लौटने पर स्वागत १८५, —द्वारा भरत को राजनीति का उपदेश २५७-५६
रामदास, जी० ७१
राम-राज्य २१३, २६१, २७८
रामलभाया ८

रामायण का समाजशास्त्रीय महत्त्व १-४, —के कर्त्ता ४-७, —के प्रति रूढ़िवादी दृष्टिकोण १, —के टीकाकार १-२, —का रचना-काल ८-१०, —में प्रक्षेप ७, पाठ और संस्करण ७-८, समीक्षित (क्रिटिकल) संस्करण ८, —और उपनिषदों का समय १०, —और महाभारत १०-१५, —एक ब्राह्मण-प्रधान कृति ८१, —में नारी-पात्र **१४६**
राय, मन्मथनाथ ७२
रावण का साम्राज्यवादी अभियान २५-२८, —और वाली की मुठभेड़ २७, —की आकृति ३१-३४, वेदविद्या-व्रतस्नातक ३९, वैदिक विद्वान् ३९-४०, संस्कृत-भाषी ४०, —की राज्य-सभा ४०-४१, २७२-७५, —का राजप्रासाद ४१-४२, —का शयन-कक्ष ४२-४३,—की लंपटता ४८, —का रनवास १३४, —का सुग्रीव से मल्ल-युद्ध २९५-९७
राक्षस १५-१६, १८-२०, २३-५१,तीन शाखाएं २४, उत्पत्ति और विस्तार २४-२६, आर्यों से संघर्ष २७-२९, रूप-रंग २९-३४, खान-पान ३४-३५, शिष्टाचार ३५, शव-संस्कार ३५-३६, विवाह-विधि ३६-३७, धार्मिक कृत्य ३७-३८, शिक्षा ३८-४१, वैदिक अध्ययन ३८-४०, भौतिक समृद्धि ४१-४३, निवास-स्थान ४३-४४, राजनीतिज्ञता ४३-४४, धोखेधड़ी का प्रयोग ४४-४५, सैन्य-व्यवस्था ४५-४६, हिंसा-वृत्ति ४६-४७, यज्ञ-विध्वंस ४७, स्त्रियों पर बलात्कार ४७-४८, —और नर ४८-४९, पहचान ४९-५१
लंका ४१, सुवर्णमयी ४३, —पर अभियान २९२-९५
लॉ, नरेंद्रनाथ २१०
लोकापवाद १९८-२००
वधू की योग्यता ११३-१४
वनस्पति-विद्या २२१
वनों से आर्थिक लाभ २२७-२८
वंद्योपाध्याय, अक्षयकुमार २५४
वंध्या १७०-७१
वर की योग्यता ११३-१६
वर-वधू में विवाह से पूर्व परिचय १०७-१०८—की विवाह के समय आयु १११-१२, —की योग्यता ११३-१६
वर्ण-व्यवस्था ७३-९६, उत्पत्ति ७४, राजकीय स्वीकृति ८९-९०, —और आश्रम-व्यवस्था ९६-९७
वस्त्रोद्योग २३०-३१
वानप्रस्थाश्रम ९१, ९३-९४
वानर १५-१६, ५२-७३, शारीरिक विशेषताएं ५२-५३, मानसिक लक्षण ५३-५६, घनी आबादी ५६-५७ समाज-व्यवस्था ५७-५८, राज-नीतिक संगठन ५८-५९, आहार ५९, वेश-भूषा ५९-६०, रीति-रिवाज ६०-६१, यौन-संबंध ६१-६३, नैतिक आदर्श ६३-६४, धर्म-कर्म ६४-६५, शिक्षा ६५-६९, यात्रा के शौकीन ६७-६८, मनुष्य या बंदर ६९-७२, पहचान ७२-७३
वार्ता २१०
वाली-सुग्रीव का वैवाहिक जीवन ६२-६३

वाल्मीकि का जीवन-वृत्त ४-६, —का दृष्टिकोण ६-७
विधवा १७६-७९, —का पुनर्विवाह १७७-७८, स्नेह-संमान की पात्र १७८-७९, अमांगलिक नहीं १७९
वालावलकर, पंढरीनाथ एच० ९५
विवाह १०८-३२, राक्षसों में ३६-३७, वानरों में ६३, —का महत्त्व १०७-०८ —संबंध का क्षेत्र १०७-०८ अंतर्जातीय—१०८, अनुलोम और प्रतिलोम १०८-०९, —के समय वर-वधू की आयु १११-१२, —के छः प्रकार ११६-१८, उनका कन्या की स्थिति पर प्रभाव ११८, —प्रणाली ११९-२४, —संबंधों में कटुता के उदाहरण १२४, सुखी—१४०-४१, —की सफलता १४२, —की परिधि का उल्लंघन १७१-७२
विंटरनित्स ९
विनिमय २३३
विश्वनाथ, एस० वी० १८
विश्वबंधु ८
विश्वामित्र का जाति-परिवर्तन ८७-९०
विष्टि २३५
वृक्ष ५७
वेंकटरमन, टी० के० ५०
वेद १५, २०९
वैद्य, चिं० वि० ९, २३, २५, ३४,४३, ४६, ७२, २४६
वेश्याएं १३७, १८२-८३
वैश्य ८५-८६
व्यक्तिगत अधिकारों की सुरक्षा ९५-९६
व्यभिचार १४२-४३
व्यापार २०९-१०, २३१-३३, आंतरिक २३१, वैदेशिक २३२, समुद्री २३२-३३, विनिमय २३३
व्याम २३५
व्यूह २९४
शकट २४४
शक्ति २९८
शतघ्नी २९८
शबर १६, १८
शस्त्रास्त्र २९७-९९
शासन-तंत्र के तीन अंग २६२
शासन-प्रबंध, आदर्श २६१-६२
शास्त्री, के० एस० रामस्वामी ५०, ७२
शास्त्री, श्रीनिवास २
शिविका २४३-४४
शिला २२८
शिल्पी २३५
शिष्टाचार, स्त्रियों के प्रति १९२-९६ सैनिक—२८४-८५
शूद्र ८६
शैलूष १६४, १९४
श्रमिक २३५-३९
श्रेणी २३९
श्लीगल ७
सड़कें (स्थल-मार्ग) २३९-४२
सती-प्रथा १७६
सतीत्व की रक्षा १५४-५५
संतानोत्पत्ति, दांपत्य प्रेम की चरम परिणति १४२
संतान के व्यक्तित्व-निर्माण में माता का योग १७३-७४
संन्यासाश्रम ९१, ९४
सभा (लोक-सभा, परिषद्) २६२-७१, —के सदस्य २६२-६३, —का

परामर्श २६३, दशरथ की—२६३-६७, —भवन २६४, —का अध्यक्ष २६४, —का शिष्टाचार २६४-६५, सभासदों के कर्तव्य २६५, कार्यप्रणाली २६५-६७, रावण की — २६७-७१
समद्दर, जे० एन० १२
सयोधश्रेणी २३९
सर्वोच्च न्यायालय २७८-७९
सामंत राजा २४८-५०
साम्राज्य, एकच्छत्र, का अभाव २४८-४९
सारथि २४२-४३
सावरकर, वि० दा० ७१
सास-ससुर १५२, १६३
सिक्के २३३-३४
सिंचाई २१५-१६
सिद्ध २०-२१
सीता का स्वयंवर १०९-१०, विवाह के समय आयु १११-१२, राम-लक्ष्मण की सयुक्त पत्नी ? १३०-३१, राम की बहन ? १३१-३२, परित्यक्ता कन्या ? १४७-४८, —का पातिव्रत्य-संबंधी दृष्टिकोण १५३, —का परित्याग १५६, —का आश्रम-पर्यटन १८६-८७, —का अपहरण और प्रत्याख्यान १९८-२००
सुपर्ण १७
सुलक्षणा स्त्री ११४
सूडानी ५१
सेन, दिनेशचंद्र ७१
सेना, चार भाग २८४, —के पड़ाव २९१-९३, वानरी—२९२-९३
सेनापति २८४
सैनिक, आदर्श २८४, वेतन और भत्ता २८५, रीति-रिवाज २८६, अनुशासन २८६-८७, शिष्टाचार २८७-२८८
सैन्य-विभाग २८३
सैन्य-संग्रह २९०-९१, शांतिकाल में २९१-९२, युद्ध-काल में २९२
स्फटिक (सिक्के) २३४
स्नातक ९२, तीन प्रकार के—९२
स्नान करानेवाली स्त्रियां १९०
स्त्रियों का उपहार ८९
स्त्री-धन ११८-१९, १२७, १६५
स्त्री-धर्म १५३-५३
स्त्री-वध १९५-९६
स्वयंवर १०९-११०
स्वस्त्ययन, राक्षसों में ३७, वानरों में ६४-६५
स्वायत्त शासन २८२
हनुमान् की शिक्षा-दीक्षा ६५-६७
हरिगण ५७, तीन शाखाएं ५७
हवाई यातायात २४६
हाथी २२४-२५
हाथी-दांत २२६
हॉपकिंस २४७-४८
हिंसाएं २१९
व्हीलर ७२
क्षत्रिय ८३-८६
त्रिपिटक ८
त्रिया-हठ २०१
त्रिशंकु ७५-७६, ८५, ८७-८८

डा० डिल्ली प्रसाद रेगमी
कल्याणी रेग्मी ... पुस्तकालय
8255

২৫৪.৭৫২২
মো। ররহ২১

अभिमत

वाल्मीकि की सर्वाधिक उदात्त रचना में वर्णित अर्थ-गांभीर्य से सामाजिक तत्त्वों को सरल भाषा में समझाकर साधारण जनता के लिए इस पुस्तक में सुलभ कर दिया गया है।

—दैनिक हिन्दुस्तान

रामायण-काल के समाज पर इतना सुन्दर और प्रामाणिक ग्रंथ हिंदी में अब तक किसी ने नहीं लिखा था। सभी अध्ययनशील और प्राचीन इतिहास में रुचि रखनेवाले लोगों को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए।

—सरस्वती

विद्वान लेखक ने अपने वाल्मीकि रामायण-सम्बन्धी गहन अध्ययन की जो सामग्री इस पुस्तक में दी है, वह अपने प्रस्तुत करने के ढंग में ही अनूठी और खोजपूर्ण ही नहीं, संभवतः, कई प्रसंगों पर प्रकाश डालनेवाली यह प्रथम रचना भी है।

—सम्मेलन पत्रिका

'मंडल' का आध्यात्मिक साहित्य

१. अनासक्तियोग
२. गीता-बोध
३. ईशावास्यवृत्ति
४. स्थितप्रज्ञ-दर्शन
५. महाभारत-कथा
६. भारत सावित्री
७. रामायण-कालीन समाज
८. रामायण-कालीन संस्कृति
९. आत्मोपदेश
१०. तामिलवेद
११. भागवद्धर्म
१२. भागवत-कथा
१३, मनन
१४. बुद्धवाणी
१५. आत्मरहस्य
१६. बोधिवृक्ष की छाया में
१७. मानव और धर्म

सस्ता साहित्य मण्डल

छः रुपये